श्रीविज्ञानभिक्षु कृत

योगसारसंग्रहः

"रजनी" विशद हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

डॉ० सुधांशु कुमार षड़ङ्गी

अध्यक्ष

दर्शन विभाग

हिमाचल आदर्श संस्कृत महाविद्यालय

जाङ्गला, रोहड़ू, शिमला, हि०प्र०

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

प्रथम संस्करण : 2010

मूल्य : 100/- रु.

प्रकाशक : भारतीय विद्या प्रकाशन
5824, न्यू चन्द्रावल, (नजदीक शिव मन्दिर)
दिल्ली-110007.
दूरभाष : (011)-23851570, 23850944
मोब. : 09810910450

ब्रांच ऑफिस : पोस्ट बॉक्स 1108, नेपाली खपड़ा,
वाराणसी-221001
दूरभाष : (0542) 2392376
Email : bvpbooks@gmail.com

कम्प्यूटरकृत : ट्विंकल ग्राफिक्स, दिल्ली-88.

मुद्रक : आर.के. ऑफसेट, दिल्ली

समर्पणम्

अरूपं रूपराजितं शून्याश्रमे विराजितम्।
ज्ञानकल्पतरुं वन्दे गुरुमरूपरूपिणम्।।
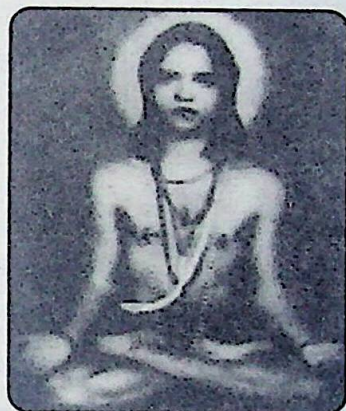
प्रस्तुत पुस्तक
पूज्य गुरुदेव
डॉ० स्वामी अरूपानन्द दास जी
के
चरण कमल में सादर समर्पित
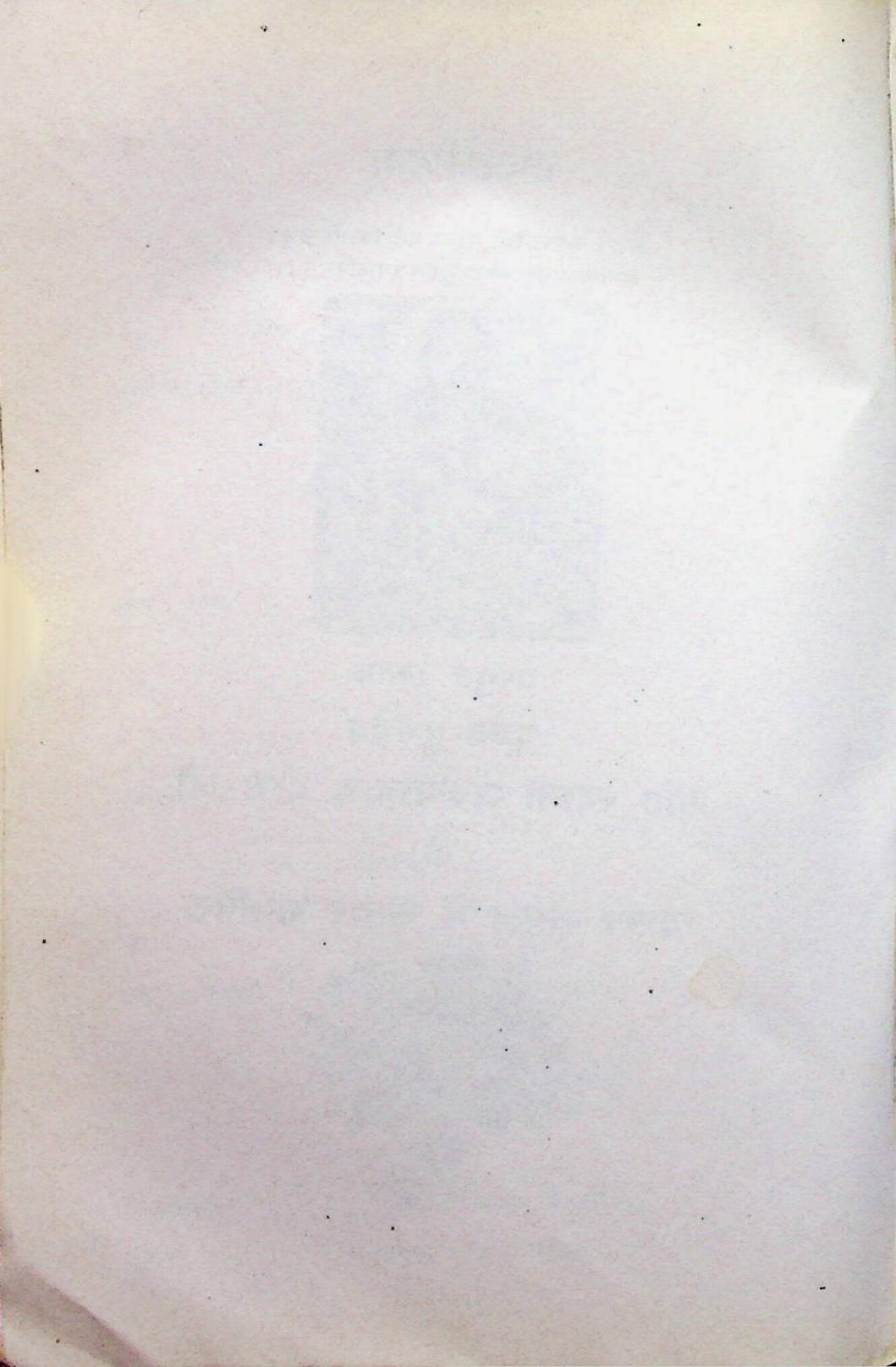
Dr. Swami Arupananda

Ph.D., D.Sc.

N-6/23, IRC Village, Nayapalli

Bhubaneswar-751015

Ref. No. ____________ *Date 15-11-2009*

Blessings

"योगसारसंग्रह" ग्रन्थ श्रीविज्ञानभिक्षु द्वारा संस्कृत में विरचित है और मेरे आश्रित डॉ0 सुधांशु कुमार षढ़ङ्गी ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है, ये जानकर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई है।

भारतीय आर्ष परम्परा संस्कृत और संस्कृति की महानता आजकल बिलुप्ति की ओर गति कर रही है। जिस संस्कृत भाषा ने भारतीय विचारधार को विश्व दरवार में परिचित करायाा था, वह समूचे देश–विदेश में यौथ चिन्तन, पारिवारिक सम्बन्ध कर्मकर्माणि, वेदादि कर्म एवं ईश्वर प्रणिधानीय चिन्तन लुप्तप्रायः है ऐसे समय में सुधांशु की चिन्तन–परिकल्पना निश्चिततः आशीर्वादार्हः है। विज्ञानभिक्षु का योगसारसंग्रह मूलतः जड़ और चेतन, चित्त, आत्मा, शरीर और प्रकृति को ज्ञान, विज्ञान, ध्यान–अनुध्यान को सहज सूत्र में ग्रहण करने का एक उत्तम सोपान है।

अतः सुधांशु ने हिन्दी में प्रस्तुत अनुवाद तथा व्याख्या का कार्य करके निम्नाभिमुखी से सर्वाभिमुखी करने का जो सत्प्रयास किया है, वह महत्तर है। और सर्वभारतीय स्तर पर निःसन्देह प्रकाशित होगा। ईश्वर से मैं निवेदन करता हूँ इस पुस्तिका की प्रसिद्धि संह–सुधांशु का जीवनपथ मङ्गलमय हो, उनकी लेखनी से निःसृत धार और अधिक दीप्त हो।

हरिः ॐ
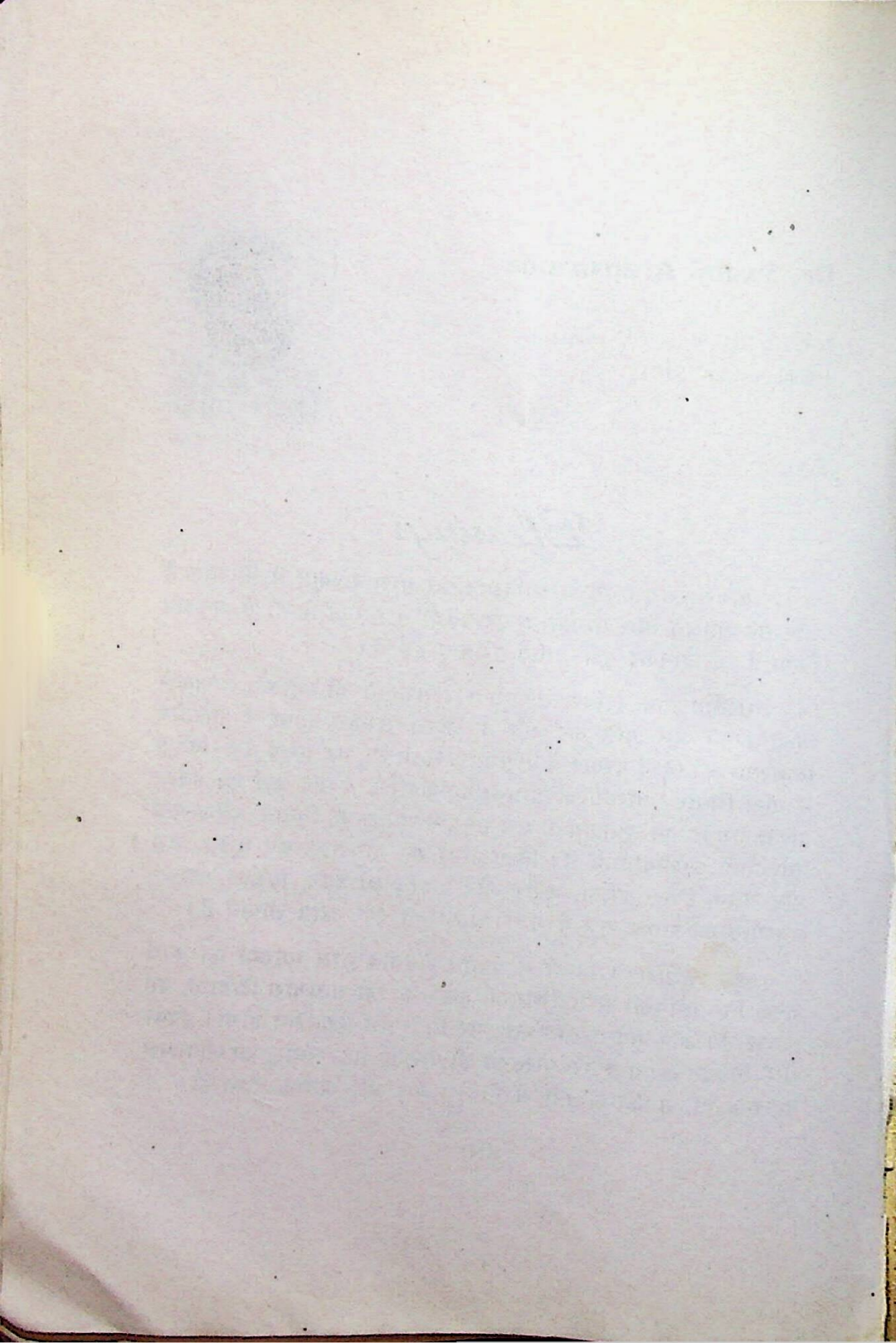
अनुशंसा

संसृति के प्रारम्भ से अद्य पर्यन्त ऋषिप्रणीत योग विद्या एक ऐसी विधा रही है कि जिसका सर्वदा सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। मानव जिस भी विद्या, कला, ज्ञान या उपलब्धि को प्राप्त करना चाहता है, उसे उससे मनसा–वचसा–कर्मणा से जुड़ना आवश्यक होता है। "योग" शब्द का शाब्दिक अर्थ ही जुड़ना है। देवदुर्लभ मानव देह में सार्वभौमिक चेतना एवं ज्ञान आदि की प्राप्ति हेतु योग ही एक सफल संसिद्ध विद्या एवं विधा है।

डॉ0 सुधांशु कुमार षढ़ङ्गी इससे पूर्व भी दो पुस्तकों की संरचना कर चूके हैं। इनकी विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह पर रजनी नामधेय विशद हिन्दी व्याख्या अपने आप में परिपूर्ण व्याख्या है। इससे पूर्व इस ग्रन्थ पर इस प्रकार का शोधात्मक कार्य देखने में नहीं आता है। जबकि ये पुस्तक छात्रों, योग पर अनुसन्धान करने वालों एवं योगियों के लिए परमोपयोगी है। मैंने इस पुस्तक के कलेवर को आद्योपान्त देखा है। व्याख्याकार ने बृहद् मौलिक परिश्रम से इसे संवार एवं निखार कर विद्वानों के उपयोगी बनाया है।

हम डॉ0 सुधांशु कुमार षढ़ङ्गी को इस कार्य की पूर्त्ति पर साधुवाद देते हुए कामना करते हैं कि वह इस प्रकार के अनुसन्धान परक कार्यों में संलग्न रहें।

"खोया हो तो खोज लें, रूठा लें मनाए।
मिला हुआ भी न मिले, ताको कौन मिलाए।।"

डॉ0 सुदेश गौतम
प्राचार्य
हिमाचल आदर्श संस्कृत महाविद्यालय
जाङ्गला, तह0 चड़गाँव,
जि0 शिमला, हि0प्र0
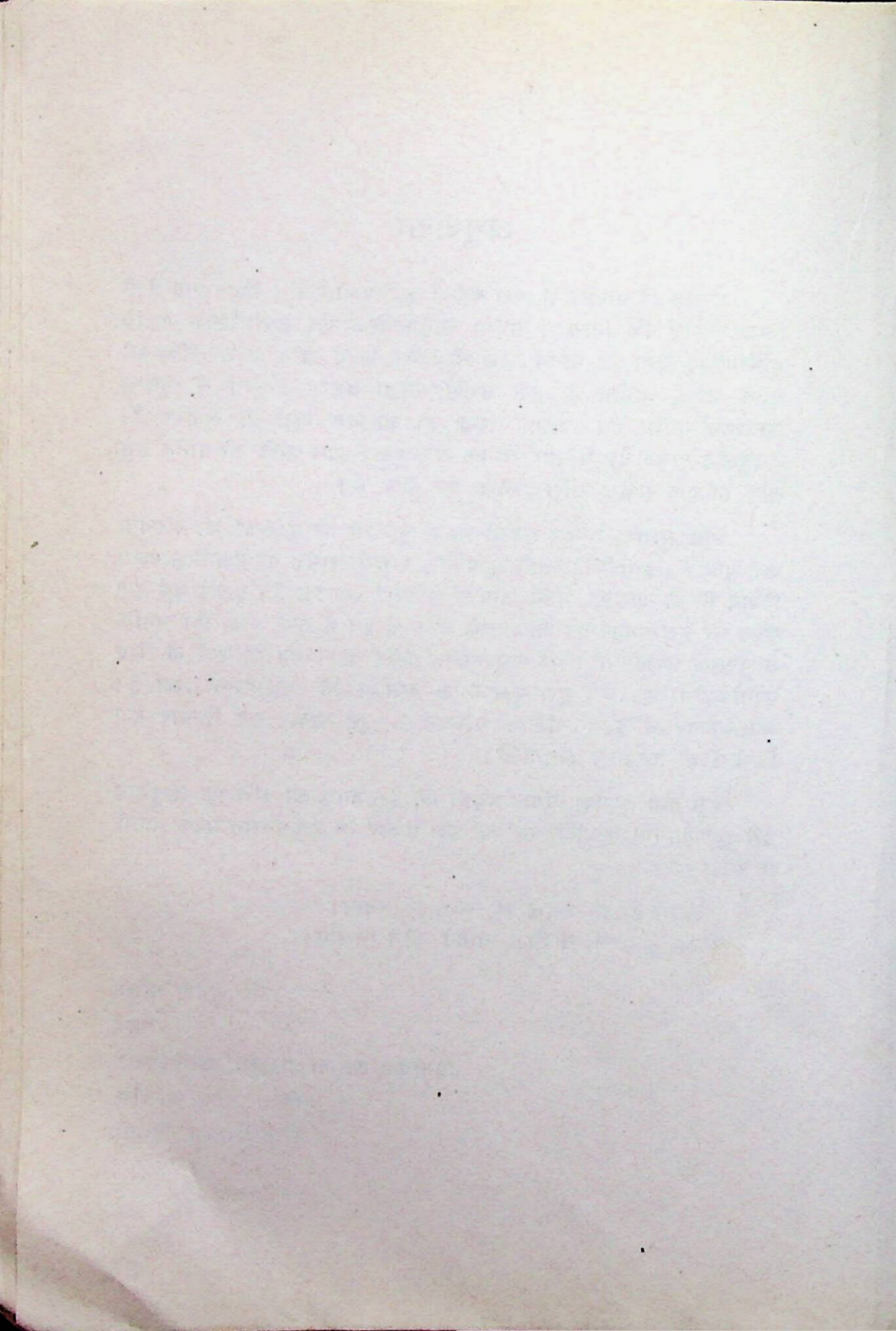
प्रस्तावना

"इन्दीवराभां प्रविभक्तां शक्तां समस्तैकगुणप्रदात्रीम्।
अध्यात्मविद्यात्ममहाप्रकाशां भासां विभासां च भजे सरस्वतीम्।।"

"गोरख योग जगावे रे बाबा गोरख योग जगावे।
योग जगे सब संशय भागे, सारा मोह नशावे।।
सोई सांपिन जागे अवधू वह तो फण फैलावे।।

जागे सांपिणि, नाथ नथावे।
सार ताहि कि नाथहिं जाणे, नाना नाच नचावे,
गोरख योग जगावे।।

ब्रह्म कहे वेदान्ती ताको मर्म न पावे।
गोरखनाथ निरञ्जन ताही परम पुरुष बतलावे।।
अलख निरञ्जन यही ब्रह्म है गोरखनाथ बतावे।।"

(सारस्वत कुण्डलिनी महायोग)

मानव जीवन के मूल्य का अनुशीलन में प्रायशः प्रत्येक मानव सतत प्रयासरत रहता है। इस की परिधि में तत्त्व के चिन्तन के साथ–साथ प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप क्रिया का विश्लेषण किया जाता है। चूँकि अपरोक्षानुभूति ही दर्शन शब्द का भावात्मक पक्ष है, अतः दर्शनशास्त्र ही प्रत्येक प्राणी के लिए अनुसन्धेय होना चाहिए। "दृशिर्" ज्ञाने धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पंन्न दर्शन शब्द ज्ञान पक्ष को द्योतित करता हुआ प्रतीत होता है। यह सत्य भी है। परन्तु दार्शनिक विश्लेषण में प्रयुक्त दर्शन शब्द सम्यग् दर्शन को ही निर्देशित करता है। अतः इसकी परिधि में न केवल जीव की जीवता का निर्वचन ही मुख्य विषय है, अपितु जीव के अन्तः तथा बाह्य – उभय पक्ष का विश्लेषण ही प्रधान तत्त्व है।

इन तत्त्वों के विश्लेषण को प्रतिपादन करने वाला शास्त्र दर्शनशास्त्र के नाम से जाना जाता है। प्रतिपाद्य विषय तथा प्रतिपादक के मतिभिन्नता होने के कारण यह अनेकधा प्राप्त होता है। जैसे सर्वदर्शनसंग्रह में श्रीमाधवाचार्य सोलह दर्शन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वस्तुतः प्रमुखरूप से केवल नौ दर्शन सम्प्रदायों का ग्रहण

किया जा सकता है। और यह नौ दर्शन सम्प्रदाय दो कोटी में विभक्त है। जैसे :–

इन सभी नौ दर्शन सम्प्रदायों में से सांख्य तथा योग दर्शन सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व है। ये दोनों ही दर्शन पूर्णतया व्यावहारिक है। प्रस्तुत प्रकरण योगदर्शन का होने से यहाँ पर हम केवल योगदर्शन का ही निर्वचन प्रस्तुत कर रहे हैं।
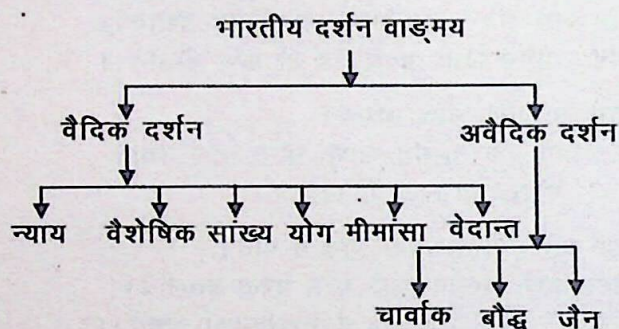
यह योगदर्शन बहुप्राचीन है। यह सूत्रकार पतञ्जलि से पूर्व भी विद्यमान था। इसके विषय में संक्षिप्त विवरण यहाँ पर दिया जा रहा है।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भ को योग के आदि प्रवर्त्तक कहा जाता है। कहा गया है कि :–

"हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः।" (यो0वा0, 1/1)

इस हिरण्यगर्भ के कोई रचना उपलब्ध नहीं होता है। पुराणपुरुष होने से इनका समय भी अनिर्द्दिष्ट है।

पतञ्जलि को योगशास्त्र के प्रचारक के रूप से स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः पातञ्जल योग तथा प्राचीन योग के ग्रन्थों में वर्णित योग में भिन्नता देखी जाती है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि पतञ्जलि ने स्वकीय पुस्तक योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है और योगी के तीन प्रकार के भेद तथा उनके अनुसार ही त्रिविध उपायों का भी वर्णन किया है। परन्तु योग को प्रतिपादन करने वाले अन्य

मौलिक शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध नहीं होते हैं। जैसे मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, पराख्य तन्त्र, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में जीवात्मा और परमात्मा के योग को योग कहा गया है। इनके यहाँ योगी के त्रैविध्य तथा उनके त्रिविध साधनों का भी वर्णन नहीं है। इनके अनुसार केवल छ प्रकार के अङ्गों के अनुष्ठान से ही अधिकारी पुरुष योगसिद्ध हो जाएगा। जैसे – प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि तथा तर्क। इन षडङ्गों का विधान किया गया है।

हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि योग हिरण्यगर्भ से प्रारम्भ हुआ है तथापि पतञ्जलि ने ही इसे दर्शन का स्वरूप दिया होगा।

पतञ्जलि

अधुना प्रचलित तथा बहुशः प्रचारित योग पतञ्जलि के सरणि के अनुसार ही है। जो भी अभी योग का स्वरूप प्राप्त होता है वह निर्विवाद पतञ्जलि का ही है। पातञ्जल योग का ही सर्वत्र प्रसार है। इनका समय ई0पू0 प्रथम शतक है। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ योगसूत्र, जो कि समग्र योगदर्शन का प्रमुख तथा आधारभूत है, निश्चित ही योगसिद्धि के लिए उपादेय है। इस ग्रन्थ में चार पाद है और यह सूत्रशैली से निबद्ध है। प्रथम पाद का नाम समाधि पाद है। इसमें 51 सूत्र हैं तथा इसमें योग के स्वरूप, भेद, उत्तम अधिकारियों के लिए उद्दिष्ट साधन तथा ईश्वरप्रणिधान का निर्वचन किया गया है। द्वितीय पाद का नाम साधन पाद है। इसमें 54 सूत्र तथा इसमें मध्यम और अधम अधिकारी के लिए उद्दिष्ट साधन तथा उससे प्राप्त सिद्धियों के विषय में निर्वचन किया गया है। तृतीय पाद का नाम विभूति पाद है। इसमें 55 सूत्र और संयम तथा संयम लभ्य विभूतियों के विषय में निर्वचन है। चतुर्थ पाद का नाम कैवल्य पाद है। इसमें 34 सूत्र और कैवल्य के विषय में निर्वचन प्राप्त होता है।

योगसूत्र के अनन्तर जितने भी योगदर्शन के ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वे सभी योगसूत्र की व्याख्या तथा उपव्याख्या परक ही है।

व्यास

व्यास योगसूत्र पर भाष्य का प्रणयन किया है। इस भाष्य पर ही अन्य टीकाओं की रचना उपलब्ध होता है। यह व्यास कौन है ? इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। क्योंकि वेदविभाजक व्यास, महाभारत के

रचनाकार व्यास, पुराणों के प्रवर्त्तक व्यास, ब्रह्मसूत्र के लेखक व्यास तथा योगसूत्र के भाष्यकार व्यास – एक है अथवा अनेक है – यह नहीं कहा जा सकता है। परन्तु हम इतना ही कह सकते हैं कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यास निश्चित ही उपर्युक्त सभी से भिन्न है तथा इनका समय सूत्रकार पतञ्जलि से परवर्त्ती होना चाहिए।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र व्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी नामक व्याख्या ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह संक्षिप्त तथा अत्यन्त उपादेय है। इनका समय अष्टम शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है।

विज्ञानभिक्षु

श्रीविज्ञानभिक्षु ने योगसूत्र व्यासभाष्य पर योगवार्त्तिक नामक व्याख्या ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसमें भाष्यपंक्ति की व्याख्या के साथ–साथ भिक्षु जी के मौलिक चिन्तन भी प्राप्त होता है। इसकी शैली खण्डन–मण्डन परक है। इनका योगदर्शन पर एक मौलिक ग्रन्थ प्राप्त होता है, जो योगसारसंग्रह के नाम से जाना जाता है। इसका निर्वचन आगे किया जाएगा।

भोज

भोजदेव ने योगसूत्र पर राजमार्त्तण्ड वृत्ति का प्रणयन किया है। इसमें बहुत्र सूत्रों के पाठभेद भी प्राप्त होते हैं। इनका समय 11वीं शताब्दी है।

रामानन्द यति

रामानन्द यति ने योगसूत्र पर मणिप्रभा नामक टीका का प्रणयन किया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल तथा सुबोध है। इनका समय 16वीं शताब्दी है।

नारायण तीर्थ

नारायण तीर्थ ने योगसूत्र पर सूत्रार्थबोधिनी नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इनके द्वारा रचित एक अन्य मौलिक ग्रन्थ भी है, जो योगसिद्धान्तचन्द्रिका के नाम से जाना जाता है। श्रीविज्ञानभिक्षु की तरह इन्होंने भी इस पुस्तक में स्वकीय सिद्धान्तों को दिखाया है। इनका समय 17 वीं शताब्दी है।

हरिहरानन्द आरण्यक

हरिहरानन्द आरण्यक जी ने व्यासभाष्य पर भास्वती नामक टीका का प्रणयन किया है। इन्होंने व्याख्या में लौकिक उदाहरणों का प्रयोग बहुश किया है। इनका समय 19 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

इस दर्शन सम्प्रदाय में अन्य अनेक ग्रन्थों, ग्रन्थकारों, टीकाकारों तथा समालोचकों के विषय में उल्लेख मिलता है परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के उपादेय की दृष्टि से कुछ विशिष्ट का ही निर्वचन किया गया है। इस विषय पर अधिक जानकारी हेतु भारतीय दर्शन का पुस्तक अनुसन्धेय है।

श्रीविज्ञानभिक्षु के प्रायशः सांख्य, योग तथा वेदान्त दर्शनों में रचना प्राप्त होती है। उनमें से कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित है। वे जैसे :–

क0 सांख्यदर्शन पर आधारित ग्रन्थ :–

1	सांख्यप्रवचनभाष्यम्	सांख्यसूत्र के व्याख्याग्रन्थ	प्रकाशित
2	सांख्यसार	मौलिक	प्रकाशित

ख0 योगदर्शन पर आधारित ग्रन्थ :–

1	योगवार्त्तिक	व्यासभाष्य के व्याख्याग्रन्थ	प्रकाशित
2	योगसारसंग्रह	मौलिक	प्रकाशित

ग0 वेदान्तदर्शन पर आधारित ग्रन्थ :–

1	विज्ञानामृतभाष्यम्	ब्रह्मसूत्र का व्याख्याग्रन्थ	प्रकाशित
2	ईश्वरगीताभाष्यम् प्रथम से एकादश अध्याय के	कूर्मपुराण के द्वितीयभाग के व्याख्या	अप्रकाशित
3	उपदेशरत्नमाला	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
4	ब्रह्मादर्श	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
5	कठवल्युपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
6	कैवल्योपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित

7	मैत्र्युपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
8	माण्डूक्योपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
9	प्रश्नोपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
10	तैत्तिरीयोपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित
11	श्वेताश्वेतरोपनिषदालोक	व्याख्याग्रन्थ	अप्रकाशित

इस प्रसङ्ग पर अधिक जानकारी हेतु डॉ0 बदरी नारायण पञ्चोली के द्वारा लिखित "श्रीविज्ञानभिक्षुदर्शनविमर्श" नामक पुस्तक अनुसन्धेय है।

तत्त्वविचार

सांख्य और योग – इन दोनों के समानशास्त्रत्व के सिद्धान्त के न्याय से प्रायशः एक सा व्यवहार होता है। इन दोनों में से सांख्य का कार्यकारणवाद सिद्धान्त सत्कार्यवाद, योग को भी अभिमत है। यह योगदर्शन सम्प्रदाय सांख्य की तरह पूर्णतया व्यावहारिक है। इस दर्शन में 26 तत्त्वों को
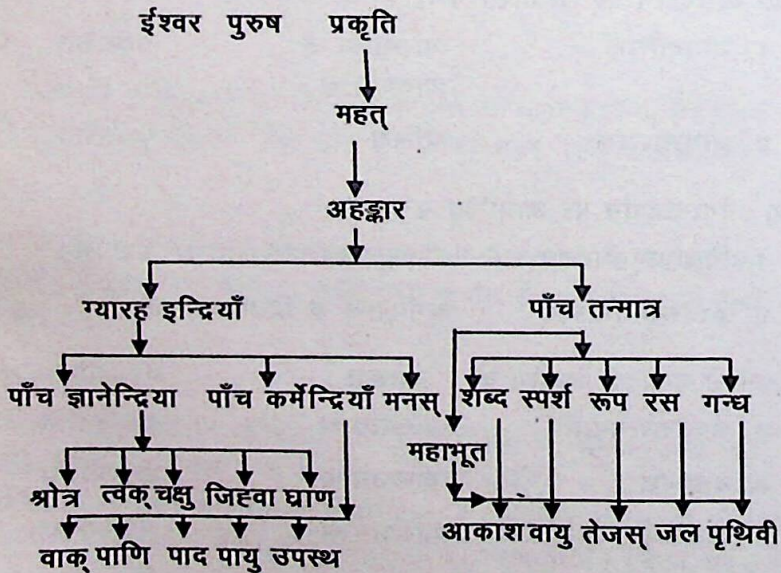
स्वीकार किया जाता है। परन्तु यह सांख्य के 25 तत्त्वों के साथ साम्य रखता है। क्योंकि योगदर्शन में जो 26वाँ तत्त्व स्वीकार किया जाता है, जो कि ईश्वर है, वह सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन से अनुमत अनेक पुरुषों में से विशेष गुणों को धारण करने वाला विशिष्ट पुरुष ही है। ये तत्त्व जैसे:–

"युज्" धातु से घञ् प्रत्यय करके योगशब्द निष्पन्न होता है। सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार "युज्" धातु तीन गणों में पठित है। जैसे :–

क0 युज् – समाधौ दिवादिगणीय – आत्मनेपदी – धातुपाठ – 1178

ख0 युजिर् – योगे रुधादिगणीय – उभयपदी – धातुपाठ – 1445

ग0 युज् – संयमने चुरादिगणीय – परस्मैपदी – धातुपाठ – 1807

उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तियों में से पातञ्जल योग में समाध्यर्थक "युज्" धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न योगशब्द गृहीत है। क्योंकि भाष्यकार व्यास ने योगसूत्र व्यासभाष्य में कहा है कि :–

"योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः।" (व्या0भा0, 1/1)

अतः चित्तवृत्तिनिरोधरूप अर्थ ही यहाँ पर विवक्षित है। अन्य अर्थों में इसका प्रयोग नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पातञ्जल योग में दुःखों की निवृत्ति पूर्वक कैवल्य की प्राप्ति वर्णित है।

परन्तु तन्त्रशास्त्रों में प्रायशः "युजिर्" योगे धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न योग शब्द उल्लिखित है। जैसे मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में कहा गया है कि :–

"योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना।
यद्वस्तु ज्ञेयमित्युक्तं हेयत्वादिप्रसिद्धये।।"

यहाँ पर जीवात्मा तथा परमात्मा के योग को योग कहा गया है। वस्तुतः उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्ति समीचीन प्रतीत होता है। जैसे समाधि को प्रतिपादन करने वाला, जीवात्मा तथा परमात्मा के योग को कराने वाला और शरीर, इन्द्रिय तथा प्राणों का संयमन करने वाला योग शब्द से स्वीकृत हो सकता है। क्योंकि अष्टाङ्ग योग के वर्णन में कहा गया है कि यम, नियम तथा आसन शरीर को, प्रत्याहार इन्द्रियों को और प्राणायाम प्राण को संयमित करता है। परन्तु प्रधानरूप से समाध्यर्थक युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द को ही ग्रहण करना चाहिए। यह भाष्यकार को भी अभिमत है।

योग की सिद्धि निश्चय ही किसी आश्रय का आलम्बन करते हुए की जा सकती है। यद्यपि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग कहा है और उसके तीन प्रकार के प्रमुख साधन जैसे – अभ्यास और वैराग्य, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टाङ्ग योग तथा वैकल्पिक ईश्वर प्रणिधान की व्यावस्था की है, तथापि अद्यतन समाज में हठयोग, लययोग, भावयोग आदि अनेक योग प्रचलित हैं। ये सभी साधन अप्रधान है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी इसके गौणत्व को प्रस्तुत पुस्तक में बताया है। ये सभी योग के साधन अष्टाङ्ग साधनों में अन्तर्भूत हो सकते हैं। अभ्यास के अन्तरङ्ग साधनों में से अन्तिम परिकर्म यथाभिलषित ध्यान द्वारा श्रीविज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है कि जो भी योगी को अभीष्ट हो, उसमें तदाकाराकारित चित्त को करने से भी चित्त एकाग्र हो जाता है। धारणा की व्याख्या में कहा है कि प्रदेशविशेष में बन्ध को प्राप्त कर लेना। यह प्रदेशविशेष – शरीरादि के अङ्ग भी हो सकते हैं। जैसे नासिकाग्र, जिह्वाग्र, हृत्पुण्डरीक आदि। अब प्रश्न यह है कि इन शरीरों के अङ्गों में चित्त को एकाग्र करे क्यों? क्योंकि चित्त के एकाग्र किसी अच्छे प्रदेश में करना चाहिए। अब इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शरीर में ही समस्त कल्पित देव, तीर्थ आदि का ग्रहण होता है। इसमें ही ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है। यदि ब्रह्माण्ड का ज्ञान करना हो तो उसके लिए शरीर का ज्ञान अपेक्षित है। इसलिए कहा भी गया है कि :–

"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे।"

ब्रह्मण्ड के सदृश इस शरीर में भी 14 भुवन हैं। जैसे – पादतल में पाताल, पार्ष्णिप्रपद में रसातल, गुल्फों में महातल, जङ्घाओं में तलातल, जानुद्वय में सुतल, ऊरुद्वय में वितल, जघन में अतल, पैरों में भूर्लोक, नाभि में भुवलोक, वक्षस्थल में स्वर्लोक, ग्रीवा में महर्लोक, मुख में जनलोक, ललाट में तपोलोक, मूर्द्धा में सत्यलोक है। इस शरीर में ब्रह्मण्ड के समस्त पवित्रस्थान विद्यमान है। जैसे – मूर्धा में अयोध्या, भ्रूमध्य में काशी, नासाग्र में प्रयाग, कण्ठ में द्वारका, हृदय में मथुरा, नाभि में अवन्ती, लिङ्ग में काञ्ची, गुदा में माया, इड़ा में गङ्गा, पिङ्गला में यमुना, सुषुम्ना में सरस्वती विद्यमान है। शरीर में अन्य नाड़ियाँ भी हैं। उनमें नर्मदा आदि नदियाँ विद्यमान है। योगी के उन स्थानों में उन स्थानों से सम्बन्धित तीर्थों के अभेदसम्बन्ध के चिन्तन

करने से उन तीर्थों में भ्रमण होता है। शरीर के सिर में शालग्राम, कण्ठ से लेकर नाभि तक स्थान में हरिमन्दिर तथा नाभि से लेकर चरणपर्यन्त स्थान में नन्दिग्राम नाम वाला ग्राम है। इस विषय में सारस्वत कुण्डलिनी महायोग में कहा गया है कि :–

"मूलाधारे अयोध्या च मथुरा मणिपूरके।
मायावती हृदाकाशे कण्ठे काशी च विद्यते।।

आज्ञा चक्रे भवेत् काञ्ची ततश्चोर्ध्वमवन्तिका।
यत्र द्वारावती प्रोक्ता तत्र सा विरजा स्थिता।।"

(सारस्तत कुण्डलिनी महायोग)

अर्थात् मूलाधार में अयोध्या, मणिपूर में मथुरा, अनाहत में मायावती, विशुद्ध में काशी, आज्ञा में काञ्ची, उसके ऊपर अवन्ती, उसके ऊपर जहाँ पर द्वारावती है वहीं पर विरजा का स्थान भी है। शरीर में 14 अरण्यों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे – दण्डकारण्य, सैन्धवारण्य, जम्बुमार्ग, पुष्कर, उत्पलावर्त्तक, नैमिष्यारण्य, कुरुक्षेत्र, सुनन्दर्क्ष, कुरुमण्डल, अर्बुद तथा हिमालय आदि। इस शरीर में 9 ऊषर तथा 14 गुह्य स्थानों की आवास भूमि हैं। जैसे – ललाट में कालञ्जर, भ्रूमध्य में काशी, भ्रूमध्य के नीचे नन्दनकानन, नासिका में शूकर, कण्ठकूप में रेणुका, नाभि में महाकाल, दाएँ पैर के तल पर कालेश, बाएँ पैर के तल पर काशाली तथा दोनों पैरों के मध्य बटेश है। ये नौ ऊषर कहे जाते हैं। इस पञ्चभूतमय शरीर देवताओं का वासस्थान है। जैसे चित्त के अधिष्ठाता देवता वासुदेव है। बुद्धि के ब्रह्मा, अहङ्कार का शङ्कर, मन के चन्द्रमा, श्रोत्र का दिक्, त्वक् का वायु, चक्षु का सूर्य, रसना का वरुण, घ्राण का अश्विनीकुमार, वाक् का अग्नि, हस्त का इन्द्र, पाद का विष्णु, पायु का यम तथा उपस्थ का प्रजापति ब्रह्मा देवता है। इन स्थानों में उन के अधिष्ठाता देवताओं के चिन्तन से योगी इन्द्रियजयी हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक योगसारसंग्रह चार अंशों से विभक्त है। इसमें श्रीविज्ञानभिक्षु ने स्वकीय मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। प्रथम अंश में योग का स्वरूप तथा उनके भेदों के विषय में निर्वचन किया गया है। इसके साथ ही वृत्तियों तथा योग के फल के विषय में भी विचार किया गया है। द्वितीय अंश में तीन प्रकार के अधिकारियों के लिए उद्दिष्ट साधनों का विचार किया गया है। जैसे उत्तम अधिकारी के लिए अभ्यास और वैराग्य तथा वैकल्पिक उपाय ईश्वर

प्रणिधान का विचार किया गया है। मध्यम अधिकारी के लिए क्रियायोग, जो कि तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूप है – इनका विचार किया गया है। और अधम अधिकारी के लिए यम, नियम आदि आठ अङ्गों का विचार किया गया है। इसमें विज्ञानभिक्षु ने ईश्वरगीता से इनके स्वरूप को प्रस्तुत किया है। तृतीय अंश में संयम जन्य सिद्धियों के विषय में विचार किया गया है। चतुर्थ अंश में स्फोट, मनोवैभव आदि के विषय में निर्वचन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में हमने योगवार्त्तिक को अपने आधार के रूप से ग्रहण किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में जो भी हमसे लिखी गई है, वह सब समस्त योग के विभूषितों की देन है। हम अपने सभी पूर्वज ग्रन्थकारों, टीकाकारों तथा समालोचकों का धन्यवाद करते हैं कि जिनके उपदेश के बिना यह सम्भव नहीं हो सकता था। हम इस पुस्तक को उन सभी योग के आचार्यों के चरण कमल में समर्पित करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रयुक्त हिन्दी टीका का नाम हम ने अपने पूज्या माताजी श्रीमती रजनी षढ़ङ्गी जी के नाम पर "रजनी" रखा है। इस पुस्तक के प्रकाशन में अनेक वरेण्य विद्वानों का मुझे आशीर्वाद मिला, जिनके आशीर्वाद को पाथेय मान कर हम इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अग्रसर हुए। हम अपने पूज्य गुरुजी डॉ० स्वामी अरूपानन्द दास महाराज जी के चरण कमल में इस पुस्तक के साथ साथ अपने आप को समर्पित करते हैं। क्योंकि आज हम जिस जगह पर पहुँचे हुए हैं वह केवल उनका आशीर्वाद है। योग के गूढ़ ज्ञान को इन्होंने ही कृपा करके मुझे बताया है। अपने पिताजी पण्डितरत्न श्रीयुक्त नरहरि षढ़ङ्गी जी के चरण कमल में नमन करते हैं कि इनके आशीर्वाद कुसुम से हम ज्ञानपथ पर अग्रसर हुए हैं। गुरुवर प्रो० वीरेन्द्र कुमार मिश्र (पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, हि०प्र० विश्वविद्यालय, शिमला), प्रो० रमेश चन्द्र पण्डा (अध्यक्ष, व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), प्रो० कृष्णकान्त शर्मा (अध्यक्ष, वैदिक दर्शन विभाग, का०हि०वि०वि०), प्रो० सुदर्शन लाल जैन (पूर्व अध्यक्ष तथा सङ्काय प्रमुख, संस्कृत विभाग, का०हि०वि०वि०) तथा अपने अग्रज तुल्य डॉ० शशिशेखर जी को सतत नमन करते हैं कि इनके आशीर्वाद कुसुम से ही हम ज्ञान सागर से कुछ पा सके।

अपने मित्र डॉ० बीरवल पाण्डेय जी का मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। अपने महाविद्यालय के समस्त कर्मचारियों का भी मैं अपने तह दिल से कृतज्ञ हूँ कि जिनके सहयोग के कारण ही मैं इस में प्रवृत्त हो सका।

हमारे कुशल–क्षेम में अपने आनन्द को देखने वाले अपने पूज्य मामाजी श्रीयुक्त सनातन पण्डा जी के प्रति कृतज्ञ हूँ। हम अपने अग्रज श्री सुधीर कुमार षढ़ङ्गी तथा श्री सञ्जय कुमार षढ़ङ्गी जी के चरणों में प्रणाम करते हैं कि इनके आशीर्वाद को प्राप्त करके हम आगे बढ़े हैं। अपने छोटे भाई श्री सुबोध कुमार षढ़प्री का भी हम कृतज्ञ है, क्योंकि इन्होंने हमेशा हमारे साथ कार्य में सहयोग दिया। अपने प्रतिपद में सहायता देने वाली अपनी सहधर्मिणी श्रीमती शिवाश्रिता जी के प्रति सतत कृतज्ञ हैं, जिन्होंने पाण्डुलिपि तैयार करने में हमारी सतत सहायता की। हम सभी अदृश्य अन्तरिक्ष वालों को भी धन्यवाद देते हैं कि इनकी अदृश्य सहायता ही इस पुस्तक की निर्विघ्न समाप्ति में सहायक हुयी।

अन्त में प्रकाशक भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली को धन्यवाद देता हूँ, जिसने इस पुस्तक के प्रकाशन में सहायता की।

हम अब इतना ही कह सकते हैं कि :–

"सर्वमेतन्महाशक्तिर्भगवती योगकुण्डली।
जागृता परमा सिद्धा सिद्धानां सिद्धिदा भवेत्।।"

कुरुजाङ्गलम्
दि0 21/12/2009

योगियों के चरणसेवक
डॉ0 सुधांशु कुमार षढ़ङ्गी

सङ्केताक्षर सूची

तत्त्ववैशारदी	त0वै0
सांख्यसूत्र	सां0सू0
योगसूत्र	यो0सू0
योगवार्त्तिक	यो0वा0
सांख्यप्रवचनभाष्य	सां0प्र0भा0
वृहदारण्यकोपनिषद्	वृ0
श्वेताश्वेतरोपनिषद्	श्वेता0
योगसिद्धान्तचन्द्रिका	यो0सि0च0

विषयानुक्रमणिका

अथ योगसारसंग्रहे प्रथमोंऽशः प्रारभ्यते

यः सृष्ट्याब्जजविष्णुशङ्करमयं बुद्ध्याख्यसूत्रं (परं)
महत्तत्त्वं सत्त्वरजस्तमोमयमहामायामयाद्देहतः।

अन्तर्यामितयोर्णनाभवदहो तेनैव कुर्वञ्जगच्चक्र–
व्यूहमिदं निजांशमशकान्बन्धाति तस्मै नमः।।1।।

पतञ्जलिव्यासमुखान्गुरूनन्यांश्च भक्तितः।
नतोऽस्मि वाङ्मनःकायैरज्ञानध्वान्तभास्करान्।।2।।

वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम्।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं ग्रन्थकुम्भे निधीयते।।3।।

जो सत्त्व, रजस् और तमस् स्वरूपवाला महामायमय देह से सृष्टि के बीज स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर स्वरूप तथा बुद्धि नामक श्रेष्ठ सूत्रात्मा महत्तत्त्व की रचना की, तथा अन्तर्यामि स्वरूप से मकड़ी की तरह इस जगतरूप चक्रव्यूह की रचना कर अपने अंश स्वरूप (जीव) को मशक के सदृश बाँध लेता है, उस (महान् तत्त्व परमात्मा) को नमस्कार है।

वाणी, मनस् तथा काय से भक्ति पूर्वक अज्ञानरूप अन्धकार को विनाश करने वाले भगवान् भास्कर स्वरूप वाले पतञ्जलि, व्यास तथा अन्य गुरुजनों को नमस्कार करता हूँ।

वार्त्तिक रूप स्थिर दण्ड़ से योगरूप सागर को मथकर यह सार स्वरूप को उद्धार कर योगसारसंग्रह रूप ग्रन्थरूप कुम्भ में विशेषभाव से रखा जा रहा है।

(योग के स्वरूप तथा उसके भेद)

तत्र पुरूषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम्।

हिन्दी अनुवाद

उस प्रतिपादित विषय में पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति का कारणभूत, चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है – यह द्विविध योग का साधारण लक्षण है।

रजनी

श्रीविज्ञानभिक्षु ने यहाँ पर पातञ्जल योगसूत्र में प्रतिपादित प्रथम दोनों सूत्रों को मिलाकर लक्षण बनाया है। इस में व्यास जी ने भी कहा है कि :-

"तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते – योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"
(व्या0भा0, 1/2)

इस के अनन्तर तृतीय सूत्र के प्रारम्भ में कह है :-

"तदवस्थे चेतसि विषयाभावात् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभावः इति ? तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।" (व्या0भा0, 1/3)

वस्तुतः विज्ञानभिक्षु ने इस लक्षण से योग के फल को भी बताया है। योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लक्षण देते हैं कि :-

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" (यो0सू0, 1/2)

अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। चित्तवृत्तीनां निरोधः इति। चित्तस्य वृत्तयः चित्तवृत्तयः अथवा चित्ते वर्त्तमानाः वृत्तयः अवस्थाविशेषाः वा चित्तवृत्तयः, तासां वृत्तीनां निरोधः चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ अथवा चित्त में होने वाले अवस्थाविशेष अथवा व्यापार – इनका निरोध ही चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात् योग कहा जा सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए विज्ञानभिक्षु वार्त्तिक में कहते हैं कि चित्त की जितनी भी वृत्तियाँ बतलाई जाने वाली है, उन निखिल वृत्तियों का निरोध', जो उनका लयसंज्ञक अधिकरण का अवस्थाविशेष है, उसे योग कहते हैं। क्योंकि योगशास्त्रानुसार अभाव को चित्तरूप अधिकरण की अवस्थाविशेष स्वीकार किया गया है। जैसेः-

"तत्र यावल्लक्षमाणा वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरण-स्यैवावस्थाविशेषः, अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्, सः योग इत्यर्थः।" (यो0वा0, 1/2)

यहाँ सामान्यतः यह शङ्का उपस्थापित हो रही है कि सूत्र में प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोध से क्या समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध अभिप्रेत है अथवा यत्किञ्चित् वृत्तियों का निरोध। क्योंकि सम्प्रज्ञातयोग

में चित्त की ध्येयाकारवृत्ति विद्यमान रहती है। यदि समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध अभिप्रेत है तो लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो जाएगा। उसके समाधान में भाष्यकार व्यास ने कहा है कि सूत्र में 'सर्व' शब्द का ग्रहण अपेक्षित नहीं है। इस कारण सम्प्रज्ञात भी योग पदवाच्य हो जाएगा। जैसे :–

"सर्वशब्दाग्रहणात्सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते।"
(व्या० भा०. 1/2)

यदि सर्वशब्द का ग्रहण सूत्रकार का अभीष्ट नहीं था तो यत्किञ्चित् वृत्तियों के निरोध से क्या अभिप्रेत है। इस के स्पष्टीकरण में योगवार्त्तिक में विज्ञानभिक्षु ने कहा है – आगे बतलाये जाने वाले "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र की सहयोगिता से ही योग का लक्षण किया जाता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु योगसूत्रोक्त द्वितीय एवं तृतीय सूत्र को मिलाकर इस ग्रन्थ में योग का लक्षण प्रस्तुत किया है कि :–

"जो पुरुष का आत्यन्तिकस्वरूपावस्थान में कारणभूत, चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह योग कहलाता है। यह दोनों प्रकार के अर्थात् सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञात योग के साधरण लक्षण है।"

इस लक्षण से यह ज्ञात होता है कि सम्प्रज्ञात योग परम्परा से तथा असम्प्रज्ञात योग साक्षात् योग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग पुरुष का आत्यन्तिकस्वरूपावस्थान में कारण है और यह चित्त में वर्त्तमान वृत्तियों का निरोध ही है।

व्युत्थानकालीनश्च यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधः नात्यन्तिक–स्वरूपावस्थितिरूपमोक्षे हेतुः, जन्मबीजक्लेशाद्यनुच्छेदकत्वात्, अखिल–वृत्तिसंस्कारानुच्छेदकत्वाच्च, अतस्तत्र नातिव्याप्तिः।

हिन्दी अनुवाद

व्युत्थान अवस्था में जो यत्किञ्चित् चित्तवृत्तियों का निरोध होता है वह जन्म के बीजभूत (अविद्यादि) क्लेशों के उच्छेदक न होने के कारण एवं चित्त में वर्त्तमान समस्त वृत्तियों के संस्कारों का भी अनुच्छेदक होने के कारण, (यह स्वल्पकालीन चित्तवृत्तियों का निरोध) पुरुष का आत्यन्तिक स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष में हेतु नहीं होता है। इसलिए व्युत्थान अवस्था में होने वाले चित्त की वृत्तियों का निरोध में (प्रतिपादित योगलक्षण की) अतिव्याप्ति नहीं होगी।

रजनी

अतः पुरुष का आत्यन्तिक स्वरूपावस्थान में हेतुभूत, चित्तवृत्ति के निरोध को योग पद से योगशास्त्र अभिहित करता है। यहाँ पर यह शङ्का उठाई जा सकती है कि व्युत्थान काल में तमोगुण की अधिकता होने के कारण यत्किञ्चित् वृत्तियों का निरोध प्राप्त होता है। अतः इस व्युत्थानकालीन चित्तवृत्तिनिरोध में प्रतिपादित योगलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसके समाधान हेतु विज्ञानभिक्षु ने दो तर्कों का उपस्थापन किया है। प्रथम तर्क उन्होंने दिया कि व्युत्थान अवस्था में जो चित्तवृत्तिनिरोध होता है वह जन्मबीजभूत अविद्यादि क्लेशों का उच्छेदक नहीं होता है। ये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि क्लेश पुनर्जन्म में कारण बनते हैं। परन्तु व्युत्थानकालीन चित्तवृत्तिनिरोध से इन क्लेशों का नाश सम्भव नहीं है। पुनः द्वितीय तर्क के रूप में उन्होंने कहा कि यह व्युत्थानकालीन चित्तवृत्तिनिरोध चित्त की अखिल वृत्तियों के संस्कारों का नाशक नहीं होता है। क्योंकि जब तक संस्कार अवशेष रहेंगे तब तक वृत्ति संस्कार चक्र अनवरत प्रवाहित होता रहेगा। यह चित्तवृत्तिनिरोध चित्त के समस्त संस्कारों के उच्छेदन में समर्थ नहीं है। अतः इस कारण जन्मबीजरूपक अविद्यादिक्लेशों के और अखिल वृत्तिसंस्कारों के उच्छेदक न होने के कारण आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति रूप मोक्ष में हेतु नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि व्युत्थानकालीन चित्तवृत्तिनिरोध में योगशास्त्रोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।

वस्तुतः चित्त के पाँच प्रकार की भूमियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन भूमियों में से क्षिप्त भूमि में रजो गुण की अधिकता के कारण चित्तचाञ्चल्य हो जाता है। इस समय वृत्तियों का निरोध असम्भव होने से योग नहीं कहा जा सकता है। द्वितीय मूढ़ नामक भूमि में तमोगुण का आधिक्य है। तमोवृत्तिवाला होने से यह मूढ़ावस्था को प्राप्त करता है। अतः इस भूमि में भी योग सम्भव नहीं है। विक्षिप्त चित्त में कथमपि वृत्ति का निरोध होता है परन्तु यह स्वल्पकालीन होने से इस भूमि में होने वाला वृत्तिनिरोध को योग नहीं कह सकते। जैसे – इस समय कुछ समय के लिए सात्त्विक वृत्ति प्राबल्य को प्राप्त करते हुए यत्किञ्चित् वृत्ति का निरोध करता है, परन्तु रजोगुण उस सात्त्विक वृत्ति को

अभिभूत करते हुए चित्तचाञ्चल्य को प्राप्त कराता है। अतः यह भी योग कोटी में प्रविष्ट नहीं हो सकता है। एकाग्र भूमि में तामसिक और राजसिक वृत्तियों का निरोध होता है। इस समय केवल सात्त्विक वृत्ति का प्रकाश होता है। इस भूमि में होने वाला चित्तवृत्तिनिरोध को हम सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। निरुद्ध भूमि में समस्त वृत्तियों का निरोध ा हो जाता है। कहने का यह अभिप्राय है कि इसके पूर्व की भूमि में तो रजोवृत्ति तथा तमोवृत्ति का निरोध हो चुका रहता है, इस भूमि में केवल अवशिष्ट सात्त्विक वृत्ति का निरोध होता है। इस समय योगी संस्कारशेष अवस्था में रहता है। यह असम्प्रज्ञात योग के नाम से कहा जाता है। इस समय किसी प्रकार के ज्ञान का उदय नहीं होता है।

चित्रम् :–
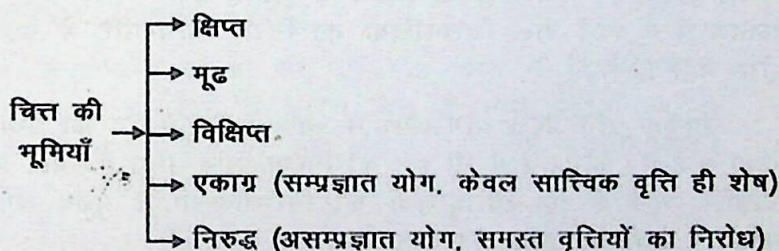
प्रलयकालीनस्य च वृत्तिनिरोधस्य व्यावर्त्तनाय आत्यन्तिकेति। स्वरूपावस्थितिश्चौपाधिकरूपनिवृत्तिः। स्वरूपस्य वाऽप्रच्यवः। तथा च स्मर्यतेः–

"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितः" इति।

हिन्दी अनुवाद

(उपर्युक्त योगलक्षण में) प्रलय कालीन वृत्तिनिरोध के व्यावर्त्तन निमित्त आत्यन्तिक इस पद का प्रयोग किया हुआ है। यहाँ पर स्वरूपावस्थिति पद से औपाधिक रूप की निवृत्ति अभीष्ट है, अथवा स्वरूप का विनाश न होना है। और स्मृति में कहा गया है :–

"अन्यथाभाव को छोड़कर (पदार्थ का) स्व स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है।"

रजनी

श्रीविज्ञानभिक्षु योग के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतुभूत चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस योगलक्षण में आत्यन्तिक इस पद का प्रयोग में याथार्थ्य क्या है ? इसके उत्तर में श्रीभिक्षु जी ने कहा है कि प्रलयकाल में भी चित्तवृत्तियाँ स्वकीय कारणतत्त्व में लीन हो जाती है। उस समय पुरुष अपना स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। पुनः सर्गावस्था में वही वृत्तियाँ अपने–अपने चित्त के साथ संयुक्त हो जाती है। इस अवधि में जो चित्तवृत्तियों का निरोध होता है वह स्वल्प समय के लिए होता है, न कि उस अवस्था में वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध होता है। इस हेतु से लक्षण में आत्यन्तिक पद दे देने से प्रलयकाल में होने वाले चित्तवृत्तियों का निरोध योगकोटि में ग्रहण योग्य नहीं होगा।

उपर्युक्त प्रतिपादित योगलक्षण में स्वरूपावस्थिति पद का प्रयोग किया गया है। योगसूत्र में भी इस का निर्देश प्राप्त होता है। वहाँ पर पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तवृत्तियों की निरोधावस्था में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। यथा :–

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।" (यो0सू0, 1/3)

इस सूत्र में प्रतिपादित 'स्वरूपेऽवस्थानम्' इस पद को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार व्यास कहते हैं कि :–

"........... स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।"
(यो0सू0, 4/34)

इस के स्पष्टीकरण में विज्ञानभिक्षु वार्त्तिक में कहते हैं कि "तंदाऽसम्प्रज्ञातयोगकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः स्वरूपे निर्विषयचैतन्यमात्रेऽ–वस्थानमित्यर्थः।" (यो0वा0, 1/3)

अर्थात् असम्प्रज्ञात योग के समय द्रष्टुः अर्थात् चितिशक्ति रूप पुरुष का अपने निर्विषयक चैतन्यरूप में अवस्थिति होती है।

इस स्वरूपावस्थान पद को समझाने के हेतु श्रीविज्ञानभिक्षु स्फटिक और जपा कुसुम का उदाहरण ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार रक्तवर्णीय जपापुष्प के हट जाने पर स्फटिक

स्वच्छ, शुभ्र, शुद्ध रूप में अवस्थित होता है, ठीक् उसी प्रकार चित्तवृत्तियों के निरोध हो जाने पर पुरुष बिम्बप्रतिबिम्ब से रहित अपने चितिरूप स्वरूप में अवस्थित होता है, क्योंकि वृत्तियों के निरोध होने से स्वच्छ दर्पण समान पुरुष पर किसी भी वृत्ति का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। उस समय पुरुष केवल स्वस्वरूपवाला ही रहता है। इस समय पुरुष को संस्कारशेषशून्य बुद्धि का ज्ञान नहीं होता है। अतः अपरिणामी पुरुष चित्त की व्युत्थान दशा के समान असम्प्रज्ञात दशा में भी स्वकीय रूप में ही रहता है। इस हेतु लक्षण में पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतुभूत चित्तवृत्तिनिरोधरूप ही विवक्षित है। इस स्थिति में वृत्तिजन्य अनागत दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। यथा–

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।" (यो0सू0, 4/34)

अतः असम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा काल में निःशेषरूप से संस्कारों का क्षय हो जाने के कारण चित्त के साथ वृत्तियों का भी आत्यन्तिक निरोध हो जाने पर मोक्ष संज्ञक आत्यन्तिक स्वरूपावस्थान होता है।

(योग के मोक्षहेतुत्व)

तत्र सम्प्रज्ञाताख्ययोगस्य मोक्षहेतुत्वं तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वात्, असम्प्रज्ञातयोगस्य चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेणेति वार्त्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्, संक्षेपतश्चाग्रेऽपि वक्ष्यामः। योगाङ्गेषु ज्ञानभक्तिकर्मादिषु च योगशब्दो योगसाधनत्वान्मोक्षोपायत्वाच्च गौण इति।

अनुवाद

उन दोनों प्रकार के (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात) योगों में से सम्प्रज्ञातनामक योग का तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा अविद्यादिक्लेशों के उच्छेदक होने से मोक्षहेतुत्व और असम्प्रज्ञात योग का समस्त वृत्तियों के संस्कारों के दग्ध होने से प्रारब्ध कर्म का भी अतिक्रम हो जाने से मोक्षहेतुत्व होना योगवार्त्तिक में हमसे विस्तरशः प्रतिपादित है। आगे भी संक्षेप से इस विषय को कहेंगे। योगाङ्गों में और ज्ञान, भक्ति तथा कर्म आदि में (प्रयुक्त) योगशब्द योग के साधन और मोक्ष के उपाय होने से गौण है।

रजनी

दोनों प्रकार के सम्प्रज्ञात योग एवं असम्प्रज्ञात योग का मोक्ष निमित्तकत्व यहाँ पर अभिमत है। इन दोनों प्रकार के योगों का मोक्षहेतुत्व स्वीकृत है। परन्तु दोनों के मोक्षहेतुत्व में कारण भिन्न है। सम्प्रज्ञातयोग का तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा क्लेशादि के उच्छेदक होने के कारण मोक्षकारणत्व अङ्गीकृत है। सम्प्रज्ञात योग में ध्येय पदार्थों के सत्यस्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है। योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि :–

"सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योगः इति सम्प्रज्ञातयोगः।" (यो0वा0, 1/1)

वस्तुतः एकाग्र भूमिक चित्त में जो समाधि लगती है वह परमार्थभूत ध्येय तत्त्व का साक्षात्कार कराती है। इस तत्त्व दर्शन के समनन्तर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि पाँचों क्लेशों का तनुत्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अविद्या आदि क्लेशों के उच्छेदन होने से प्रकृति एवं पुरुष की बन्धकारक धर्माधर्म रूप ग्रन्थि शिथिल हो जाती है। अतः ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध अविद्यादि क्लेशों से प्रशिथिलीकृत धर्माधर्मरूप अदृष्ट जात्यादिरूप फल के उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार :–

"यस्तु समाधिरेकाग्रे चेतसि वर्त्तमानोऽर्थं ध्येयं वस्तु सद्भूतं परमार्थभूतं प्रकर्षेण द्योतयति साक्षात्कारयति ततश्च क्लेशानविद्याऽदीन् पञ्च क्षिणोति ततोऽपि च कारणोच्छेदाद्धर्माधर्मरूपाणि बन्धनानि बुद्धिपुरुषयोर्बन्धकारणानि श्लथयति अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति ....।" (यो0वा0, 1/1)

इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा योग के विघ्नकारक अविद्यादि क्लशों के उच्छेदक होने से यह सम्प्रज्ञात योग मोक्षनिमित्तक है।

असम्प्रज्ञात योग का समस्त वृत्तियों के संस्कारों के दग्ध होने से प्रारब्ध कर्म का भी अतिक्रम हो जाने से मोक्षहेतुत्व स्वीकृत है। यह असम्प्रज्ञात समाधि मोक्ष का साक्षात् हेतु है। सम्प्रज्ञात योग में एकाग्र चित्त की सात्त्विक अक्लिष्टात्मक ध्येयाकार वृत्ति अवशिष्ट रहती है। असम्प्रज्ञात योग में इस ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इससे वृत्ति रहित चित्त संस्कारशेष अवस्था में रहता है। कहा भी गया है योगसूत्रकार के द्वारा, जैसे :–

"विरामप्रत्ययाभ्यासो संस्कारशेषोऽन्यः।" (यो0सू0. 1/18)

वृत्ति से संस्कार एवं संस्कार से वृत्ति – यह क्रमिक ज्ञान होता है। अतः चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर भी तज्जन्य संस्कारों का निरोध नहीं होता है। क्योंकि वृत्तियाँ संस्कारों का निमित्तकारण मात्र है, न कि उपादान कारण। संस्कारों का उपादानकारण चित्त है। अतः असम्प्रज्ञातयोग की प्रारम्भिक अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य संस्कारों के उपादानकारणभूत चित्त के रहने से वृत्तिजन्य संस्कारों की स्थिति स्वीकृत है। किन्तु निरोध की परम्परा से जन्य दृढ़तर निरोध संस्कारों से चरम असम्प्रज्ञात योग मे चित्तस्थिति का बीजभूत तत्त्वज्ञानपर्यन्त संस्कारों का पूर्णरूप से दग्ध होने पर, दग्धबीजभाव इस योग को निर्बीज योग भी कहा जाता है। योगवार्त्तिक में कहा गया है :–

"तदवस्थं निरोधावस्थं चित्तं संस्कारोपगं संस्कारमात्रानुसारि संस्कारमात्ररूपेण प्रशान्तवाहिता भवति। सेयं प्रशान्तवाहिता स पूर्वोक्तो निर्बीजः समाधि निरोधयोगः, न किञ्चित् तत्र योगे जायत इति विग्रहेणा–सम्प्रज्ञातनामा चेति वाक्यार्थः। असम्प्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहान्निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः।" (यो.वा. 1/2)

पूर्व–पूर्व असम्प्रज्ञातयोगियों में दुःखजनकसंस्कारों के क्रमशः क्षीणत्व प्राप्त होने से निर्बीजत्व भी गौण है। निरोध संस्कारों का अभिभव हेतु साधक को अतिरिक्त प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस प्रकार एक लकड़ी के जल जाने पर उसमें वर्त्तमान अग्नि स्वतः निर्वापित हो जाता है, ठीक् उसी प्रकार पुरुष के भोगपुरस्सर मोक्ष के सम्पादनार्थ तत् पुरुष के साथ सम्बद्ध हुआ पृथक्–पृथक् चित्त समाप्ताधिकार हो जाने से निरोधात्मक संस्कार के सहित अपने मूलकारण प्रकृति में स्वतः लीन हो जाता है। एतावता निरोधसंस्कारावस्थ चित्त के निरोध निमित्त कोई अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति में लीन हुए निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त का पुनरुद्भव नहीं होता है, क्योंकि चित्त के पुनरुत्थान का कारण अविद्या प्रसंख्यानाग्नि से पूर्णतया दग्ध हो चुकती है।

अतः क्लेशसहित कर्माशय तथा जाति, आयुः, भोग का दाह सम्प्रज्ञातयोग में हो जाता है। यह सम्प्रज्ञातयोगप्राप्त योगी भी प्रारब्ध कर्मों का फलोपभोग द्वारा क्षय करके मोक्षपद पर प्रतिष्ठित हो सकता है

और असम्प्रज्ञातयोग द्वारा प्रारब्धकर्म का अतिक्रमण करके मोक्ष को अतिशीघ्र प्राप्त कर सकता है।

पुरुष के आत्यन्तिकस्वरूपावस्थिति में हेतुभूत चित्तवृत्तिनिरोध को ही यहाँ योग कहा गया है। किन्तु यम, नियम, आसन आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान करते हुए उन्हे भी योग पद से अभिहित करते हैं। अन्यत्र जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि में भी योग पद का प्रयोग किया गया है। जबकि यह चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणक नहीं है। अतः यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यम, नियमादि योगाङ्ग एवं ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि योग के साधन एवं मोक्ष के उपाय होने से इनमें प्रयुक्त योग शब्द गौण है। चित्तवृत्ति निरोध लक्षणक योग ही प्रधान है जो कि पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति में कारण है।

(चित्त की वृत्तियाँ, उनके स्वरूप तथा भेद)

अथ का निरोद्धव्याश्चित्तवृत्तयः, को वा निरोध इति ? उच्यते, प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति पञ्चविधाश्चित्तवृत्तयः। इच्छाकृत्यादि–रूपवृत्तीनां च एतन्निरोधेनैव निरोधो भवति।

अनुवाद

अब कौनसी चित्तवृत्तियाँ निरोध योग्य हैं तथा निरोध किसे कहते हैं ? प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति – ये पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियाँ है। इच्छा, कृति आदि वृत्तियों का निरोध उपर्युक्त पाँच वृत्तियों के निरोध से ही हो जाता है।

रजनी

चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर योगसिद्ध होता है। यहाँ पर स्वतः यह शङ्का होती है कि चित्तवृत्तियाँ क्या है ? वृत्ति किसे कहते हैं ? उनका निरोध कैसे किया जाता है ? निरोध क्या है ? व्याकरणशास्त्रानुसार यह वृत्तिशब्द "वृतु" वर्त्तने धातु से स्त्रीत्व की विवक्षा में क्तिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। सांख्ययोगदर्शन में चक्षुरादि इन्द्रियों का अपने विषय के साथ जो सम्बन्ध प्राप्त होता है वह व्यापार पद से अभिहित है। बाह्यकरणों का जो व्यापार देखा जाता है वह अन्तःकरणात्मक चित्त का भी स्वीकार किया जाता है। अतः सामान्यतः यह वृत्ति व्यापारविशेष को प्रकाशित करता है। सांख्ययोगशास्त में जिस प्रकार प्रकृति का सृष्ट्यात्मक परिणाम स्वीकृत है, उसी प्रकार चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम है। वृत्तियाँ

चित्त के ज्ञान की भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ है। अतः वृत्तियाँ चित्त का ज्ञानात्मक परिणाम है यह सिद्धान्ततः कहा जा सकता है।

ये ज्ञानात्मक वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट इस प्रकार से दो जाति से व्याख्यात है। इन दोनों में से चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण के प्राबल्य होने पर क्लिष्टात्मक चित्त वृत्तियों का उदय होता है और चित्त की सात्त्विक दशा में अक्लिष्टात्मक चित्तवृत्तियों का उदय होता है। क्लिष्ट वृत्तियों के प्रभाव के कारण चित्तचाञ्चल्य होता है एवं अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रभाव से चित्त एकाग्रता का अनुभव करता है। क्लेशमूलक चित्त की क्लिष्टवृत्तियाँ कर्माशय को पुष्ट करती है। प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान को उत्पन्न करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ गुणाधिकार की विरोधिनी होने से कर्माशय को शिथिल करती है। कहा भी गया है भाष्यकार व्यास के द्वारा :–

"क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषयाः गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः।" (व्या0भा0, 1/5)

वस्तुतः वृत्तिशब्द वर्त्तते अनया रीत्या इति वृत्तिः इस प्रकार से निष्पन्न होने के आधार पर चित्त जिस किसी भी अवस्था विशेष में रहता है उसे चित्तवृत्ति कह सकते हैं। इस प्रकार से चित्त की अनन्त अवस्था होने के कारण वृत्तियाँ भी असंख्य होनी चाहिए। इन वृत्तियों की अनन्तता होने पर भी योगशास्त्र पाँच प्रमुख वृत्तियों का उपदेश करता है और यह कहता है कि इन पाँचों में ही अन्य वृत्तियों का अन्तर्भाव करना चाहिए। योगशास्त्र में ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार से स्वीकृत है। जैसे :– प्रमाणवृत्ति, विपर्ययवृत्ति, विकल्पवृत्ति, निद्रावृत्ति और स्मृतिवृत्ति। जैसे योगसूत्र में कहा गया है कि :–

"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।" (यो0सू0, 1/6)

न्यायवैशेषिक आदि दर्शनसम्प्रदायों में इच्छा, कृति आदि को भी वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इन वृत्तियों का भी निरोध उपर्युक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति – इन पाँच वृत्तियों के निरोध से ही हो जाएगा। इसलिए इनका पृथक् निर्देश आवश्यक नहीं है। अतः योगशास्त्रोक्त इन पाँच चित्तवृत्तियों के निरोध से ही योगसिद्ध होगा। इसलिये प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ही पाँच वृत्तियाँ ही सिद्ध होती हैं।

(प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति)

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। इन्द्रियद्वारा या बुद्धेर्यथार्था वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ईश्वरसत्त्ववृत्तेः संग्रहाय तज्जातीयत्वमत्र विवक्षणीयम्। बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद् बुद्धेरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थे संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूषानिक्षिप्तद्रवताम्रवत्। तथा च सांख्यसूत्रम् :–

"भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति।"इति।

बुद्धिर्विषयेषु सम्बन्धार्थों सर्पति गच्छति इति हेतोः वृत्तिर्न बुद्धेर्भागोऽग्नेः स्फुल्लिङ्गवद् विभक्तांशो बुद्धेरिच्छादिवद् गुणश्च न भवति, द्रव्यस्यैव क्रियासम्भवादित्यर्थः। सा च वृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता यद्भासते तदेव प्रमाणस्य फलं प्रमेत्युच्यते। तदेव द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यमप्युच्यते।

अनुवाद

इन (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इस प्रकार पाँच वृत्तियों) में से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणवृत्ति है। इन्द्रियों द्वारा बुद्धि की जो यथार्थ वृत्ति होती है, वह प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति है। ईश्वर की सत्ता का निश्चय करने वाली वृत्ति को भी प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति में ग्रहण करने हेतु उसके जातित्व को यहाँ पर कहना चाहिए। बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा के समान बुद्धि का अग्रभाग है, जिसके द्वारा चित्त का एकाग्रता रूप व्यवहार होता है। वह अग्रभाग ही साँचे में डाला गया पिघला हुआ ताँवा की तरह इन्द्रिय द्वारा बाह्यविषय के साथ सन्निकर्ष होने पर उस विषयाकार में परिणत हो जाता है। सांख्यसूत्र में कहा गया है कि :–

"भाग और गुण से भिन्न एक अन्य ही तत्त्व वृत्ति है, वही विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विषय देश तक जाती है।"

क्योंकि बुद्धि विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु जाती है, इस कारण वृत्ति न तो अग्नि के स्फुलिङ्ग की तरह विभक्तांश बुद्धि का भाग है और न तो इच्छा आदि के समान गुण है, क्योंकि द्रव्य में ही क्रिया सम्भव है। और वह वृत्ति जो पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर प्रतिभासित होती है वह ही प्रमाण का फल, (अर्थात्) प्रमा कहलाती है। और उसी को ही द्रष्टा की वृत्ति का सारूप्य भी कहा जाता है।

रजनी

'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं और इससे उत्पद्यमान ज्ञान को प्रमा शब्द से अभिहित किया जाता है। स्वयं विज्ञानभिक्षु प्रमाण एवं प्रमा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि :-

"अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति।" (यो0वा0, 1/7)

अर्थात् अनधिगत पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं और प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाणवृत्ति विपर्यय आदि चारों वृत्तियों के आधारस्तम्भ होने के कारण इसका निर्वचन सर्वप्रथम किया जाता है।

यह प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है। यथा – प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमान–प्रमाण और आगमप्रमाण। इन तीन प्रकार के प्रमाणों से तीन प्रकार के प्रमा उपलब्ध होते हैं। जैसे – प्रत्यक्षप्रमाण से प्रत्यक्षप्रमा, अनुमानप्रमाण से अनुमितिप्रमा तथा आगमप्रमाण से शाब्दप्रमा। प्रमाणवृत्ति के अतिरिक्त अन्य विपर्यय आदि वृत्तियों में प्रमा उत्पन्न नहीं होती है। यह प्रमा इस शास्त्रसम्प्रदाय में पुरुषनिष्ठ के रूप से स्वीकृत होने के कारण पौरुषेयबोध के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति इन्द्रिय से बुद्धि की जो यथार्थ वृत्ति होती है उसे कहते हैं। इस दर्शन में विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति प्रत्यक्षादि पौरुषेयबोध के प्रति कारण के रूप में अङ्गीकृत है। अर्थात् चित्त का इन्द्रियरूप प्रणाली के द्वारा शरीर से बाहर जाकर बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध होने से वह चित्त उस विषय के आकार से आकारित हो जाता है। जैसे चित्त चक्षुरिन्द्रियरूपी नालिका के माध्यम से घट आदि बाह्य पदार्थ के साथ सम्बन्धित होकर तदाकाराकारित हो जाता है। और उस सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के विशेष का प्रधानतया निश्चय करने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण है। उदाहरण के द्वारा देखा जा सकता है जैसे बाँध आदि के द्वारा रोका हुआ नदी का जल कृषक द्वारा बनाए गए मार्ग से खेत में प्रविष्ट होकर क्यारियों के आकार से आकारित हो जाता है। ठीक् उसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान चित्त जल की तरह इन्द्रियरूपी प्रणाली के द्वारा बाहर निकलकर विषय देश में पहुँचता है और तदाकाराकारित में परिणत होता है। इस प्रकार विषय के आकार में आकारित होने वाले चित्त के उस परिणाम को चित्त की वृत्ति कहते हैं।

विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति से होने वाले पौरुषेयबोध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य–योग दार्शनिकों का मतैक्य प्राप्त नहीं होता है। जैसे वाचस्पति मिश्र आदि सांख्य–योग–व्याख्याकार बिम्बप्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं, जब कि श्रीविज्ञानभिक्षु आदि परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद को मानते हैं। परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद में श्रीविज्ञानभिक्षु आदि आचार्य वृत्ति एवं पुरुष के अन्योऽन्यविषयतारूप सम्बन्ध के द्वारा एक दूसरे में प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार जिस प्रकार से विषयाकाराकारित चित्त में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है, ठीक् उसी तरह पुरुष में सुख, दुःख आदि विषयिणी चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित होती है। इसी कारण पुरुष सुख, दुःख आदि वृत्तिवाला कहा जाता है। पुरुष की यह विषयाकारता अभिमानरूप है, बुद्धि की यह विषयाकारता परिणामरूप है। पुरुष की अभिमानात्मक अर्थाकारता बोधरूप है, स्फटिक में प्रतिफलित जपाकुसुम की सदृश उपरक्तरूप नहीं है।

उपर्युक्त प्रत्यक्षलक्षण से जन्यप्रत्यक्ष का ही ग्रहण किया गया है। ईश्वरप्रत्यक्ष अर्थात् ईश्वर की चिद्रूपता प्रत्यक्षात्मकता इन सामान्य इन्द्रियों से नहीं हो सकता है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप होने से नित्यज्ञानवान् है। अतः इस ईश्वर की प्रत्यक्षता में सत्ता को स्वीकार करने के लिए प्रमाण वृत्ति में उसके जातित्व को स्वीकार करना चाहिए। जिसके द्वारा हम ईश्वर का प्रत्यक्ष कर सके।

चित्त इन्द्रियरूपी केदार के द्वारा बाहर निकल कर विषय देश में उपस्थित होते हुए घटपटादि विषयों से विषयाकाराकारित होकर 'अयं घटः', 'अयं पटः' यह ज्ञान प्राप्त करता है। बुद्धि की यह वृत्ति प्रदीप की शिखा के अग्रभाग सदृश है। जिस प्रकार प्रदीप की शिखा के अग्रभाग द्वारा प्रदीप का मुख्य कार्य प्रकाशन सम्पन्न होता है, उसी प्रकार बुद्धि भी अपनी वृत्ति द्वारा चित्त की एकाग्रता में व्यवहृत होती है। जिस समय चित्त जिस अर्थ के सम्पर्क में आता है, तब वह वृत्ति ही उस अर्थाकार में परिणत हो जाती है। यह परिणति साँचे में डाला गया पिघला हुआ ताँबा की तरह है। जैसे पिघले हुये ताँबे को साँचे में डालने पर वह ताँबा साँचे के आकार में परिणत हो जाता है वैसे ही चित्तवृत्ति भी जब विषय के साथ सम्बद्ध होती है तब वह विषयाकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान लब्ध होता है।

इस प्रसङ्ग को अधिक स्पष्ट करने हेतु श्रीविज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र से एक सूत्र को उदाहरण के रूप में उपस्थापन किया है। यथा :–

"भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति।" (सां0सू0, 5/107)

अर्थात् भाग और गुण से भिन्न एक अन्य ही तत्त्व वृत्ति है। वही विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विषयप्रदेश तक जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अग्नि से विभक्तांश चिन्गारी की सदृश चक्षुरादि का भाग और रूप आदि की तरह गुणवृत्ति नहीं हो सकती है। यह वृत्ति उस इन्द्रिय की एकदेशभूत 'भाग और गुण से सर्वथा अतिरिक्त स्वीकार्य है।' यदि वृत्ति को इन्द्रिय का अंश माना जाए तो वृत्ति द्वारा चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य आदि के साथ सम्बन्ध घटित नहीं होता है और उसे गुण माने जाने पर सर्पण रूप क्रिया की असिद्धि भी हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धिवृत्ति भी प्रदीप की शिखा की तरह द्रव्यरूप परिणाम ही है। वह निर्मल वस्त्र की तरह अतिस्वच्छ होने के कारण विषय के आकार को ग्रहण करने में समर्थ रहती है।

अतः यह वृत्ति जो पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर उद्भासित होती है, वही प्रमाण का फल है। उसे ही प्रमा कहा जाता है। इस समय वृत्तियों के सरूपता को पुरुष प्राप्त करता है। योग की अवस्था में प्रमाणादि चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। परन्तु जब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध न होकर स्वकीय कार्य करते रहते हैं, उस व्युत्थान अवस्था में चित्तवृत्तियों के साथ द्रष्टा चितिशक्ति का समानरूपता प्रतीत होती है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा भी है :-

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र।" (यो0सू0, 1/4)

(अनुमान तथा आगम प्रमाण वृत्ति)

लिङ्गजन्या वृत्तिः अनुमानं प्रमाणम्। शब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणम्। फलं तु सर्वत्र पौरुषेयो बोध एव, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेरिति। विपर्ययवृत्तिश्च मिथ्याज्ञानं दोषजन्यम्। विकल्पवृत्तिस्तु राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिरूपा। तस्याश्च विशेषदर्शनानिवर्त्यतामात्रेण विपर्ययाद्भेदः। निद्रावृत्तिश्च सुखमहमस्वाप्समित्यादिस्मृतिहेतुरनुभवः सुषुप्तिकालीनः सुखादिविषयः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्या वृत्तिरिति वृत्तयो व्याख्याताः।

अनुवाद

लिङ्ग के द्वारा उत्पन्न होने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है। और शब्द से उत्पन्न होने वाली वृत्ति शब्दप्रमाण है। सर्वत्र (प्रत्यक्ष, अनुमान

और शब्द में) पौरुषेयबोध ही फल है, (क्योंकि) पुरुषार्थ के लिए ही करणों की प्रवृत्ति होती है। और दोष हेतु से उत्पन्न होने वाला मिथ्याज्ञान विपर्यय वृत्ति है। 'राहु का शिर', 'पुरुष का चैतन्य' इत्यादि स्वरूपवाला विकल्प वृत्ति ही है। और उसका विशेषदर्शन होने पर भी निवृत्त न होने मात्र से विपर्यय से भिन्नता है। और निद्रा वृत्ति 'सुख पूर्वक मैं सोया था' इत्यादि प्रकारक स्मृति के हेतुभूत अनुभव सुषुप्ति कालीन सुखादिविषयक है। और स्मृतिज्ञान केवल संस्कार से उत्पन्न होने वाला वृत्तिविशेष है। इस प्रकार वृत्तियाँ व्याख्यात है।

रजनी

अनुमान व्याप्तिगर्भक होता है। यह व्याप्ति हेतु और साध्य के नियत सहचरता को बताता है। जैसे – 'पर्वत वह्निमान्, धूमवत्त्वात्' इस उदाहरण वाक्य में हेतु धूम के साथ वह्नि साध्य का व्याप्तिसम्बन्ध निश्चित है। जैसे पाकशाला में धूम के साथ साथ वह्नि का रहना एवं जलह्रद में वह्नि के अभाव के दर्शन में धूम के अभाव का भी दर्शन होना। इस प्रकार व्याप्तिसम्बन्ध का अवगाहन करने वाला कोई पुरुष जब पर्वत आदि पर अविच्छिन्न उठता हुआ धूमलेखा को देखता है तब उसकी 'वह्निव्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः', इस प्रकारक चित्तवृत्ति बनती है। इसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। उसके बाद चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को 'अहं वह्निमनुमिनोमि' इत्याकारक ज्ञान होता है। यह अनुमिति प्रमा है। इस अनुमान प्रमाण से पर्वत आदि पक्ष प्रदेश में रहने वाले वह्नि आदि साध्य का धूम आदि लिङ्ग से सामान्यरूप का ही ज्ञान होता है, न कि प्रत्यक्ष की तरह विशेषरूपता का ज्ञान है। इस हेतु से अनुमान को सामान्यावधारणप्रधाना वृत्ति कहते हैं। यह अनुमेय (साध्यविशिष्ट पक्ष) साध्यरूप से तुल्यजातीय "सपक्षों" में अनुवृत्त रहता है और अतुल्यजातीय "विपक्षों" से व्यावृत्त रहता है। इस व्याप्ति के अनुसार साध्य में पक्षवृत्तिता रहती है।

यह व्याप्ति दर्शनशास्त्रों में दो भागों से विभक्त है। जैसे :– अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति। अन्वयव्याप्ति से चन्द्र, तारों आदि की गतिशीलता मनुष्य के सदृश उनके दूसरे देश में दिखलाई पडने से अनुमिति ज्ञान होता है। व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा बिन्ध्यपर्वत आदि का स्थानान्तरण चन्द्र आदि की तरह न होते देखकर उनकी गतिशून्यता का अनुमिति ज्ञान होता है।

शब्द

भ्रम, प्रमाद, प्रवञ्चना, चक्षुरादि त्रयोदश करणों के असामर्थ्यादि दोषों से रहित आप्तपुरुष अपने ज्ञान को शब्दोच्चारण के द्वारा श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में संक्रमित करता है। उसके बाद वक्ता के शब्द को सुनकर श्रोता की शब्दार्थविषयिणी चित्तवृत्ति बनती है। यह शब्द से उत्पन्न होने के कारण इसे शब्दवृत्ति कहते हैं। तदनन्तर शब्दाकाराकारित वृत्ति से अविशिष्ट हुए प्रतिबिम्बित पुरुष को शाब्दप्रमा जन्य पौरुषेयबोध होता है। योगशास्त्र में अविश्वस्त व्यक्ति के शब्दों को प्रमाण नहीं माना गया है। क्योंकि उनका कथन प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित होता है। यहाँ आगम प्रमाण आप्तश्रुति को कहा गया है। आप्तपुरुष यथार्थ वक्ता है, जो कि ईश्वर आदि प्रामाणिक पुरुषों के रूप में स्वीकृत है। वेदोच्चारित शब्द से जन्य शब्दबोध भी आगम प्रमाण है।

प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण और शब्दप्रमाण इन तीनों का फल पौरुषेयबोध ही है। पुरुषार्थ के कारण ही चक्षुरादि करणों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

विपर्यय

दोष के कारण उत्पन्न होने वाले मिथ्यज्ञान को विपर्यय वृत्ति कहते हैं। इसमें वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं हो पाता है। नेत्र सम्बन्धी काचकामलादि नेत्रदोष के कारण एक चन्द्रमा के जगह दो चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगता है। सूर्यकिरण के सम्पर्क से शुक्ति में रजत का ज्ञान होना अर्थात् यह रजत है इस प्रकार की वृत्ति बनती है। इस बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को "मैं दो चन्द्रों का दर्शन कर रहा हूँ" और "मैं रजत जान रहा हूँ" इस प्रकार का बोध होता है। उक्त ज्ञान में जिस विशेषण तथा विशेष्य वाला रूप प्रतिभासित होता है, उसका उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से बाध हो जाता है। विपर्यय ज्ञान की यह अतद्रूपप्रतिष्ठता जैसे एकवस्तुविषयक होती है वैसी ही दो वस्तु विषयक भी होती है। जैसे – अयं स्थाणुः पुरुषो वा – इस प्रकारक संशयात्मक ज्ञान भी विपर्ययवृत्ति के रूप में स्वीकृत है। यह विपर्यय अविद्या के नाम से भी जाना जाता है। यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के भेद से पाँच प्रकार से योगसूत्र में व्याख्यात है।

विकल्प

शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से प्रतीत होने वाली तथा वस्तुशून्यविषयिणी वृत्ति को विकल्पवृत्ति कहा जाता है। योगसूत्र में पतञ्जलि इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि :–

"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।" (यो0सू0, 1/9)

विकल्पवृत्तिजन्य ज्ञान विपरीत बुद्धि से बाधित नहीं होता है। विपरीत बुद्धि के पश्चात् भी विकल्पात्मक व्यवहार चलता रहता है। जैसे 'राहो शिरः', 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इन वाक्यों से राहु एवं शिर तथा पुरुष एवं चैतन्य इस प्रकार से दो भिन्न विषयक चित्तवृत्ति बनती है। जबकि यथार्थरूप से शिर ही राहु पद से व्यवहृत होता है तथा चैतन्य पुरुष से भिन्न कोई उसका गुणविशेष नहीं है, अपितु चैतन्यमात्र ही पुरुष है। अतः शब्द के द्वारा ही वस्तु के अभाव में उस वस्तुविषयक जो चित्तवृत्ति बनती है वही विकल्पवृत्ति है।

विपर्ययवृत्ति जन्य पौरुषेयबोध उत्तरकालीन यथार्थ ज्ञान से बाधित हो जाता है। जैसे उत्तरकालीन एकचन्द्र दर्शन से विपर्ययात्मक बोध द्विचन्द्र दर्शन का बाध होता है। परन्तु विकल्पवृत्तिजन्य पौरुषेय–बोध किसी के ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होता है। दोनों ही ज्ञान मिथ्याज्ञान होने पर भी यही इन दोनो में मौलिक भेद है।

निद्रा

साधारणरूप से चित्त की तीन अवस्थाएँ स्वीकृत है। जैसे :– जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। चित्त त्रिगुणात्मक होने से इसमें ज्ञान, प्रवृत्ति और जड़ता का आविर्भाव होता है। चित्त के रजोगुण से युक्त सत्त्वगुण की प्रधानता में जाग्रत और स्वप्न काल की प्रमाणविपर्ययादि वृत्तियाँ प्राप्त होती है। इनके 'अयं घटः, अयं पटः' इत्याकारक यथार्थ एवं शशश्रृङ्ग, खपुष्पादि वस्तुशून्य विषयक पदार्थ विषय होते हैं। परन्तु यह निद्रावृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के हेतुभूत अज्ञान को विषय करती है। इस समय चित्त के विषयाकार होने में द्वारभूत चक्षुरादि इन्द्रियाँ तमोगुण के द्वारा आवृत्त रहती हैं। चित्त एवं बाह्य विषय का सम्बन्ध न होने के क़ारण चित्त का बाह्यविषयाकार परिणाम नहीं होता है। इस निद्रावृत्ति को स्पष्ट करने के लिए पतञ्जलि योगसूत्र में कहा है कि :–

"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।" (यो०सू०, 1/10)

निद्रा से उठने के बाद स्मरणात्मक ज्ञान होने से यह वृत्ति विशेष है। निद्रा की अवस्था में चित्त के त्रिगुणात्मक होने से सत्त्वादि गुणों में तरतमभाव प्राप्त होता है। तमोमयी निद्रावस्था में जिस समय जिस गुण का प्राधान्य रहता है, उस समय उसी के अनुरुप चित्त की वृत्ति बनती है। जैसे सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण सुखाकार, रजोगुण की प्रधानता के कारण दुःखाकार एवं तमोगुण की प्रधानता के कारण मूढ़ाकार वृत्ति होती है। उदाहरण स्वरूप यदि उस सुषुप्तिकालिक चित्त में सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है तो उस समय व्यक्ति के चित्त में सुख का ज्ञान होता है एवं प्रबुद्ध होने पर "सुखम् अहम् अस्वाप्सम्" इस प्रकार के अनुभव की कल्पना करता है। यदि सुषुप्ति की अवस्था में रजोगुण का प्रधान्य होता है तो चित्त में दुःख का अनुभव होता है और जगने पर "दुःखम् अहम् अस्वाप्सम्" इस प्रकार की वृत्ति की कल्पंना करता है और यदि तमोगुण का तामसी निद्रा में चित्त पर प्रभुत्व स्थापन करता है तो चित्त में मूढ़ाकार वृत्ति बनती है। उस व्यक्ति के जागरण होने पर "गाढमूढ़म् अहम् अस्वाप्सम्" इस प्रकार का स्मरणात्मक ज्ञान होता है।

पृथक्–पृथक् विषय वाली वृत्तियों के निरोधपूर्वक चित्त का ध्येयाकारपरिणाम सम्प्रज्ञात योग है, और केवल तमोविषयिणी चित्तवृत्ति निद्रा है। चित्त की एकाग्र अवस्था में निद्रा वृत्ति का उदय होता है क्योंकि इस समय चित्त एकमात्र तमोरूप ध्येय पदार्थ के आकार में ही परिणत होता है। परन्तु एकाग्र चित्त की तमस् के आकार वाली इस निद्रा को सम्प्रज्ञात योग कह नहीं सकते क्योंकि सम्प्रज्ञातयोगकालिक चित्त की ध्येयाकारता एवं निद्राकालिक चित्त की ध्येयाकारता समान नहीं है। योग में ध्येयाकारता प्रयत्नसापेक्ष है किन्तु निद्रा में यह प्रयत्ननिरपेक्ष है। सम्प्रज्ञातयोग में ध्येयाकारता सत्त्वगुणात्मिका होती है और निद्रा में यह तमोगुणात्मिका होती है। निद्रा तामसी होने के कारण यह सम्प्रज्ञात समाधि के प्रतिपक्ष है। इसलिए इसका निरोध योगसिद्धि हेतु आवश्यक है।

स्मृति

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभूतविषय का तदनुरूप आकार से युक्त वृत्ति को स्मृति कहते हैं। यह केवल संस्कार से उत्पन्न होने वाली वृत्ति है। इसके लक्षण को दिखाते हुए पतञ्जलि कहते हैं :–

"अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोष स्मृतिः।" (यो०सू०. 1/11)

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार यह लक्षण प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्त होने से स्मृति का सामान्य लक्षण है। योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि इस लक्षण में "संस्कारमात्रजन्यत्वं" विशेषण को ग्रहण करना चाहिए। जैसे :–

"अत्र प्रत्यभिज्ञाऽऽदिव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वमेव स्मृतिलक्षणम्, सूत्रकारेण तु स्मृतेः प्रायिकं स्वरूपमेवोक्तम्, तेन न प्रमुष्टतत्ताक–स्मरणाव्याप्तिः। अथवा सूत्रोक्तमेव लक्षणम् तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम्। प्रमुष्टतत्ताकं तु संस्कारमात्रजन्यमपि ज्ञानमनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्, शाब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ स्मरामीति स्फुटं व्यवहार–दर्शनाद्।" (यो०वा०. 1/11)

चित्र

(निरोध का निर्वचन)
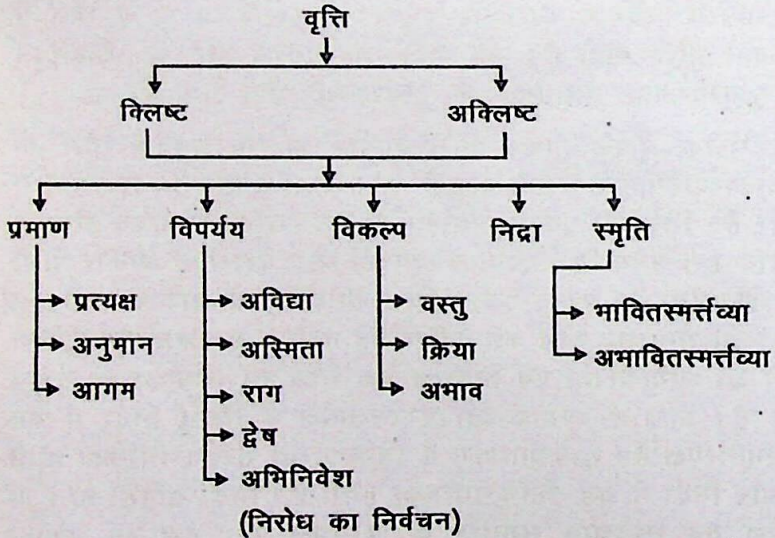
प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होने पर भी केवल संस्कारजन्य नहीं है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति के प्रति संस्कार एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष दोनों कारण है। परन्तु यह विशेषण अनुपयोगी प्रतीत होता है। सम्प्रमोष पद सम्+प्र उपसर्गपूर्वक "मुष्" स्तेये धातु से निष्पादित है। न सम्प्रमोषः इस प्रकार के नञ् समास से असम्प्रमोष सिद्ध होता है। स्मरण ज्ञान के स्थल में इसका अर्थ है कि अनुभूतविषय से अतिरिक्त विषय का ग्रहण न

करना। यह सर्वदा ज्ञानविषयिणी होती है। इस प्रकार से "सोऽयं देवदत्तः" इस प्रत्यभिज्ञा वाक्य में तत्कालविशिष्ट देवदत्त एवं एतद्कालविशिष्ट देवदत्त रूप ज्ञान का अनुभूतविषयातिरिक्त विषय का सम्प्रमोषत्व होने से स्मृति के अन्तर्गत नहीं आता है। परन्तु श्रीविज्ञानभिक्षु ने केवल संस्कार से उत्पन्न होने वाली वृत्ति को स्मृति कहा है।

निरोधो व्याख्यायते। निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वा, अभावानङ्गीकारात्, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेश्च। किन्तु वृत्तितन्निरोधौ चित्तस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे एव गतिप्रत्यागति–वत्पुरुषप्रयत्नजन्ये, प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्योन्याभावत्वे विनिगमकाभावात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यरूपवैविध्यानुपपत्तेश्चेति। अतश्च भावत्वाविशेषाद् वृत्त्येव निरोधेनापि संस्कारो जन्यते, संस्कारबृद्धिं विनाऽनुदिनं योगस्य कालबृद्धौ नियामकान्तरासम्भवादिति दिक्।

अनुवाद

(अब) निरोध की व्याख्या की जा रही है। यह निरोध न तो (वृत्तियों का) नाश है, न तो (उन वृत्तियों का) अभाव सामान्य है, क्योंकि (सांख्ययोगदर्शन में) अभाव की सत्ता का अङ्गीकार नहीं किया जाता है और आगे कहे जाने वाले "यह संस्कार को उत्पन्न करने वाला है" इसकी भी अनुपपत्ति हो जाएगी। किन्तु चित्त की वृत्ति और उन वृत्तियों के निरोध में चित्त का अपने विषय में भावरूपा प्रवृत्ति और निवृत्ति है, जिस प्रकार गति एवं प्रत्यागति ये दोनों ही पुरुष के प्रयत्न से होने वाले हैं। क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों को अन्योऽन्याभाव स्वीकार करने में प्रमाण का अभाव है। और प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा औदासीन्य रूपों की विविधता की अनुपपत्ति हो जाएगी। अतः भावत्व की समानता होने के कारण वृत्ति के सदृश ही निरोध के द्वारा भी संस्कार उत्पन्न होते हैं, क्योंकि संस्कारबृद्धि के बिना योग की कालबृद्धि को स्वीकार करने में कोई अन्य नियम सम्भव नहीं है।

रजनी

"योगः चित्तवृत्तिनिरोधः" इस योगसूत्रकार पतञ्जलि के द्वारा प्रतिपादित सूत्र से यह ज्ञात होता है कि चित्तवृत्तियों के निरोध हो जाने पर योग सिद्ध होता है। यहाँ चित्तवृत्तियों के निरोध पद से हम क्या ग्रहण कर सकते हैं? यहाँ यह निरोध नाश अर्थ को द्योतित नहीं

कर सकता, क्योंकि सांख्य–योग दर्शन सम्प्रदाय में सत्कार्यवाद स्वीकृत है। यह दर्शन "कार्यं सत्, तत् अव्यक्तरूपेण कारणे तिष्ठति" इति न्याय को स्वीकार करता है। नाश उसी पदार्थ को प्राप्त होता है जो कभी उत्पन्न हुआ हो, परन्तु सांख्य–योग दर्शन में कार्य कारण से केवल अभिव्यक्त मात्रा होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। अतः निरोध नाश नहीं हो सकता। यह निरोध अभावसामान्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि सूत्रकार को चित्तवृत्ति का अभाव ऐसा अभिमत नहीं है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि :–

"चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धाऽत्र दर्शने विभागात्, तस्य यावल्लक्षमाणा वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः, अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्था–विशेषरूपत्वात्, स योग इत्यर्थः।" (यो0वा0, 1/2)

अर्थात् योगशास्त्र के अनुसार निवृत्तिरूप अभाव को चित्तरूप अधिकरण का केवल अवस्था विशेष के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः यहाँ वृत्तिनिरोध पद से वृत्तियों का अभाव न होकर वृत्तियों का लय हो जाना अभिमत है। अभाव तथा नाश पदार्थ के अस्वीकरण में श्रीविज्ञानभिक्षु एक अन्य युक्ति की भी उपस्थापना करते हैं। उनके अनुसार जब योगसिद्धि की प्रक्रिया में व्युत्थित वृत्तियों का अभिभव कर दिया जाता है तब उन अभिभूत वृत्तियों के संस्कार चित्त में रहते हैं और कालान्तर में अवसर के अनुसार पुनः अभिव्यक्त हो जाते हैं। यदि वृत्तियों के निरोध को हम नाशरूप में स्वीकार करेंगे, तो उन अभिभूत वृत्तियों से संस्कार तथा कालान्तर में संस्कारों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार संस्कारजनकत्व की अनुपपत्ति हो जाएगी। परन्तु यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वृत्तियों के संस्कार उत्पन्न होते हैं और उनके निरोध हो जाने पर कालान्तर में उनका पुनः आविर्भाव भी होता है। अतः स्पष्टतया यह स्वीकृत होना चाहिए कि वृत्तियों का निरोध नाश नहीं है न तो अभाव है, प्रत्युत भावरूप लयाख्य अधिकरणावस्थाविशेष है।

सामान्यतः पुरुष के अनुकूलतया लभ्य वस्तुओं में प्रवृत्ति एवं प्रतिकूलतया लभ्य वस्तुओं से निवृत्ति तथा दोनों से निरपेक्ष वस्तुओं में उदासीनरूप क्रिया देखी जाती है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही भावात्मक क्रिया है। हम प्रवृत्ति और निवृत्ति का अभाव तथा निवृत्ति को प्रवृत्ति का अभाव इस

प्रकार से अन्योन्याभाव को स्वीकार नहीं कर सकते। मनुष्य के लिए जो सुखदायक होता है उसमें वह प्रवृत्त होता है और जो दुःखदायक होता है उससे वह निवृत्त हो जाता है तथा जब प्रवृत्ति और निवृत्ति से विरक्त होता है तब उदासीन होता है। उसी प्रकार चित्त भी अपने विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप क्रियाओं का सम्पादन करता है। वह राग के कारण किसी विषय में प्रवृत्त तथा द्वेष के कारण किसी विषय से निवृत्त तथा दोनों से निरपेक्ष होने पर उदासीन होता है। द्वेष के कारण विषय में जो निवृत्ति रूपा क्रिया की अभिव्यक्ति चित्त में होती है उसे यदि प्रवृत्ति का अभाव स्वीकार करेंगे तो रागात्मक विषय में उसकी तद्विषयक पुनः प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी। और फिर उदासीन के अनन्तर जो प्रवृत्ति होती है, वह भी सम्भव नहीं हो पाएगा। इस प्रकार अभावरूप को स्वीकार करने पर प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा उदासीन – इस प्रकार से त्रैविध्य क्रिया की उपपत्ति नहीं हो पाएगी।

एकाग्रावस्था में जैसे–जैसे व्युत्थान की वृत्तियों का अभिभव हो जाता है, वैसे–वैसे ही निरोध की वृत्तियों का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। उस समय निरन्तर अभ्यास के अभाव से व्युत्थान की वृत्तियों का आविर्भाव पुनः हो जाता है। अतः निरोध काल में निरन्तर अभ्यास से दृढ़भूमि को प्राप्त होने पर प्रसंख्यान अग्नि से व्युत्थान कालीन संस्कार नष्ट होकर दग्धबीज भाव को प्राप्त कर जाते हैं। जिससे वे पुनः अंकुरित होने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। और निरोध संस्कार अनवरत प्रवृद्ध होकर दृढ़ भूमि को प्राप्त कर जाता है। यह निरोधकालीन संस्कारों की बृद्धि योग अभ्यास के काल बृद्धि होने पर साधक जान पाता है। यदि वृत्तियों के निरोध पद से वृत्तियों के अभाव स्वीकार करते हैं तो यह अनुभव की अनुपपत्ति होने लगेगी। अतः वृत्तियों का निरोध हम न नाश, न तो अभाव स्वीकार कर सकते हैं। अपितु हमें लयाख्य अधिकरणावस्था विशेष को मानना चाहिए।

(योग के भेद, सम्प्रज्ञात योग के स्वरूप)

योगसामान्यं लक्षितम्। तद्विशेष उच्यते। स योगः द्विविधः – सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। तत्र सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयम–स्मिन्निरोध इति सम्प्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः। तथा च ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं सम्प्रज्ञातत्वम्। एकाग्रताविशेष–रूपधारणादित्रयकालीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानां च

व्यावर्त्तनायोपहितान्तम्। धारणादित्रयकालीनस्तु निरोधो न साक्षात्कारहेतुः, विषयान्तरवासनायाः बलवत्ततया प्रतिबन्धात्, योगजधर्मनाश्याधर्मेण प्रतिबन्धाच्चेति। सम्प्रज्ञातरूपो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधश्च विषयान्तरसञ्चाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा च धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारे हेतुर्भवति। चित्तं हि स्वतः एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति। तमसाऽवरणादेव तु न सदा सर्वं गृह्णाति। अतस्तमोबर्धकानां विषयान्तरसञ्चारवासनापापादीनां निरोधाख्ययोगतः क्षये स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति योगशास्त्रसिद्धान्तः। सम्प्रज्ञातस्य चातुर्विध्यमग्रे वक्ष्यते।

अनुवाद

योग का सामान्यलक्षण कह दिया गया है। अब उसका विशेष लक्षण कह रहे हैं। वह योग दो प्रकार का है – सम्प्रज्ञातयोग एवं असम्प्रज्ञातयोग। जिस (चित्तवृत्ति) निरोध में ध्येय का अच्छी तरह से ज्ञान होता है अथवा साक्षात्कार किया जाता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इस अवस्था में ध्येय से अतिरिक्त वृत्तियों का निरोध हो जाना ही इसका वैशिष्ट्य है। और भी ध्येय का साक्षात्कार रूप फल से युक्त निरोधता ही सम्प्रज्ञातत्व है। एकाग्र स्थितियों में विशेषरूप से होने वाले धारणा, ध्यान और समाधि आदि तीनों निरोध एवं प्रलयकाल में होने वाले निरोध से व्यावर्त्तन हेतु उपहितान्त (साक्षात्काराख्यफलोहित–निरोध ......" विशेषण दिया गया है। धारणा आदि तीनों अवस्थाओं में होने वाला निरोध (ध्येय के) साक्षात्कार का कारण नहीं है, क्योंकि उस काल में अन्य विषयों की वासना अधिक बलवान होने से प्रतिबन्ध के कारण और योगजधर्म के द्वारा नष्ट होने वाले अधर्म से प्रतिबन्ध के रूप में विद्यमान रहने के कारण (उस अवस्था में अन्य विषयों की वासना अधिक बलवान होने के कारण बाधक होती है, तथा योगजधर्म के द्वारा नष्ट होने वाला अधर्म भी प्रतिबन्धक के रूप में विद्यमान रहता है)। (यह) सम्प्रज्ञात रूप योग ध्येय से अतिरिक्त वृत्तियों का निरोधक होने से, अन्य विषय में वृत्ति सञ्चरण रूप प्रतिबन्ध का भी निरोधक होने से, और अन्यविषयों की वासनाओं को (निरोध संस्कारों से) अभिभूत कर देने से, और फिर (योगज) धर्म विशेष के द्वारा ध्येय के साक्षात्कार में हेतु होता है। चित्त स्वयं स्वतः ही समस्त विषयों के ग्रहण में समर्थ और विभु है। तमोगुण के द्वारा आवृत्त होने के कारण ही वह (चित्त) सर्वदा समस्त

विषयों को ग्रहण नहीं कर पाता है। इसलिए तमोगुण को बढ़ाने वाले तथा अन्य विषयों में सञ्चरण करने वाले वासना रूप पाप आदि का निरोध संज्ञक योग के द्वारा नष्ट होने पर चित्त के द्वारा स्वयमेव ध्येय वस्तु का साक्षात्कार कर लिया जाता है – यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है। सम्प्रज्ञात योग के चार प्रकार के भेदों को आगे कहा जाएगा।

रजनी

पुरुष के आत्यन्तिक स्वरूपावस्थान में हेतुभूत चित्तवृत्ति–निरोधाख्य योग को योग के सामान्य लक्षण के रूप में ग्रन्थारम्भ में कह दिया गया है। अब इसके भेदोपभेदों का विशिष्ट लक्षण का निर्वचन करना है यह श्रीविज्ञानभिक्षु जी का अभिमत है। यह चित्तवृत्तिनिरोधरूप सामान्यलक्षणक प्रतिपादित योग दो प्रकार से विभाजित है। जैसे – सम्प्रज्ञात योग एवं असम्प्रज्ञात योग। इनमें से जिस चित्तवृत्ति निरोध में ध्येय वस्तु का सम्यक् ज्ञान अथवा साक्षात्कार किया जाता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इस अवस्था में ध्येय से अतिरिक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह ही इसका वैशिष्ट्य है। यह योग एकाग्र भूमिक चित्त में लगती है। इस विषय में चर्चा पहले किया गया है। इस योग की सम्प्रज्ञातता ध्येय विषय का साक्षात्काररूप फल से युक्त निरोधता ही सिद्ध करती है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों एकाग्र अवस्थाओं में होने वाला निरोध और प्रलय काल में होने वाला निरोध ध्येय पदार्थ के साक्षात्कार में हेतु नहीं होता है। क्योंकि उपर्युक्त अवस्था में अन्य विषयों की वासना अधिक बलवान होने के कारण प्रतिबन्धक होता है। इस में योगज धर्म के द्वारा नष्ट होने वाला अधर्म भी प्रतिबन्धक के रूप में अवस्थिति रहता है। इसलिए इनके व्यावृत्ति के कारण श्रीभिक्षु प्रतिपादित लक्षण में "ध्येयसाक्षात्का–राख्यफलोपहितनिरोध" कह गया है। यह सम्प्रज्ञात योग ध्येय से अतिरिक्त विद्यमान वृत्तियों का निरोधक है। तथा अन्य विषयों में वृत्ति सञ्चरणरूप प्रतिबन्ध का भी निरोधक है। यह योग निरोध संस्कारों के द्वारा अन्यविषयों की वासनाओं को अभिभूत कर देता है। यह योगजधर्मविशेष के द्वारा ध्येय वस्तु के साक्षात्कार में कारण होता है।

योगशास्त्र के अनुसार चित्त समस्त विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है। योगसूत्र में पतञ्जलि के द्वारा कहा भी गया है कि :–

"द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।" (यो0सू0 4/23)

इसं सूत्र में आये हुए सर्वार्थ पद को स्पष्ट करते हुए श्रीविज्ञानभिक्षु ने वार्त्तिक में कहा है कि :–

"सर्वे ग्रहीतृग्रहणग्राह्याः पुरुषस्यार्थाः भोग्या अस्मिन्निति सर्वार्थम्।"
(यो०वा०, 4/23)

अर्थात् जिसमें समस्त ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य रूप अर्थ पुरुष के भोग्यरूप हैं, वह सर्वार्थ है। क्योंकि 'अयं घटः' इत्याकारक वृत्ति के पश्चात् "घटमहं जानामि" इत्याकारक ग्रहीतृग्रहणग्राह्याकार अन्य बुद्धिवृत्ति 'अयं घटः' इस वृत्ति के समान ही साक्षिभास्य प्रायः देखी जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य ये तीनों साक्षिपुरुष के भोग्य है। इस सर्वार्थता में द्रष्टृदृश्योपभयाकारता ही हेतु है। शब्दादि पुरुषोभयकारा बुद्धिवृत्ति पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हुई अवभासित होती है। यही बुद्धि दृश्यत्व की भाँति शब्दादि और पुरुष का भी दृश्यत्व है। अतः पुरुष को स्वयं अपने ज्ञान के लिए अपर द्रष्टा पुरुष की अपेक्षा नहीं है और इससे एक ही पुरुष में कर्त्तृत्व और कर्मत्व को लेकर अन्तर्विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि अन्तःकरण मध्यवर्त्ती व्यापार का काम करता है। इससे सर्वार्थ पद के द्वारा भाष्यकाराभिमत बुद्धि पुरुष का अभिन्नाकारत्व भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पुरुषाकारता के अतिरिक्त बुद्धि का पुरुषवत्त्व होना सम्भव नहीं है।

मन स्वयं ही पुरुष का विषय बनता है। इसलिए अपनी चैतन्या-कारावृत्ति से विशिष्ट होकर विषयी पुरुष के आकार से आकारित होता है। यह प्रतिबिम्बातिरिक्त किसी प्रकार के पुरुष की बुद्धि के साथ सम्बद्ध सम्भव न होने के कारण बुद्धिवृत्ति में असङ्ग पुरुष की विषयाकारता प्रतिबिम्बरूप सम्बद्ध से होती है। इस प्रकार प्रतिबिम्बरूप सम्बद्ध से ही पुरुष बुद्धि का विषय बनता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह चित्त ही शब्दादिविषयरूप तथा विषयी पुरुषरूप उभयाकारता से निर्भासित होता है। इसमें चित्त का चेतनाचेतनरूपाकार वाला होना कारण है। इसी को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार व्यास कहते हैं कि :–

"तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतन-स्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते।"

उदाहरण स्वरूप स्फटिकमणि की सादृश्यता को व्यास दिखाते हैं। जिस प्रकार एक ही स्फटिकमणि पार्श्वद्वय में स्थित जपापुष्प और इन्द्रनीलमणि की प्रतिच्छवि के कारण अपने स्वकीयरूप के साथ त्रिरूपता की तरह प्रतीत होती है। उसी प्रकार चित्त भी शब्दादि विषय और विषयी आत्मा की प्रतिच्छवि से ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्यरूप से त्रिरूपता को प्राप्त कर जाता है। अतः चित्त को सर्वार्थ कहते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी वार्तिक में स्पष्ट किया है कि :–

"यथा एक एव स्फटिकमणिः पार्श्वद्वयस्थयोर्जपेन्द्रनीलयोः प्रतिबिम्बनात्स्वीयरूपेण सह त्रिरूप इव भवतीति, एवं चित्तमपि विषयात्मनोः प्रतिबिम्बनात् ग्रहीतृग्रहणग्राह्यात्मकरूपावयववदिव भवति, अतः सर्वार्थमित्युच्यत इत्यर्थः।"

चित्त विभु होने के कारण समर्थ पदार्थों के साक्षात्कार में समर्थ है। परन्तु सामान्य पुरुष इस संसार में समस्त वस्तुओं का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होता है, यह अनुभव प्रायशः प्राप्त होता है। इसका कारण यह दिया जाता है कि जब चित्त पर पाप आदि के कारण तमोगुण का आवरण पड जाता है तब तमोगुण से आबद्ध चित्त स्वभावतः समस्त विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी यत्किञ्चित् विषयों को ही ग्रहण कर पाता है। परन्तु जब निरोध के द्वारा तमोगुण को बढ़ाने वाले तथा अन्य विषयों में सञ्चरण करने वाले वासना रूप पाप प्रभृति का क्षय हो जाता है तब चित्त अनायास ही स्वयमेव ध्येय वस्तु का सम्यक् साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।

(असम्प्रज्ञात योग के स्वरूप)

असम्प्रज्ञातो लक्ष्यते। न किञ्चित् सम्प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या असम्प्रज्ञातयोगः सर्ववृत्तिनिरोधः। तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः। तस्य च लक्षणं तत्त्वज्ञानसंस्कारदाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्। प्रलयादिकालीननिरोधव्यावर्त्तनाय सत्यन्तम्।

अनुवाद

असम्प्रज्ञात योग का लक्षण किया जा रहा है। इसमें कुछ भी सम्यक् ज्ञान (साक्षात्कार) नहीं होता है इस व्युत्पत्ति के आधार पर असम्प्रज्ञात योग समस्त वृत्तियों का निरोधरूपक है। उस अवस्था में केवल संस्कारमात्र से अवशिष्ट चित्त विद्यमान रहता है, अन्यथा व्युत्थान

की अनुपपत्ति हो जाएगी। और उसका लक्षण है – तत्त्वज्ञान के संस्कार का दाह होने पर समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाना है। प्रलयादि कालीन निरोध की व्यावृत्ति हेतु सत्यन्त (तत्त्वज्ञानसंस्कार–दाहकत्वे सति) विशेषण को दिया गया है।

रजनी

सम्प्रज्ञात योग में ध्येय पदार्थ का सम्यक् साक्षात्कार होता है परन्तु असम्प्रज्ञात योग में किसी भी प्रकार की वृत्ति अवशिष्ट नहीं रहती है। सम्प्रज्ञात योग में सात्त्विक वृत्त्यात्मक ज्ञान होते रहता है परन्तु असम्प्रज्ञात योग में सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसलिए इस योग को समस्त वृत्तियों का निरोधात्मक योग कहा गया है। वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाने पर भी उनके संस्कारों को यदि दग्धबीजभाव न किया जाए तो पुनः व्युत्थान की सम्भावना रहती है। क्योंकि संस्कारों के कारण व्युत्थान होता है। व्युत्थान का आधार संस्कार ही है, क्योंकि संस्कारों से ही वृत्तियाँ बनती है। अतः यहाँ पर कहा गया है कि वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाने पर इस अवस्था में चित्त में संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाता है। यदि हम इस काल में संस्कारों की सत्ता को स्वीकार नहीं करेंगे तो निरोध के अनन्तर जो कभी कभी व्युत्थान देखा जाता है, उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो पायेगी।

सम्प्रज्ञात योग से ध्येय विषयों का साक्षात्कार कर लेने पर विवेक ज्ञान के साक्षात्कार के उपरान्त उसके प्रति जब पर वैराग्य का उदय होता है, उस पर वैराग्य पुरःसर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। इसलिए इस असम्प्रज्ञात योग कालीन अवस्था में ध्येय विषय का अभाव रहने से इस योग को इसमें कुछ भी सम्यक् साक्षात्कार नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। चित्त की वृत्ति ध्येय विषयक ही होती है क्योंकि इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। अतः इस में केवल संस्कार ही अवशिष्ट रहता है।

प्रलय काल में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। परन्तु इस अवस्था में विवेकज्ञानजन्य संस्कार नहीं होते हैं। और असम्प्रज्ञात काल में प्रकृति और पुरुष का विवेकात्मक तत्त्वज्ञान एवं एतद्विषयक वृत्ति का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। किन्तु इस अवस्था में भी विवेकात्मक तत्त्वज्ञान का संस्कार विद्यमान रहता है। अतः इस कारण से प्रलयादि कालीन वृत्ति निरोध में उपर्युक्त प्रतिपादित असम्प्रज्ञात लक्षण की अतिव्याप्ति

हो जाए, इसके निवारण हेतु लक्षण में "तत्त्वज्ञानसंस्कारदाहकत्वे सति" इस विशेषण को दिया गया है।

(योग के फल)

इदानीमभ्यर्हितत्वादादौ योगफलमुच्यते। तत्र तावत् योगद्वय–साधारणं दृष्टं फलं सम्प्रज्ञातस्य वृत्तिनिरोधेन वृत्त्युत्थदुःखभोगनिवृत्तिः। अदृष्टं च फलं सम्प्रज्ञातस्य पूर्वोक्तद्वारैर्ध्येयसाक्षात्कारः। "क्षीणवृत्तेर–भिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति"रिति सूत्रात् ततश्चाविद्यादिक्लेशनिवृत्त्या मोक्षः। तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृति–जयोत्थः स्वेच्छातो गतिश्च भवति।

अनुवाद

अब अभ्यर्हित होने से योग के फल को पहले कहा जा रहा है। उनमें दोनों प्रकार के योग का सामान्य जो दृष्ट फल है वह सम्प्रज्ञात का वृत्तियों के निरोध के कारण उन वृत्तियों से उत्थित दुःखभोगों की निवृत्ति है। और सम्प्रज्ञात योग का अदृष्ट फल पूर्वोक्त उपाय से ध्येय का साक्षात्कार है। "जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि के आश्रय के अनुसार विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार क्षीणवृत्तिक चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में जो तत्स्थितता और तदञ्जनता होती है, उसे 'समापत्ति' कहते हैं।", इस योगसूत्र (1/41) सूत्र से और तदनन्तर अविद्या आदि के अवशिष्ट रहने पर भूतेन्द्रिय तथा प्रकृति जय रूप सिद्धि के द्वारा स्वेच्छा से गति होती है।

रजनी

एक व्यक्ति किसी कार्य में तभी प्रयुक्त होता है यदि उसे उस कार्य से तदनुरूप फल की प्राप्ति दिखाई दे। अन्यथा नहीं। उसी प्रकार कोई भी योगी जब तक यह नहीं जान लेता कि इस योग के अनुष्ठान करने से क्या फल प्राप्त होता है ? तब तक वह उस योग के अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि :–

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।"

अतः योग के कुछ न कुछ फल अवश्य होना चाहिए। यह फल योग के आचार्यों के अनुसार दो प्रकार के हैं। जैसे दृष्ट फल और अदृष्ट फल। योग भी सम्प्रज्ञात योग एवं असम्प्रज्ञात योग के भेद से

दो है। अतः सम्प्रज्ञात योग के दृष्ट फल और अदृष्ट फल तथा असम्प्रज्ञात योग के भी दृष्ट फल एवं अदृष्ट फल होना चाहिए। योगसारसंग्रहकार श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार दोनों प्रकार के सम्प्रज्ञात योग एवं असम्प्रज्ञात योग के दृष्टफल समान हैं। यह दृष्ट फल वृत्तियों के निरोध हो जाने के कारण उन वृत्तियों से उत्पादित दुःखभोगों की निवृत्ति है।

इस सम्प्रज्ञात योग का अदृष्ट फल ध्येय विषय का साक्षात्कार है। यह ध्येय वस्तु का साक्षात्कार चित्तवृत्तियों के निरोध समनन्तर होता है। सूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार स्वच्छ स्फटिक मणि के समान चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण तथा ग्राह्य नामक पुरुष, इन्द्रिय तथा भूत पदार्थों में जो तस्थ तदाकारापत्ति होती है, उसे समापत्ति कहते हैं। जैसे :–

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्यैव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।" (यो0सू0, 1/41)

यहाँ पर समापत्ति सम्यक् रूप से ध्येय वस्तु के आकार से आकारित प्रत्यक्षवृत्ति है। यहाँ पर समापत्ति सम्प्रज्ञात योग की फलभूता प्रज्ञा की तान्त्रिकी अर्थात् शास्त्रीय परिभाषा है। यह परिभाषा असम्प्रज्ञात योग से भिन्न सम्प्रज्ञात योग के स्वरूप की परिचायिका होती है। चित्त में नैसर्गिकरूप से समस्त विषयों का साक्षात्कार करने की क्षमता विद्यमान है। परन्तु ध्येय से व्यतिरिक्त विषयों में होने वाली आसक्ति के कारण अथवा अन्य विषयों में सञ्चरण करने के कारण चित्त की यह शक्ति अवरूद्ध हो जाती है। अतः विषयान्तरसञ्चरणरूप प्रतिबन्ध का पूर्णरूप से नाश होने पर चित्त स्वतः ही ध्येय विषय का साक्षात्कार करने लगता है। इस प्रकार वह तद्रूपापत्त्याख्य प्रज्ञात्मक प्रत्यक्षवृत्ति वाला होता है।

जिस प्रकार जपा कुसुमादि उपाधि विशेष के भेद से तत्तद् उपाधिभूत जपाकुसुमादि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ एक स्फटिक मणि रक्तादि उपाधि के आकार से भासित होता है, उसी प्रकार ग्राह्यरूप आलम्बन से उपरक्त होकर विषयगत प्रत्यक्षता की प्राप्ति के लिये ग्राह्यगत विशेषाकार विषय वाला होकर चित्त पुरुष में ग्राह्य के सम्पूर्ण आकार से ही अवभासित होता है। इसी प्रकार ग्रहणरूप एवं ग्रहीतृरूप आलम्बन से उपरक्त होकर विषयगत प्रत्यक्षता की प्राप्ति हेतु ग्रहणाकार ग्रहीत्राकार विषय वाला होकर चित्त पुरुष

में ग्रहण एवं ग्रहीतृ के आकार से अवभासित होता है। यहाँ पर समापत्ति रूप प्रत्यक्ष के प्रामाण्य हेतु चित्त ग्राह्यग्रहणग्रहीतृरूपाकार से भासित होता है। इसके द्वारा समापत्ति का फल बताया गया है, क्योंकि पौरुषेयबोध ही प्रमाण का फल कहा गया है। इस के अनन्तर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशादि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है और उससे मोक्ष सिद्ध हो जाता है।

इस अवस्था में यदि साधक की कामना अवशिष्ट रहती है, तो वह स्वेच्छा से ही भूतेन्द्रियप्रकृतिरूप सिद्धियों के द्वारा विभिन्न भोगों को प्राप्त कर जाता है। क्योंकि समापत्ति सिद्ध होने पर तीन प्रकार की सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती है। जैसे :– भूतजय, इन्द्रियजय एवं प्रकृतिजयरूप। इन सिद्धियों के द्वारा साधक का समस्त अभीष्ट स्वेच्छा से प्राप्त हो जाता है। इन सिद्धियों का विशद निरूपण इस ग्रन्थ के तृतीय अंश में किया जाएगा।

(असम्प्रज्ञात योग के अदृष्ट फल)

असम्प्रज्ञातस्य त्वदृष्टं फलं तत्त्वज्ञानसाधारणानामखिलसंस्काराणां प्रारब्धकर्मणां च दाहाच्छीघ्रं स्वेच्छया मोक्षः। तथाहि तत्त्वज्ञानेन तावत् स्वसंस्कारः प्रारब्धकर्म च नातिक्रमितुं शक्यते अविरोधात्। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इति श्रुत्या ज्ञानिनो मोक्षे प्रारब्धनिमित्तककिञ्चिद्विलम्बसिद्धेश्च। ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिः श्रुतिस्मृतिविरोधाच्च प्रारब्धकर्मणां ज्ञाननाश्यत्वस्य वेदान्तसूत्रेण प्रतिषिद्धत्वाच्च। योगस्य तु प्रारब्धकर्मनाशकत्वे बाधकाभावेन :–

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्।।"

इति विलम्बाभावश्रवणेन च प्रारब्धकर्मनाशकत्वमस्ति। अतः प्रारब्धकर्मणोप्यतिक्रमेण शीघ्रमोक्षार्थिनो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमप्य-सम्प्रज्ञातयोगोऽपेक्ष्यत इति। अधिकं तु वार्त्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्। एतेनासम्प्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धभोगानन्तरं ज्ञानिनां मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुद्ध्यते।

अनुवाद

असम्प्रज्ञात योग का तो अदृष्ट फल तत्त्वज्ञान के साधारण संस्कारों का और प्रारब्ध कर्मों के समस्त संस्कारों का दहन हो जाने

से स्वेच्छा से शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति है। तथा तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने संस्कारों को और प्रारब्ध कर्म को अतिक्रमण करने के लिए कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि उनसे उनका विरोध नहीं है। "उसको उतनी ही देर होती है, जब तक वह बन्ध से मुक्त नहीं होता है" इस (छान्दोग्योपनिषद्) श्रुतिवाक्य के अनुसार ज्ञानी का मोक्ष में प्रारब्ध के कारण कुछ विलम्ब होता है – यह सिद्ध होता है। ज्ञान के द्वार यदि प्रारब्ध कर्मों का नाश स्वीकार किया जायेगा तो जीवन्मुक्त के विषय को प्रतिपादन करने वाला जो श्रुतिवाक्य एवं स्मृति वाक्य मिलता है, उनमें विरोध हो जाएगा और वेदान्तसूत्र के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का ज्ञाननाश्यत्व का प्रतिषेध किया गया है। परन्तु योग का प्रारब्ध कर्मों के नाशकत्व में कोई बाधक नहीं है। कहा गया है कि:–

"समाधि को सम्पन्न किया हुआ योगी योगाग्नि के द्वारा समस्त कर्मों के दग्ध हो जाने के कारण उसी जन्म में ही अबिलम्ब मुक्ति को प्राप्त करता है।"

इस प्रकार विलम्ब के-अभाव का श्रवण हो जाने से योग प्रारब्ध कर्मों का नाशक है ऐसा सिद्ध होता है। अर्थात् योग का प्रारब्ध कर्म नाशकत्व सिद्ध होता है। इसलिए प्रारब्ध कर्मों का भी अतिक्रमण कर शीघ्र मोक्ष की इच्छा करने वाले को ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर भी असम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है। इस का अधिक विस्तृत विवेचन योगवात्तिक में हमारे द्वारा (श्रीविज्ञानभिक्षु से) किया गया है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात योग का अभाव होने पर भी प्रारब्ध कर्मों के भोग के अनन्तर ज्ञानियों को मोक्षप्राप्ति हो जाती है, इस सिद्धान्त का विरोध नहीं होता है।

रजनी

सम्प्रज्ञात योग में एकाग्र चित्त की सात्त्विक अक्लिष्टात्मक ध्येयाकार वृत्तियाँ अवशिष्ट रहती हैं। परन्तु असम्प्रज्ञात योग में समस्त वृत्तियों के संस्कारों का दाह हो जाने से प्रारब्ध कर्म का भी अतिक्रमण हो जाता है। इसमें प्रारम्भिक अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति के नाश होने पर भी तज्जन्य संस्कारों के उपादानकारणभूत चित्त में प्राप्त होने से वृत्तिजन्य संस्कारों की सत्ता अङ्गीकृत है। परन्तु निरोध की परम्परा से जन्य दृढ़तर निरोध संस्कारों से चरम असम्प्रज्ञात योग में प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी पूर्णरूप से अभिभव मान्य है। इस के अनन्तर अतिशीघ्र

एवं स्वेच्छा से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यदि योगी के कर्मजन्य संस्कार अवशिष्ट रहते हैं, तो उन संस्कारों से पुनः फलोदय अथवा कर्मोदय सम्भव है। क्योंक संस्कारों के कारण वह बन्धन में रहता है। प्रारब्ध कर्मफल का भोग अपरिहार्य है। अतः उसका जब तक निरोध नहीं होगा तब तक वह साधक मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि उस साधक को मोक्ष प्राप्त करने में उतनी ही देर होती है, जब तक वह बन्ध से मुक्त नहीं होता है। अतः मोक्षप्राप्ति हेतु प्रारब्ध कर्म का नाश अपेक्षित है।

इस प्रकार ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म निमित्तक हो जाने से कुछ विलम्ब से ही मोक्षलाभ होगा यह ध्वनित होता है। यहाँ पर पूर्वपक्ष यह प्रश्न उठाता है कि ज्ञान के द्वारा प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाएगा, जिससे मोक्ष साक्षात् प्राप्त हो जएगा। परन्तु इस प्रकार यदि हम ज्ञान को प्रारब्ध कर्म का नाशक के रूप में स्वीकार करेंगे, तो जीवन्मुक्त के विषय में जो श्रुतिवाक्य तथा स्मृतिवाक्य प्राप्त होता है वे सब परस्पर विरूद्ध हो जायेंगे। केवल इतना ही नहीं अपितु वेदान्तसूत्र के द्वारा ज्ञान का प्रारब्ध–कर्मनाशकत्व के रूप में प्रतिषेध किया गया है। परन्तु योगोपाय के अनुष्ठान से प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है। इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः बाधकप्रमाण के अभाव से योग को प्रारब्ध कर्मों के नाशक के रूप से स्वीकार किया जाता है। कहा भी गया है कि :–

"समाधि को सम्पन्न किया हुआ योगी योगाग्नि से समस्त कर्मों के दग्ध हो जाने के कारण उसी जन्म में ही अविलम्ब मुक्ति को प्राप्त करता है।"

समाधि की प्राप्ति हेतु योगनिर्दिष्ट उपायों का अनुष्ठान आवश्यक है। जब वह उपायों का अनुष्ठान से दृढ़भूमि को प्राप्त करता है, तब वह योगी समाधि स्थिति को प्राप्त करता है। इस समय उसकी अक्लिष्टात्मक सात्त्विकवृत्तियाँ भी दग्ध हो जाती है। समाधि सम्पन्न होने पर जो योगाग्नि उद्भव होता है, उससे उस योगी का समस्त प्रारब्ध कर्म दग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उस साधक का समस्त प्रारब्ध कर्म जल जाने से फलाभाव के कारण उसी जन्म में ही अविलम्ब उसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इससे योग का प्रारब्ध कर्म नाशकत्व सिद्ध होता है तथा मोक्षप्राप्ति में विलम्ब का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इसलिए जो योगी प्रारब्ध कर्मों का नाश के अनन्तर शीघ्र ही मोक्षप्राप्ति में इच्छा

रखता है, उसको ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी असम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त किया हुआ योगी प्रथमतः प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है, तदनन्तर उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है।

योगसूत्र में "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार व्यास कहते हैं कि :-

"तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्, यस्योदये सति योगी प्रत्युदित-ख्यातिरेवं मन्यते।" (व्या०भा०, 1/2)

यहाँ भाष्योक्त "ज्ञानप्रसादमात्र" पद की व्याख्या में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :-

"ज्ञानस्य पराकाष्ठा च विवेकख्याति ...... इत्यर्थः।" (यो०वा०, 1/2)

अतः विवेकख्याति के निमित्त जागरित दुःखात्मिका विवेकख्यातिरूप वृत्ति भी जब शान्त हो जाती है तब इस प्रकार "अलं प्रत्यय" को ज्ञान की पराकाष्ठा कहते हैं। कैवल्य को ज्ञानप्रसाद की नान्तरीयक कहे जाने से अलं प्रत्ययरूप परवैराग्य में ज्ञान की अन्तिम सीमा निहित है। ज्ञानप्रसाद के उदय होने पर ही कैवल्य अवश्यम्भावी होता है। किसी अन्य प्रकार के ज्ञान, यम, नियमादि अथवा वैराग्य में कैवल्य प्राप्त होना निश्चित नहीं रहता है। यद्यपि कथञ्चित् सम्भव होने पर भी असम्प्रज्ञात योग के उदय न होने के कारण निःशेषरूप से प्रारब्ध कर्म का नाश अवश्यम्भावी नहीं रहता है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों की सत्ता विद्यमान होने से तथा चित्त में रागादि मल विद्यमान रहने से मोक्ष में विलम्ब की सम्भावना बनी रहती है। जब तक उन प्रारब्ध कर्मों का भोग वह नहीं कर लेता तब तक उसे मोक्ष नहीं मिलता है। अतः योग के द्वारा प्रारब्ध कर्मों के नाश के उपरान्त योगी को अतिशीघ्र स्वेच्छा से मोक्षलाभ होता है न कि ज्ञानी को यह स्वीकार किया जाता है।

तत्र च प्रमाणं तत्र तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये इत्यादिश्रुतिः। अविद्याविनिवृत्ता बीजाभावात् पुनर्जन्मानुपपत्तिश्च। विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणः सकाशाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः। स्यादेतत् :-

"योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः।
प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्।।"

इत्यादि स्मृत्येकवाक्यतया योगस्य कर्मनाशत्ववाक्यानि सम्प्रज्ञात-योगपराण्येव सन्त्विति। मैवम्। उक्तवाक्येन हि सम्प्रज्ञातयोगस्य ज्ञान-प्रतिबन्धकपापमात्रनाशकत्वमवगम्यते, न सर्वकर्मनाशकत्वम्। तथा सति ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन इत्यादिशास्त्रोक्तं ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमपि नोपपद्यते। ज्ञानहेतुना सम्प्रज्ञातयोगेनैव सर्वकर्मनाशात्। यत्तु योगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं श्रूयते योगाग्निर्दग्धकर्मचयोऽचिरादिति तदसम्प्रज्ञातयोगपरमेव। अतो नानयोर्वाक्ययोः सम्प्रज्ञातपरत्वेनैकवाक्यत्वं घटते। तस्मात्सम्प्रज्ञातयोगतज्जन्यज्ञानाभ्यामनाश्यस्य प्रारब्धकर्मणः असम्प्रज्ञातयोगनाश्यत्वमेव योगाग्नीत्यादिवाक्यार्थः।

अनुवाद

इस वाक्य में प्रमाण "उसके तभी तक विलम्ब है जब तक वह मुक्त नहीं होता" इत्यादि श्रुतिवाक्य है। और अविद्या की विशिष्टाभाव से निवृत्ति हो जाने से बीज का अभाव होने से पुनर्जन्म की प्रसक्ति नहीं होती है। श्रुति में प्रयुक्त "विमोक्ष्ये" इस पद का अर्थ है कि योगी प्रारब्ध कर्मो से मुक्त हो जाता है ऐसी ही हो।

"योगाग्नि तत्काल समस्त पापों से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट कर देती है, तथा यह साक्षात् निर्वाण की सिद्धि देने वाला ज्ञान बलात् उत्पन्न हो जाता है।" इस स्मृति की एकवाक्यता होने के कारण योग के जो कर्मनाशकत्व वाक्य बताया गया है, उन्हे सम्प्रज्ञात योग परक ही समझना चाहिए, यदि ऐसी शङ्का की जाए तो यह उचित नहीं है। उक्त वाक्य के द्वारा सम्प्रज्ञात योग का ज्ञान के प्रतिबन्धक पापमात्र का नाश ही बताया गया है, न कि समस्त कर्मों का नाश। यदि सम्प्रज्ञात योग को समस्त कर्मों के नाशक के रूप से स्वीकार किया जाएगा तो "हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि के द्वारा समस्त कर्मों को भस्म कर दिया जाता है" इत्यादि शास्त्रों में कहा गया जो ज्ञान समस्त कर्मनाशकत्व है, वह भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। ज्ञानहेतु से ही सम्प्रज्ञात योग के द्वारा समस्तकर्मों का नाश हो जाता (है, ऐसा प्राप्त होता है)। जो योग के समस्तकर्मों के नाशपरक श्रुतिवाक्य सुने जाते हैं, जैसे :-

"योगाग्नि के द्वारा समस्तकर्मों का नाश तत्काल हो जाता है, वे असम्प्रज्ञात योग परक ही है। इसलिए इन दोनों वाक्यों की सम्प्रज्ञात परत्व हो जाने से एकवाक्यता नहीं घटती है। इस कारण सम्प्रज्ञात योग और उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान के द्वारा नष्ट न होने वाले प्रारब्धकर्म का

असम्प्रज्ञात योग के द्वारा नष्ट हो जाना ही उपर्युक्त "योगाग्नि .....।" इत्यादि वाक्य का अर्थ है।

रजनी

अतः सिद्ध होता है कि योगी के अनुष्ठान से जो प्रारब्धकर्मों का नाश स्वीकृत है, उसके नाश होने के अनन्तर ही स्वेच्छा से उस योगी को अतिशीघ्र मोक्षलाभ हो जाता है। अब यह प्रश्न उदय होता है कि इस में प्रमाण क्या है ? इस के समाधान हेतु श्रीविज्ञानभिक्षु श्रुतिप्रमाण दर्शाते हैं:–

"तत्र तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये।" (छा0उ0, 6/14/2)

अतः जब तक वह योगी प्रारब्धकर्मों से मुक्त नहीं होता है तब तक उसके मोक्ष में विलम्ब होना स्वाभाविक है। इसलिए मोक्षलाभ हेतु प्रारब्धकर्मों का नाश अपेक्षित है। और यह प्रारब्धकर्मों का नाश अविद्या के नाश के उपरान्त होता है। क्योंकि अविद्या के कारण जागतिक कार्यों का अनुष्ठान सम्भव होता है। जिससे कर्मफल भोगने हेतु बीज अवशिष्ट रहते हैं। यह बीज अविद्या के कारण ही प्राप्त होता है, और इसके फलस्वरूप पुनर्जन्म की प्रसक्ति आती है। जब इस अविद्या की विशिष्टभाव से निवृत्ति हो जाएगी तब उससे प्राप्त होने वाले प्रारब्धकर्मों के बीजों की भी निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार अविद्या से उत्पन्न प्रारब्धकर्मों के निमित्तक बीज का अभाव हो जाने से पुनर्जन्म की उपपत्ति भी नहीं हो जाएगी। अतः उपर्युक्त श्रुतिवाक्य में प्रयुक्त जो "विमोक्ष्ये" पद है, वह प्रारब्धकर्मों से मुक्त हो जाने को निर्देशित करता है।

"योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः।
प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्।।"

उपर्युक्त स्मृतिवाक्य से यह अर्थ ध्वनित होता है कि योगाग्नि तत्काल अखिल पापों से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट कर देती है, तथा यह साक्षात् निर्वाण की सिद्धि देने वाला ज्ञान बलात् उत्पन्न हो जाता है। इस स्मृतिवाक्य के कारण एक शङ्का यहाँ पर उपस्थित होता है कि निर्वाण को देने वाला जो विवेक ज्ञान है वह सम्प्रज्ञात योग के फल के रूप में स्वीकृत है। उपर्युक्त वाक्य में एकवाक्यता नहीं है। क्योंकि सम्प्रज्ञात योग केवल ज्ञानप्रतिबन्धक पाप मात्र का नाशक है। सम्प्रज्ञात योग को समस्तकर्मों का नाशक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है :–

"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" (श्रीगीता, 4/37)

योग का जो समस्त कर्मनाशकत्व स्वीकृत है, वह असम्प्रज्ञात योग परक ही है। क्योंकि सम्प्रज्ञात पूर्वक असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। सम्प्रज्ञात योग से निर्वाण को प्रदान करने वाला विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। उस विवेकात्मक ज्ञान पूर्वक असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। इस के अनुष्ठान से समस्त प्रारब्धकर्मों का नाश हो जाता है। सम्प्रज्ञात योग के अनुष्ठान से जिन कर्मों का दहन नहीं हुआ था उन अखिल प्रारब्धकर्मों का दाह असम्प्रज्ञात योग के अनुष्ठान से होता है। अतः इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता घटित नहीं होता है।

किञ्च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमीकरणमात्रमिदमेव च दाहः, तथापि ज्ञानेनाविद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदादेव कर्मणा विपाक आरब्धुं न शक्यते। "सति मूले तद्विपाक" इति सूत्रेण कर्मणां स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवचनात् व्यासभाष्येण तथा व्याख्यानाच्च। अतो ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वदाहकत्ववचनं न्यायसिद्धान्तानुवादमात्रम्। एकमेवासम्प्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनारूपः कर्मणां सहकार्येवोच्छिद्यते। व्युत्थानसंस्कारणां निरोधसंस्कारैर्बलवत्तरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्यामुक्तत्वात् स्वानुभवसिद्धत्वाच्च। अतोऽसम्प्रज्ञातयोगपरम्परया अखिलवासनाक्षये सति प्रारब्धफलकमपि कर्म फलसम्पत्तये न समर्थ वासनाया अपि कर्मसहकारित्वस्य सूत्रभाष्ययोरवधृतत्वात्। ततश्चासमाप्तभोगकमेव प्रारब्धं कर्म स्वाश्रयचित्तनाशेन नश्यति। पुरुषप्रयोजनं विना चित्तस्यावस्थाना–भावात् पुरुषार्थस्य चित्तस्थितिहेतुत्वात्। तस्मादसम्प्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वं युक्तितोऽपि सिद्धमिति दिक्।

अनुवाद

और फिर ज्ञान का तथा योग का जो प्रारब्धकर्मों का नाशकत्व के रूप में कहा गया है, उससे तात्पर्य केवल इनके सहकारी कारणों के उच्छेद होने पर उनके फल को उत्पन्न करने में असमर्थ बनाना है और यही दाह भी है। वैसे कहा भी गया है कि ज्ञान से अविद्या आदि पाँच क्लेशों का नाश हो जाने पर क्लेशरूपक सहकारी कारण का उच्छेद हो जाने से ही कर्म अपने विपाक को आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते हैं। "सति मूले तद्विविपाक ...." इस सूत्र के द्वारा कर्मों के अपने मूल में क्लेश होने पर ही विपाक का आरम्भ कहा गया है, तथा व्यासभाष्य के द्वारा इसकी इसी रूप से व्याख्या की गयी

है। अतः ज्ञान के द्वारा जो कर्मों का नाश एवं दाह कहा गया है, वह तर्क के द्वारा सिद्ध कथन का पुनः वचनमात्र है। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात योग के द्वारा भी भोग के हेतु, वासना के रूप से विद्यमान कर्मों के सहकारी कारण का उच्छेद मात्र ही है। क्योंकि व्युत्थान के संस्कारों का अधिक बलवान निरोध के संस्कारों के द्वारा जो उच्छेद होता है, वह योगसूत्र और व्यासभाष्य दोनों के द्वारा कहा गया है। और यही हमारा अनुभव भी है। इसलिए असम्प्रज्ञात योग जब परम्परा से समस्त वासनाओं का नाश कर देता है, तब प्रारब्धकर्म भी जिनका फल देना अभी अवशिष्ट रहता है, वे फल देने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि वासना भी कर्मों के सहकारी के रूप में योगसूत्र एवं व्यासभाष्य के द्वारा बतायी गयी है। उसके बाद जिनके फल का अभी उपभोग नहीं हुआ है, वे प्रारब्धकर्म अपने आश्रयरूप चित्त के नाश के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। पुरुष के प्रयोजन के बिना चित्त की अवस्थिति नहीं रहती है क्योंकि पुरुषार्थ ही चित्त की स्थिति में कारण होता है। इससे असम्प्रज्ञात योग के द्वारा प्रारब्धकर्मों का दाह करना युक्ति से भी सिद्ध होता है।

रजनी

अविद्यादि क्लेशों की अवस्थिति में ही धर्माधर्मरूप कर्माशय स्व फल प्रदान करने के लिए अग्रसर होता है। विनष्ट क्लेशरूपी आधार वाला कर्माशय फलीभूत नहीं हो पाता है। ये क्लेश वासनारूप है। इनका विपाक जन्म, आयु और भोग रूप का होता है। योगसूत्र में कहा भी गया है कि :–

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।" (यो0सू0. 2/13)

ये विपाक दो प्रकार के होते हैं, जैसे :– दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय। इनमें से वर्त्तमान कालिक भोग को दृष्टजन्मवेदनीय तथा भविष्यत् कालिक भोग को अदृष्टजन्मवेदनीय कहा गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्लेशों के मूल रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। ज्ञानाग्नि द्वारा क्लेशों के उच्छेद होने के पश्चात् कर्माशयों का विपाक नहीं होता है। परन्तु जिन कर्माशयों का भोग प्रारम्भ हो चुका रहता है उनका फलभोग होता रहता है। कर्माशयों का फलभोग आरम्भ हो चुकने पर फलभोग की समाप्ति तक क्लशों के रहने से कोई पार्थक्य नहीं पडता है। परन्तु फलभोग के प्रारम्भ में क्लेशों का

उपस्थित रहना परमावश्यक है। इसी बात को श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अतः क्लेशोऽपि स्वातन्त्र्येण विपाकारम्भे हेतुः। ज्ञानोत्तरं चारब्धविपाकः समाप्यत एव न त्वारभ्यत इति न तत्र क्लेशापेक्षेति।" (यो0वा0, 2/13)

भाष्यकार व्यास ने उदाहरण के द्वारा कहा है कि जिस प्रकार बाह्य आवरण से अविरहित ध्यान, जो प्रजननशक्ति से रहित नहीं होते हैं, अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। भूसारहित दग्धबीजभाव वाले ध्यान अंकुरोत्पादन में समर्थ नहीं होते हैं। उसी प्रकार बद्धक्लेशमूल वाला कर्माशय ही फलोत्पत्ति में समर्थ होता है। क्लेशरूपी आधार से रहित अथवा विवेकज्ञानाग्नि से दग्ध क्लेशबीज वाला कर्माशय फलोत्पत्ति के लिए अक्षम रहता है। जैसे :–

"सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालिवनद्धाः शालितण्डुलाः अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावाः वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति।"

क्लेश और कर्म परस्पर सम्बन्धित है क्योंकि धर्म–अधर्म रूप क्लेश ही धर्म – अधर्म रूप कर्मों के हेतु है। अतः ज्ञानाग्नि के द्वारा क्लेशों का क्षय होने पर कर्मों का भी क्षय होना सिद्ध है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने श्रीगीता की कारिका को उदाहरण के द्वारा प्रतिपादन करते हैं कि :–

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।" (श्रीगीता0, 4/19)

इत्यादि वाक्येभ्यो हि ज्ञानस्य क्लेशक्षयहेतुत्ववत् कर्मक्षयहेतुत्वमपि सिद्धम्।" (यो0वा0, 1/13)

श्रीविज्ञानभिक्षु ने कर्मों का नाश स्वीकार नहीं किया है। इनके अनुसार ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्मों का दाह होना ही उचित है। क्योंकि दाह और नाश में भेद सर्वमान्य है। नाश को स्वीकार करने पर 'कर्म' के नाश के साथ–साथ कर्म की अधिष्ठातृ बुद्धि का भी नाश हो जाएगा। जब बुद्धि ही नष्ट हो जाएगी तो ज्ञान भी नष्ट हो जाएगा। अतः कर्मनाश को स्वीकार करना न्यायसङ्गत नहीं है। इसी के कारण श्रीविज्ञानभिक्षु ने कर्मदाह को ही स्वीकार किया है। कर्मदाह स्वीकार करने से कर्म तथा

तत्कारणभूत क्लेशों का ही दाह होता है, बुद्धि अथवा चित्त का नहीं होता है। अतः श्रीभिक्षु जी ने वार्तिक में कहा है कि :–

"अत्रैव सूत्रे भाष्यकृता कर्माशयस्यापि प्रसंख्यानदग्धबीजभावस्य वक्तव्यतया कर्माशयस्य दाह एव ज्ञानेन न तु नाश इत्यवधार्यते।"

(यो०वा०, 1/13)

सर्वथा एक बार की सम्प्रज्ञात समाधि में समाधिजन्य प्रज्ञा से व्युत्थान संस्कार का सहज ही बाध नहीं होता है, अन्यथा चित्त के श्रुति स्मृति सिद्ध पुनः पुनः व्युत्थान की अनुपपत्ति होगी तथा सम्प्रज्ञात के बारम्बार अभ्यास की परम्परा से उत्पन्न दृढ़तर प्रज्ञात्मक संस्कार के द्वारा ही व्युत्थानात्मक संस्कार का बाध होता है तथा इन व्युत्थानात्मक प्रबलसंस्कारों को निरुद्ध करने के लिए अदृढ़ीभूत प्राथमिक सम्प्रज्ञातजन्य संस्कारों के द्वारा पहले उन्हें तन्ववस्था में ही क्रमशः पहुँचाया जाता है। अतः प्रज्ञात्मक संस्कार को दृढ़ता प्रदान करने के लिए प्रज्ञासंस्कारचक्र की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा एक बार में ही व्युत्थान संस्कार का बाध हो जाए – ऐसी आशङ्का भी निरस्त हो जाती है। क्योंकि एक समाधिज प्रज्ञा से ही व्युत्थान संस्कार का उच्छेद मानने पर साधक का व्युत्थित अवस्था में पुनः प्रत्यावर्त्तित होना सम्भव नहीं हो पायेगा। अतः निरोध काल में जब चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है, तब चित्त संस्कारमात्र के द्वारा व्युत्थान के संस्कारों का बाध किया जाता है, जिससे कि पुनः व्युत्थान की वृत्तियों का उदय न हो सके।

वासनाओं को कर्म के सहकारी के रूप में ग्रहण करने के कारण जब असम्प्रज्ञात योग से क्रमशः समस्त वासनाओं का नाश हो जाता है तब प्रारब्ध कर्म भी जिनका फल देना अभी अवशिष्ट रहता है, वे फल प्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं। तदनन्तर जिनके फल का अभी उपभोग नहीं हुआ है, वे सब प्रारब्धकर्म अपने आश्रयरूप चित्त के नाश के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्बन – इन चारों से वासनाओं के संगृहीत होने के कारण इन हेतु आदि का नाश होने पर उन तदाश्रित वासनाओं का भी नाश हो जाता है। अतः भाष्यकार व्यास कहते हैं कि :–

"एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः।
एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः।।" (व्या०भा०, 4/11)

इस विषय में अधिक जानकारी हेतु योगवार्त्तिक अनुसन्धेय है।

(सम्प्रज्ञात योग के अवान्तर भेद)

तदेवं योगयोः फलमुक्तम्। इदानीं सम्प्रज्ञातयोगस्य अवान्तरभेदा उच्यन्ते। तत्र सम्प्रज्ञातश्चतुर्विधः। वितर्कानुगतः, विचारानुगतः, आनन्दानुगतः, अस्मितानुगत इति। साक्षात्कारविशेषेषु तान्त्रिकं वितर्कादिपरिभाषाचतुष्टयं, तैः सकलैः साक्षात्कारैः अनुगता उपहिताश्चित्तवृत्तिनिरोधाः वितर्कानुगतादिसंज्ञकाः भवन्ति। वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिका चतुष्टयम् उच्चारोहिक्रमिकसोपानपरम्परावद्वितर्काणां क्रमेणैव तदनुगतत्वेन निरोधस्यापि क्रमः कथ्यते, स्वतो निरोधे क्रमाभावात्। वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः, एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य प्रायशोऽसम्भवात्। तथा च स्मर्यते :–

"योगारम्भे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्।।" इति।

तथा स्थूलादिविषयेषु रागादपि उत्तरोत्तरभूमिषु चित्तसमाधानं न सम्भवति। अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्या उत्तरोत्तर भूम्यारोहो राजमार्गः। यस्य तु कदाचिदीश्वरप्रसादादादावेवोत्तरभूम्यारोहो भवति। तेन च पूर्वभूमिकाभ्यासः तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः उत्तरभूमिकारोहस्य फलस्य जातत्वात्। तदुक्तं भाष्यकारैः ईश्वरप्रसादाद–र्जितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु विनियोगस्तदर्थस्यान्यत एव सिद्धरिति। एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवावलम्बने क्रमात् कर्त्तव्यमन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः। चित्तचाञ्चल्यदोषप्रसङ्गाच्च।

अनुवाद

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित प्रकार से (सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात) दोनों प्रकार के योग का फल कहा गया है। अब सम्प्रज्ञात योग के अवान्तर भेदों को कहा जाएगा। वह सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का होता है, जैसे :– वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत। साक्षात्कारविशेष के सन्दर्भ में वितर्कादि (चतुष्टय) तान्त्रिक (शास्त्रोक्त) परिभाषा चतुष्टय है, उस समस्त साक्षात्कारों से अनुगत तथा उपहित जो चित्तवृत्तिनिरोध हैं, वे वितर्कानुगत आदि संज्ञक होते हैं, ये वितर्कादि भूमिका चतुष्टय उच्चारोहि क्रमिक सोपान परम्परा के समान वितर्कादिक का क्रम से ही अनुगत होने के कारण (उनसे होने वाले) निरोध का भी क्रम कहे जा रहे हैं। क्योंकि स्वतः

निरोध में क्रम का अभाव है। तथा यह वितर्कादि उत्तरोत्तर भूमिका चतुष्टय का क्रम औत्सर्गिक (स्वाभाविक) है, क्योंकि एक समय में चित्त का परमसूक्ष्म में प्रवेश करना प्रायशः असम्भव है। और स्मृति में कहा भी गया है कि :–

"योग के आरम्भ में मूर्त्तिमन्त (स्थूल रूपात्मक) हरि आदि चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद अमूर्त्त (स्थूलरूप से रहित) हरि का चिन्तन करें। साधक को स्थूलरूप (सगुण) में आलम्बित चित्त को तदनन्तर सूक्ष्मरूप में धीरे–धीरे आलम्बित कराना चाहिए।"

इस प्रकार स्थूल आदि विषयों में राग के होने पर भी (उन पर चित्त को आलम्बित किये बिना) उत्तरोत्तर भूमियों में चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। अतः स्थूल आदि विषयों का साक्षात्कार करने से उन विषयों में दोष देख कर (उससे सूक्ष्म विषय की ओर) उत्तरोत्तर भूमियों का आरोहण करना राजमार्ग है। जिस साधक को कदाचित् ईश्वर के अनुग्रह के कारण उत्तरभूमि में आरोह हो जाता है, तब उसके द्वारा पूर्व भूमिका की सिद्धि की इच्छा न होने पर उन पूर्व की भूमियों का अभ्यास नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि उत्तर की भूमि का आरोहण फल तो प्राप्त हो गया है। भाष्यकार के द्वारा कहा भी गया है कि :–

"ईश्वर के अनुग्रह से जिस साधक को उत्तर की भूमि प्राप्त हो गयी है उसको उससे निम्न की भूमियों में चित्त को आलम्बित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस निम्न भूमि पर चित्त को एकाग्र करने के फल की प्राप्ति किसी अन्य रूप में हो गयी है। इन चारों ही भूमियों का आलम्बन एक ही विषय में क्रम से करना चाहिए, अन्यथा पूर्व–पूर्व विषयों की उपासना प्रारम्भ कर मध्य में ही छोड़ देने का दोष आपतित होगा और चित्त की चञ्चलता रूप दोष भी प्राप्त होने लगेगा।

रजनी

जैसा कि पहले ही हम जानते हैं कि चित्त की प्रमाणादि वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस पूर्वोक्त परिभाषानुसार सम्प्रज्ञात योग एवं असम्प्रज्ञात योग इस प्रकार द्वैविध्य योग की कल्पना की गयी। इनमें से सम्प्रज्ञात योग चित्त की एकाग्र भूमि में सिद्ध होती है। इस योग में ध्येय वस्तु के परमार्थतः सत्यस्वरूप का साक्षात्कार होता है। यह योग अविद्या आदि पाँचों क्लेशों को नष्ट करती है तथा धर्म–अधर्म रूप कर्माशयों को

जिनसे बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है, शिथिल कर देती है। यह सम्प्रज्ञात योग ही साधक को असम्प्रज्ञात योग के प्रति उन्मुख कराता है। सूक्ष्म विषयों के यथार्थज्ञान हेतु चित्त का निर्मल होना आवश्यक है। एकाग्रता के समय में राजस तथा तामस वृत्तियाँ निरुद्ध होने पर चित्त स्वच्छ रहता है। सत्त्वगुणप्रधान चित्त ध्येय विषय का संशय और विपर्यय से शून्य यथार्थज्ञान होता है। ध्यान के क्रमिक सोपान की उत्कर्षता से चित्त अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार करने में भी समर्थ होता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग में विषय साक्षात्कार का क्रम स्थूल विषय से सूक्ष्म विषय के प्रति उन्मुख होकर अग्रसर होता है। इसलिए स्मृतिशास्त्र में कहा गया है कि :–

"योग के आरम्भ में मूर्त्तिमान् हरि अर्थात् ध्येयवस्तु के सगुण रूप का ध्यान करें, तदनन्तर अमूर्त्त हरि अर्थात् उसी ध्येयवस्तु का निर्गुण स्वरूप का चिन्तन करें। इस प्रकार स्थूल विषयों में विजित चित्त को बाद में सूक्ष्म की ओर ले जाय।"

इस प्रकार स्थूलादि विषयों के साक्षात्कार का क्रम निश्चित होने से सम्प्रज्ञात योग की चार अवस्थाएँ स्वीकृत है। यथा – वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग, विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग। सम्प्रज्ञात योग की वितर्कादि पूर्व–पूर्व भूमियों में विचारादि उत्तरोत्तर भूमियों के आलम्बनीभूत विषय का चिन्तन एवं उत्तरोत्तर भूमियों में सम्प्रज्ञात योग की पूर्व–पूर्व भूमि के विषय का परित्याग रहता है।

(वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग)

तद्यथा यद्विराटशरीरं चतुर्भुजादिकं वा शरीरं घटादिकं वा षड्विंशतितत्त्वसंघातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्त्तते तदालम्बनमित्युच्यते। तत्रालम्बने प्रथमं स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिर्यः स्थूलगताशेषविशेषाणामतीतानागतवर्त्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोष–रूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। स्थूलशब्देन च भूतानीन्द्रियाणि चात्र गृह्यन्ते। तपोजपादिसाधनैर्ध्रुवादीनां चतुर्भुजादि–साक्षात्कारादयं साक्षात्कारो विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादिना तुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्वेतद्विपादिस्थमेव चतुर्भुजादिशरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति। तत्र च वाग्व्यवहारादिकं न सम्भवति। तथा चतुर्भुजादिशरीरस्य

बाह्याभ्यन्तराखिलगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः इति वितर्को व्याख्यातः।

अनुवाद

वह जैसे। जो चतुर्भुज आदि का विराट शरीर अथवा समष्टि या व्यष्टि रूप में संघटित छब्बीस तत्त्वों के संघात रूप विषय पर जो सर्वप्रथम भावना प्रवर्त्तित होती है, वही आलम्बन कहा जाता है। उस आलम्बन में सर्वप्रथम उसके स्थूल आकार में धारणा, ध्यान एवं समाधि से जो स्थूल रूप गत विषय के समस्त विशेषों के अतीत, अनागत, वर्त्तमान, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अश्रुत एवं अचिन्तित गुणों तथा दोषों का साक्षात्कार होता है, वह वितर्क कहा जाता है। और स्थूल शब्द से यहाँ पर भूतों एवं इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। तप तथा जप आदि साधनों से ध्रुव आदि का चतुर्भुज आदि साक्षात्कार से यह साक्षात्कार विलक्षण है। उनकी तपस्या तथा ध्यान आदि के द्वारा सन्तुष्ट परमेश्वर स्वयं शरीर का निर्माण कर उनके सामने प्रकट होकर वार्त्तालाप आदि व्यवहारों को किया था। योगी तो योग के बल से वैकुण्ठ तथा श्वेतद्वीप आदि में स्थित होकर ही, स्वयं अन्यत्र बैठे हुए उन चतुर्भुज शरीर आदि को देख लेता है। वहाँ पर वार्त्तालाप आदि व्यवहार सम्भव नहीं है। तथा इसका वैशिष्ट्य यह भी है कि वह उस चतुर्भुज आदि शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर समस्त गुणों एवं दोषों के अतीत एवं अनागत का भी साक्षात्कार कर लेता है, इस प्रकार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या कर दी गयी है।

रजनी

सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है यह हमने जान लिया है। अब इनका स्वरूप क्या है ? इसका निर्वचन अब किया जाएगा। इनमें से सर्वप्रथम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग आता है। इसमें सर्वप्रथम यह प्रश्न आता है कि वितर्क क्या है ? इसके समाधान हेतु भाष्यकार व्यास ने कहा है कि :–

"वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूलः आभोगः।" (व्या०भा०, 1/17)

अतः आलम्बन में समाहित चित्त का जो स्थूल विषयक साक्षात्कार होता है उसे वितर्क कहते हैं। परन्तु श्रीविज्ञानभिक्षु ने वितर्क पद की व्युत्पत्ति को दिखाते हुए कहा है कि :–

"विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगतनामा योग इति भावः।" (यो0वा0, 1/17)

अर्थात् जिसमें विशेष रूप से तर्कणा की जाती है अथवा निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसे वितर्क कहते हैं। और वितर्क से अनुगत या युक्त वृत्तिनिरोध वितर्कानुगत योग कहलाता है। अतः योनिज, विराटशरीर अथवा चतुर्भुजादि मूर्त्तिरूप समष्टि अथवा व्यष्टि रूप में संघटित किसी भी छब्बीस तत्त्वों के समूहरूप स्थूलतत्त्व को लेकर जो सर्वप्रथम भावना प्रवृत्त होती है उसे आलम्बन कहते हैं। उस आलम्बन में स्थूल विषय को लेकर योगी धारण, ध्यान तथा समाधि से चिन्तन की ओर आगे बढ़ता है। क्योंकि प्रारम्भ में चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने योग्य चैतन्यपर्यन्त पदार्थों का विवेक पूर्वक आलम्बन नहीं किया जा सकता है। योगबल से ही सूक्ष्म विषयों का प्रत्यक्ष किया जाता है। इसलिए वितर्कानुगत योग में अदृष्टजातीय चैतन्यपर्यन्त पदार्थ चित्त के आलम्बन नहीं बन पाते हैं। किञ्च एक ही आलम्बन में क्रमशः चतुष्प्रकारक सम्प्रज्ञात योग निष्पन्न होता है। इस प्रकार चतुर्भुजादि शरीररूप आलम्बन में चित्त का स्थूलाकार परिणाम होने से चित्त का जो स्थूलविषयक प्रथम साक्षात्काररूप परिपूर्णत्व है उसे वितर्कानुगत योग कहते हैं। अर्थात् इसमें स्थूल भूतेन्द्रियों का अदृष्ट (न देखे हुए), अश्रुत (न सुने हुए), अमत (न विचार किये हुए) तथा अशेषविशेष (सम्पूर्ण विशिष्टता) के साथ जो साक्षात्कार होता है उसे वितर्कानुगत योग कहते हैं। इसमें विषय के स्थूल रूप के समस्त विशेषों के अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान एवं विप्रकृष्ट, व्यवहित तथा अचिन्तित गुणों एवं दोषों का साक्षात्कार होता है।

यहाँ पर स्थूल शब्द से भूतों एवं इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। यह साक्षात्कार तपस्या तथा जप आदि साधनों से ध्रुव, प्रहल्लाद आदि का जो चतुर्भुज विष्णु आदि शरीरों का साक्षात्कार हुआ है, यह उससे अत्यन्त विलक्षण है। ध्रुव आदि के तपस्या तथा जप आदि साधनों से प्रसन्न हुए विष्णु आदि परमेश्वर स्वयं ही शरीर को निर्माण कर उनके सामने प्रकट हुये थे तथा उनके साथ वार्त्तालाप, शक्तिपात आदि व्यवहार किये थे। परन्तु इसके विपरीत योगी योग के बल से वैकुण्ठ तथा श्वेतद्वीप आदि स्थलों में विद्यमान ही, स्वयं अन्यत्र या योग अनुष्ठान के स्थल पर बैठे हुये उन विष्णु आदि चतुर्भुजादि

शरीरों का दर्शन कर लेता है। इस अवस्था में वहाँ पर ध्रुव आदि की तरह वार्त्तालाप आदि व्यवहार सम्भव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इसका वैशिष्ट्य यह भी है कि वह योगी उस चतुर्भुज आदि शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर समस्त गुणों एवं दोषों के तथा अतीत और अनागत का भी साक्षात्कार कर लेता है। अतः यह सिद्ध होता है कि योगी से अनुष्ठित वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग अन्य से अत्यन्त विलक्षण ही है।

(विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग)

अथ विचारो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने स्थूलाकारसाक्षात्कारानन्तरं स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा क्रमेण प्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्माकारधारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतस्तत्तत्सूक्ष्माकारः साक्षात्कारः सः विचार इत्युच्यते। सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र तन्मात्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते। ननु स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था स्यादिति चेन्न। सर्वेषां शरीरघटादीनां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणाभेदेन षड्विंशतितत्त्व–रूपत्वात्। तत्रापि कार्यरूपताया अस्थिरत्वेन कारणरूपताया एव सत्यत्वात्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति श्रुतेः। ननु तथापि सूक्ष्माकारस्यादृष्टजातीयस्य कथं भावना स्यादिति चेन्न। श्रुतमतप्रकारैरेव सामान्यतो भावनासम्भवात् अश्रुतामतविशेषस्य च योगजधर्मबलेन ग्रहणादेवं सर्वत्र। इति विचारो व्याख्यातः।

अनुवाद

अब विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या की जा रही है। उस आलम्बन में ही स्थूल आकार का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर स्थूलाकारक दृष्टि को परित्याग कर क्रमशः प्रकृति पर्यन्त जो सूक्ष्माकारक विषय हैं, उनमें धारणादि तीनों से जो पूर्व की तरह सम्पूर्ण विशिष्टरूप से सूक्ष्माकारक साक्षात्कार होता है वह विचार कहलाता है। सूक्ष्म शब्द का करणार्थक होने से यहाँ पर तन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्त्व एवं प्रकृति ये सूक्ष्म शब्द से गृहीत होते हैं। (यहाँ पर) शङ्का की जा सकती है कि यदि स्थूल आलम्बन में सूक्ष्मदृष्टि की जाये तो वह यथार्थ किस प्रकार से होगा ? तो यह उचित नहीं है (ऐसा समाधान मिलता है)। क्योंकि समस्त शरीर तथा घट आदि छब्बीस तत्त्वों के कार्य है और कार्य–कारण में अभेद मानते हुए उन्हे छब्बीस तत्त्वरूप ही माना जा सकता है। वहाँ पर भी (समस्त घट

पटादि विषय) अपने कार्यरूप में अस्थिर तथा कारणरूप में सत्य ही हैं। अतः श्रुति कहती है कि :– "समस्त विकार तो वाणी के आरम्भक मात्र ही हैं, सत्य तो मृत्तिका मात्र ही है।" यदि यह शङ्का की जाय कि जो सूक्ष्माकारक अदृष्टजातीयक है उसकी किस प्रकार भावना की जा सकती है ? (तो यह प्रश्न) उचित नहीं है। क्योंकि सामान्यरूप से तो जिन पदार्थों को सुना अथवा सोचा होता है केवल उन पर ही भावना की जा सकती है, परन्तु योगजधर्मबल से तो वे पदार्थ जो अश्रुत हों और अचिन्तित हों, उन्हे भी ग्रहण किया जा सकता है, इस प्रकार समस्त विषयों के सन्दर्भ में घटाना चाहिए। इस प्रकार विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या की गयी।

रजनी

अब सम्प्रज्ञात योग के चारों भेदों में से द्वितीय विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग का निर्वचन किया जा रहा है। क्योंकि क्रम से यह द्वितीय सोपान में आता है। यह विचार क्या है ? जिसके आलम्बन से विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। इसके समाधान हेतु भाष्यकार ने कहा है :–

"सूक्ष्मो विचारः।" (व्या0भा0, 1/17)

अर्थात् सूक्ष्मविषयक जो चित्त का आलम्बन होता है उसे विचार कहते हैं। यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु विचार शब्द को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि सूक्ष्म विषय प्रकृति पर्यन्त विशेषरूप से सञ्चरण करने के कारण उस साक्षात्कार को विचार कहते हैं तथा इस विशिष्ट विचार से अनुगत या युक्त जो वृत्तिनिरोध है, उसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। जैसे :–

"विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तमिति विचारस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो विचारानुगतनामा योग इति भावः।" (यो0वा0, 1/17)

अतः वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग में जो आलम्बन था उस वितर्क से सम्बन्धित स्थूल आलम्बन में कारणरूप से अनुगत अर्थात् भूत तथा इन्द्रियों के कारणरूप से मान्य जो तन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्त्व तथा प्रकृति रूप सूक्ष्म विषय है, उनके आकार से आकारित होने के कारण जो सूक्ष्मविषयगत अशेषविशेष का साक्षात्कार चित्त को होता है उसे विचार या विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग में

जिस विषय का आलम्बन किया गया था उसी स्थूलविषय का ही सूक्ष्मविषय का आलम्बन विचारानुगत योग में होना अनिवार्य है। इससे भिन्न नहीं। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"तत्रैवालम्बने ....।" (यो०वा०, 1/17)

उस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग में जो स्थूल विषय का आलम्बन स्वीकार किया गया था उसका सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त वह योगी उस वितर्कानुगत योग के उत्तर सोपान विचारानुगत योग में विषय का आलम्बन करता है। इसमें वितर्कानुगत में आलम्बित स्थूल विषय का परित्याग कर लेता है तथा उस स्थूल विषय का सूक्ष्माकारक विषय को आलम्बन करने लगता है। यह सूक्ष्माकारक विषय शब्द–स्पर्श–रूप–रस– गन्ध–ये पाँच तन्मात्ररूप से लेकर अहङ्कार, महत्तत्त्व तथा प्रकृति ये सब सूक्ष्म शब्द से अङ्गीकृत है। इसमें ही आलम्बन किया जाता है। इस आलम्बन में योगी सूक्ष्म विषय को लेकर धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीनों के द्वारा साक्षात्कार करता है। इसमें सूक्ष्मविषयों का समस्त विशिष्टताओं से युक्त अदृष्ट, अश्रुत, अमत, अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान एवं विप्रकृष्ट, व्यवहित आदि गुणों एवं दोषों का साक्षात्कार हो जाता है। इसमें योगी को सूक्ष्मपदार्थों का अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है।

(आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग)

अथानन्दो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारः साक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात्। यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र स्तस्तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्। यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्ट इति मन्तव्यम्। मोक्षधर्मे तु धर्मधर्म्यभेदेन धर्मान्तरवदानन्दमपि चतुर्विंशतितत्त्वेष्वेव प्रवेश्य सम्प्रज्ञातयोगस्य त्रैविध्यमेव प्रोक्तम्।

"वितर्कश्च विचारश्च विवेकश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः।।"

इति प्रथमं योगं सम्प्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः मुनेरादितः क्रमेण वितर्कादित्रयं जायत इत्यर्थः। तत्र च विवेको वक्ष्यमाणाऽस्मितेति। इत्यानन्दो व्याख्यातः।

अनुवाद

अब आनन्द की व्याख्या की जा रही है। उस (पूर्व स्वीकृत) आलम्बन में ही सूक्ष्माकार विषय का साक्षात्कार करने के उपरान्त उस दृष्टि को भी छोड़कर चौबीस तत्त्वों में अनुगत सुखरूप पुरुषार्थ पर धारणादि त्रयों से जो पूर्व की तरह सम्पूर्ण विशिष्टता से युक्त सुखाकारक साक्षात्कार होता है, वह आनन्द कहलाता है। क्योंकि ज्ञान एवं ज्ञेय इन दोनों के मध्य अभेद का उपचार होता है। यद्यपि प्रकृति के त्रिगुणात्मकत्व होने के कारण सुख की भाँति दुःख एवं मोह भी सर्वत्र होते हैं तथापि सुख के प्रति राग होने के कारण संसार से आत्मदर्शन के प्रतिबन्धक होने के कारण वही (सुख) ही समस्त विशिष्टताओं से युक्त साक्षात्कार योग के द्वारा करना चाहिए। जैसे उसमें दोष का दर्शन करने से दुःख का अनुभव करते हुए (योगी का उसके प्रति) वैराग्य हो जाना चाहिए, इस अभिप्राय से ही आनन्द मात्र में योग का उपदेश दिया जाना चाहिए यह स्वीकृत है। मोक्षधर्म में तो धर्म तथा धर्मि में अभेद मानते हुए अन्य धर्मों की भाँति आनन्द को भी चौबीस तत्त्वों में ही प्रविष्ठ करके सम्प्रज्ञात योग का त्रैविध्य बताया गया है। जैसे :–

"सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करता हुआ मुनि का प्रथम से क्रमशः वितर्क, विचार और विवेक यह तीन प्रकार की समाधि उत्पन्न होती है।" महा० मोक्षपर्व।

इस प्रकार प्रथम योग सम्प्रज्ञात का अभ्यास करता हुआ मुनि को पहले क्रम से वितर्कादि तीनों उत्पन्न होते हैं। और उसमें विवेक वक्ष्यमाण अस्मिता है। इस प्रकार आनन्द (अनुगत सम्प्रज्ञात योग) की व्याख्या की गयी।

रजनी

चार प्रकार के सम्प्रज्ञात योग के उत्तरोत्तर क्रमिक सोपान से अब आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग का निर्वचन किया जा रहा है। इस आनन्द के स्पष्टीकरण में भाष्यकार व्यास कहते हैं :–

"आनन्दो ह्लादः।" (व्या0भा0, 1/12)

अतः चित्त आलम्बन में जो ह्लादाख्य साक्षात्कार प्राप्त करता है वह आनन्द या आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। यह आलम्बन पूर्व पूर्व सम्प्रज्ञात योग में किया हुआ आलम्बन में किया जाता है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि उस पूर्व स्वीकृत आलम्बन में अर्थात् वितर्कानुगत तथा विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग में जो आलम्बन स्वीकार किया गया था उस आलम्बन पर ही आनन्दानुगत योग सम्भव है। अतः उस पूर्वोक्त स्थूल आलम्बन में विचारानुगत भूमि में आरोहित होने से सत्त्वोत्कर्ष के कारण उत्पन्न हुए जिस ह्लादसंज्ञक सुखविशेष का साक्षात्कार चित्त को होता है, वह आनन्दविषयक होने से आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु वार्त्तिक में कहते हैं किः—

"अत्रैवालम्बने यश्चित्तस्य विचारानुगतभूम्यारोहात्सत्त्वप्रकर्षेण जायमाने ह्लादाख्यसुखविशेष आभोगः साक्षात्कारो भवति स आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः। तेनानुगत युक्तो निरोध आनन्दानुगतनामा योग इति भावः।" (यो0वा0, 1/12)

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग हेतु विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग में जो सूक्ष्माकारक साक्षात्कार हुआ था उसके अनन्तर उस सूक्ष्माकारक दृष्टि को परित्याग करना पड़ता है। उसके बाद चौबीस तत्त्वों में अनुगत सुखरूप पुरुषार्थ का धारणा, ध्यान तथा समधि इन तीनों साधनों से समस्त विशिष्टताओं से युक्त सुखाकार साक्षात्कार चित्त का होता है। उस आलम्बन में यह जो साक्षात्कार चित्त में होता है वह आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। इसमें ज्ञान और ज्ञेय में अभेद स्वीकार किया जाता है।

यहाँ पर श्रीवाचस्पति मिश्र आदि विद्वान् यह मत देते हुए कहते हैं कि – आनन्दानुगत योगकालिक साक्षात्कार का विषय सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ हैं। परन्तु श्रीविज्ञानभिक्षु योगवार्त्तिक में इससे भिन्न मत पोषण करते हैं। उनके अनुसार वितर्क और विचारानुगत योग में स्थूलभूत से लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्मपदार्थों के साक्षात्कार से जायमान हर्षोल्लास से अभ्यासी के चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है। यही सुखविशेष ही आनन्दानुगत योग का विषय है। इस अवस्था में "मैं सुखी हूँ" इस प्रकारक चित्तवृत्ति बनती है। अन्य कोई सूक्ष्मपदार्थ साक्षात्कार का विषय नहीं होता है। श्रीविज्ञानभिक्षु

कहते हैं कि षड्विंशति तत्त्वों में इन्द्रियों की गणना स्थूलजातीय तत्त्वों के अन्तर्गत की जाती है और भाष्यकार व्यास ने भी वितर्कानुगतयोगकालिक साक्षात्कार को स्थूलविषयक कहा है। अतः स्थूल इन्द्रियाँ आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग कालिक साक्षात्कार का विषय हो नहीं सकता। व्यास ने भाष्य में आनन्द को ह्लाद कहा है। अतः आनन्दानुगत योग में ह्लादविषय ही स्फुट है। यदि पूर्वपक्ष यह कहता है कि ह्लाद पद ह्लादवान् को लक्षित करे तो इसमें लक्षणा को स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु यहाँ पर लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ से ही अर्थनिष्पन्न हो रहा है।

पुनः यदि आनन्दानुगत योग को इन्द्रियविषयक स्वीकार किया जाएगा तो इन्द्रियों के साथ चित्त का सम्बन्ध तथा असम्बन्ध दोनों होने से इसके सानन्द और निरानन्द के रूप से दो भेद होने लगेंगे, जो कि अनिष्ट है। क्योंकि सूत्र और भाष्य दोनों में दोष होने लगेगा। क्योंकि सूत्र अथवा भाष्य में कहीं भी आनन्द के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। पुनः "क्षीणवृत्तेरभिजातस्यैव .... समापत्ति।" इस सूत्र में तीन समापत्तियाँ स्वीकृत है। इसके अनुसार वितर्कानुगत और विचारानुगत योग ग्राह्य विषयक समापत्ति है तथा आनन्दानुगत योग ग्रहण विषयक समापत्ति है। गृह्यते अनेन इति ग्रहणम् इन्द्रियम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार आनन्दानुगत योग को इन्द्रियविषयक मानना उचित नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त सूत्र के द्वारा सम्प्रज्ञात योग में योगी को सभी विषयों का साक्षात्कार होता है, यह सूत्रकार तथा भाष्यकार का अभिमत है। अतः इस योग का आलम्बन वह सुख होता है, जो उसी ध्येय विषय के स्थूल और सूक्ष्मरूपों का साक्षात्कार करने से स्वतः अनुभूत होता है। उस सुखविशेष का आभोग होने पर आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग होता है।

(अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग)

अथ अस्मिता व्याख्यायते। एवं भूमिकाक्रमेण स्थूलसूक्ष्मानन्दानां स्वरूपाणि दोषबहुलानि साक्षात्कृत्य तेभ्यो विरज्य तत्रैवालम्बने यः कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वादिरूपैस्तेभ्यो विवेकत आत्माकारः साक्षात्कारः सोऽस्मितेत्युच्यते। देहादिभिन्नोस्मीत्येतावन्मात्राकारत्वात्। आत्मज्ञानांनन्तरं च ज्ञातव्यं नास्तीत्यतोऽस्मिता चरमभूमिका भवति। अस्यैव चात्म–साक्षात्कारस्य परकाष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते। यस्योदये ज्ञानेऽप्यलंप्रत्यय–रूपेण परवैराग्येण असम्प्रज्ञातयोगो जायत इति। अस्याश्चास्मितायाः द्वौ

विषयौ चतुर्विंशतितत्त्वविवेकत आत्मसामान्यं पञ्चविंशतितत्त्वविवेकतः परमात्मा च तयोरप्यौत्सर्गिको भूमिकाक्रमोऽस्ति।

"चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः।
विवेकात् केवलीभूतः षड्विंश सोऽनुपश्यति।।"

इति स्मृतेः जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च। जीवस्य हि स्वरूपं प्रत्यक्षमस्ति तत्रैव ज्ञानेऽपरिच्छिन्नकूटस्थत्वादिज्ञान-स्यैवात्मसाक्षात्काररूपत्वात्। परमात्मनस्तु तदाऽप्रत्यक्षमिति। तत्रात्मसामान्यविषयको योगः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिशब्देन स्थले स्थले सूत्रभाष्ययोरुक्तः। परमात्मयोगस्तु ईश्वरप्रणिधानाद्वेति सूत्रेण तद्भाष्येण चोक्तः।

अनुवाद

अब अस्मिता की व्याख्या की जा रही है। इस प्रकार (उपरि वर्णित) भूमिका के क्रम के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द स्वरूपों के बहुत से दोषों का साक्षात्कार करके उनसे विरक्त हुआ योगी को उसी आलम्बन में ही पहले की अवस्था से विवेकात्मक जो कूटस्थ, विभु, चिन्मात्र आदि रूपों से युक्त आत्माकार साक्षात्कार होता है उसे अस्मिता कहते हैं। क्योंकि उस अवस्था में देह आदि से भिन्न "मैं हूँ" इस प्रकारक साक्षात्कार होता है। आत्मज्ञान के अनन्तर कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रहता, इसलिए अस्मिता चरमभूमिक होती है। और इस आत्मसाक्षात्कार का ही पराकाष्ठा धर्ममेघ समाधि यह कही जाती है। जिसके उदय होने पर ज्ञान में भी अलं प्रत्यय रूपक परवैराग्य से असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है। इस अस्मिता के दो विषय होते हैं, चौबीसतत्त्वों (प्रकृति आदि) के विवेकज्ञान से आत्मसामान्य और पच्चीसतत्त्वों (पुरुष के साथ) के विवेकज्ञान से परमात्मा है। इन दोनों में भी औत्सर्गिक भूमिका क्रम है।

"चौबीस तत्त्वों से भिन्न जो पच्चीसवाँ तत्त्व है, उससे विविक्त केवलीभूत छब्बीसवें तत्त्व को देखता है।"

इस प्रकार जीव की अपेक्षा से भी परमात्मा सूक्ष्म है यह स्मृति से प्राप्त होता है। जीव का ही स्वरूप प्रत्यक्ष होता है, उस अवस्था में ही ज्ञान में अपरिच्छिन्न, कूटस्थ आदि ज्ञान का आत्मसाक्षात्काररूप होता है।

परमात्मा का तो उस समय अप्रत्यक्ष होता है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति पद से जो योग अनेक स्थलों में वर्णित है, वह आत्मसामान्यविषयक ही है, ऐसा सूत्र एवं भाष्य दोनों में कहा गया है। परमात्मविषयक योग तो 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' इस सूत्र एवं भाष्य के द्वारा कहा गया है।

रजनी

सम्प्रज्ञात योग का उत्तरोत्तर क्रम से अस्मिता अन्तिम सोपान के रूप में स्वीकृत है। यह अस्मिता क्या है ? इसके स्पष्टीकरण में भाष्यकार व्यास ने कहा है कि :–

''एकात्मिका सम्बिदस्मिता।'' (व्या0भा0, 1/17)

अर्थात् भाष्यानुसार पुरुष की एकाकार बुद्धि अस्मिता कही जाती है। भाष्योक्त एकात्मिका के स्पष्टीकरण में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि:

''एक शब्दोऽत्र केवलवाची, एकात्मिका।''

तथा इसके विग्रह को दिखाते हुए कहते हैं कि :–

''एक एव आत्मा अस्यां विषयत्वेन अस्तीति एकात्मिका।''
(यो0वा0, 1/17)

अर्थात् जिस आलम्बन में केवल एक आत्मा ही विषय के रूप से आलम्बित होता है, उसे एकात्मिका कहते हैं। इस प्रकार एक ही आलम्बन में चित्त की होने वाली केवल पुरुषाकार सम्बित् साक्षात्कार अस्मिता है। क्योंकि इसमें केवल मैं हूँ इत्याकारक प्रत्यय उत्पन्न होता है। सम्प्रज्ञात योग की इस अन्तिम सोपान में वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत योगों में साक्षात्कृत जो विषय स्थूल, सूक्ष्म तथा ह्लाद आदि विषयों के स्वरूपों में बहुत से दोषों का साक्षात्कार करते हुए त्याग करता है। उस आलम्बन में ही आत्माकार साक्षात्कार होता है। यह कूटस्थ विभु एवं चिन्मात्रत्वादि रूपों से युक्त होता है। आत्मोपलब्धि हो जाने के उपरान्त जानने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इसलिए यह योग चरमभूमिक योग भी कहलाता है। इसी आत्मसाक्षात्कार की पराकाष्ठा धर्ममेध समाधि के नाम से जानी जाती है। इसके उदय होने पर अलं बुद्धि स्वरूपक परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि कुछ व्याख्याकार अहङ्कार विशिष्ट आत्मा अथवा चैतन्य को अस्मितानुगत योग में साक्षात्कृत होने वाला आलम्बन का विषय स्वीकार किये हैं। इस अवस्था में योगी इन्द्रियों का कारणभूत अहङ्कार ग्रहीतृ पुरुष के साथ एकीभूत हुआ प्रतिभासित होता है। परन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अस्मितानुगत योग को शुद्ध आत्मविषयक बतलाया है। श्रीभिक्षु के अनुसार आत्मतत्त्व जीव तथा ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है। भूमिका क्रम से प्रथम जीवात्मा का साक्षात्कार होता है, उसके बाद ईश्वर का शुद्ध पुरुष के साक्षात्कार का स्वरूप है – "अस्मि"।

चित्र

(योग के त्रिविध भूमियाँ)
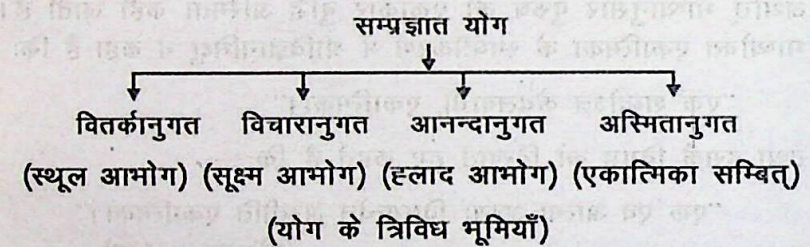
तथा मात्स्यकौर्मयोरपि :–

"योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः।।

प्रथमा भावना पूर्वे सांख्ये त्वक्षरभावना।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना परमेश्वरी।।" इति।

अत्र भूतशब्दोऽखिलजड़ोपलक्षकः। अन्त्याश्रमी परमहंसः। प्रथमा भूतभावना पूर्वे प्रथमयोगिनि। सांख्ये तु मध्यमयोगिन्यक्षरभावना कूटस्थचित्सामान्यभावना। तृतीये च परमहंसेऽन्तिमा अन्ते कर्त्तव्या पारमेश्वरी परमात्मगोचरा भावनेत्यर्थः। अतः सर्वेषु सम्प्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः। तथा कौर्मेऽप्युक्तम् :–

"यत्र पश्यसि चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः।।

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः।।"इति।

नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु सम्भव इति चेन्न। कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्। मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति।

अनुवाद

तथा मत्स्य एवं कूर्म पुराणों में भी कहा गया है कि :–

"योगी तीन प्रकार के हैं ऐसा जानना चाहिए, यथा भौतिक, सांख्य और अन्त्याश्रमी। इनमें से तीसरा उत्तम योग में स्थित यह कहा गया है। पहले योगी में प्रथम भावना, (मध्यम योगी) सांख्य में अक्षर भावना तथा तीसरे (योगी के) योग में अन्तिम परमेश्वरी भावना रहती है, ऐसा कहा गया है।

यहाँ पर भूतशब्द का प्रयोग समस्त जड़ पदार्थों का उपलक्षक है। अन्त्याश्रमी वाला योगी परमहंस है। प्रथम भूतविषयक भावना होती है। पूर्वे इस पद से तात्पर्य प्रथम योग में से है। सांख्ये इस पद से तात्पर्य मध्यम योग में अक्षर की भावना की जाती है तथा तृतीये इस पद से तात्पर्य परमहंस में अन्तिम परमेश्वरी अर्थात् परमात्मविषयक भावना अन्त में करनी चाहिए, यह भाव है। इसलिए समस्त सम्प्रज्ञात योगों के मध्य पारमेश्वर योग ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार कूर्मपुराण में भी कहा गया है कि :–

"जिस योग में तुम मुझे एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मा रूप से देखते हो वह पारमेश्वर महायोग कहा जाता है। विविध ग्रन्थों में योगियों के अन्य जितने भी योग सुने जाते हैं वे सब इस ब्रह्म योग की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं होते हैं। जिस योग में मुक्तात्मा साक्षात् विराट पुरुष का साक्षात्कार होता है, वह योग समस्त योगों में से श्रेष्ठ योग के रूप में स्वीकार किया गया है।"

यदि यह शङ्का की जाय कि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग किस रूप से घट आदि आलम्बनों में सम्भव है, तो यह उचित शङ्का नहीं है। क्योंकि कारणरूप से जीव एवं ईश्वर सर्वत्र अनुस्यूत है, और मुक्तात्माओं का विभुत्व होने से इनका भी सर्वत्र अनुगमन है।

रजनी

यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु ने पुराणों के समर्थन को दिखाया है। मत्स्यपुराण के अनुसार यह योग तीन प्रकार का है। जिस प्रकार योगसूत्रानुसार प्रत्येक सम्प्रज्ञात भूमि में भूमिका के क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर साक्षात्कार होता है उसी प्रकार पुराणों में भी बताया गया है। उन तीनों भूमियों का पारिभाषिक नाम जैसे :– 1. भौतिक, 2. सांख्य और 3. अन्त्याश्रमी।

क0 भौतिक

यह सम्प्रज्ञात योगों में से प्रथम भावना है। यहाँ पर भूतेषु भव भौतिकः इस व्युत्पत्ति के अनुसार भूतशब्द समस्त जड़ पदार्थों का उपलक्षक है। अतः इस सम्प्रज्ञात योग में भूतविषयक भाव प्रवर्त्तित होता है। यह निम्न कोटी का योग कहलाता है।

ख0 सांख्य

यह सम्प्रज्ञात योगों में से द्वितीय अथवा मध्यम कोटी के योग कहलाता है। इस में अक्षर की भावना की जाती है। अर्थात् इस मध्यम कोटी के योग में कूटस्थ चित्सामान्य विषयक भावना होती है।

ग0 अन्त्याश्रमी

यह समस्त सम्प्रज्ञात योगों में से श्रेष्ठ है। कूर्मपुरण के अनुसार जिस योग में ध्येय विषय का एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मारूप से साक्षात्कार होता है वह पारमेश्वर महायोग कहा जाता है। इस अन्तिम उत्तम योग में परमेश्वर विषयक भावना प्रवर्त्तित होती है। अर्थात् इस योग में परमात्मविषयक भावना अन्त में करनी चाहिए। यह अन्त्याश्रमी वाला योग परमहंस इस पारिभाषिक नाम से जाना जाता है।

इस योग में मुक्तात्मा साक्षात् विराट पुरुष का साक्षात्कार होता है। इसलिए यह योग समस्त योग में श्रेष्ठ योग है।

अब पूर्वपक्षी प्रश्न उपस्थापन करते हैं कि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग में घट आदि स्थूल विषयों का आलम्बन सम्भव नहीं हो सकता है। इस के समाधान में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि यह युक्तियुक्त प्रश्न नहीं

है। क्योंकि कारणरूप से उभय जीव और परमेश्वर समस्त स्थलों में अनुस्यूत है। केवल इतना ही नहीं अपितु मुक्तात्माओं का विभुत्व सर्वव्यापकत्व हो जाने से इनका भी सर्वत्र अनुगमन है। इसलिए अस्मितानुगत योग घट आदि आलम्बनों में सम्भव है।

(समापत्ति)

तदेवं सम्प्रज्ञातयोगस्य चत्वारो भेदाः निरुपिताः। तेषु च वितर्काद्याश्चत्वारः स्थूलादिसाक्षात्काराः समापत्तिशब्देनापि तन्त्रे परिभाषिताः। तत्र च वितर्कानुगतविचारानुगतयोर्यौ वितर्कविचारौ विशेषणे तावपि प्रत्येकं द्विविधौ भवतः। तयोर्वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्करूपेण द्विधा। विचारश्च सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधा। तद्यथा भूतेन्द्रियरूपस्थूलसाक्षात्कारो यो वितर्क इत्युक्तः स चेच्छब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन मिश्रितो भवति तदा सवितर्कसमापत्तिरित्युच्यते, तेन शून्या च निर्वितर्कसमापत्तिरिति।

अथ कः शब्दार्थज्ञानविकल्प इति। उच्यते हरिरिति शब्दो हरिरित्यर्थो हरिरिति ज्ञानम्, इत्येवं त्रयाणां शब्दार्थज्ञानानामेकाकारत्वेनाभेदभ्रमः पूर्वोक्तविकल्परूपः शब्दार्थज्ञानविकल्पः। तद्युक्तश्च स्थूलसाक्षात्कारः सवितर्को विकल्प इति चोच्यते। तच्छून्यश्च स्थूलसाक्षात्कारो निर्वितर्को निर्विकल्प इति चोच्यते। निर्विशेषणात्मादिसाक्षात्कारो निर्विकल्प इत्याधुनिकतार्किकप्रलापस्त्वप्रामाणिक एवेति मन्तव्यम्। न च शब्दादिविकल्पो विकल्पसामान्योपलक्षकः युक्तिसाम्यात्। तेन च सवितर्क समापत्तिरपर–प्रत्यक्षमुच्यते विकल्परूपाविद्यालेशसम्पर्कात्। निर्वितर्का तु समापत्तिः परं प्रत्यक्षमारोपसामान्याभावात्। इति वितर्कस्य द्वैविध्यमुक्तम्।

विचारस्य द्वैविध्यमुच्यते। तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो यो विचार इत्युक्तः, स चेत् स्वस्वविकाराणां देशकालादीनां चानुभवेन मिश्रितो भवति तदा सविचारसमापत्तिरुच्यते। तेन शून्या निर्विचारसमापत्तिरिति। तदित्थं सम्प्रज्ञातस्य भेदाः उक्ताः। सर्वे च ते सम्प्रज्ञातयोगाः सालम्बनयोगाः इति सबीजयोग इति चोच्यन्ते ध्येयरूपालम्बनयोगात् तदाऽपि वृत्तिबीजसंस्कारोत्पत्तेश्चेति।

अनुवाद

इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग के चारों भेदों का निरुपण कर दिया गया है। उन में से स्थूल आदि विषयों के साक्षात्कार करने वाले वितर्कादि चारों समापत्ति शब्द से भी शास्त्र में परिभाषित किया गया

है। और वहाँ वितर्कानुगत तथा विचारानुगत जो सम्प्रज्ञात योग उनमें जो वितर्क और विचार दो विशेषण हैं वह भी प्रत्येक दो प्रकार से हैं। उन दोनों में से वितर्क सवितर्क तथा निर्वितर्क रूप से दो है। और विचार सविचार निर्विचार के रूप से दो है। वह जैसे :– भूतेन्द्रिय रूप स्थूल विषयों का साक्षात्कार करने वाला जो वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग कहा गया है वह यदि शब्दार्थज्ञानविकल्पों से मिश्रित होता है तब वह सवितर्क समापत्ति कही जाती है और शब्दार्थज्ञानविकल्पों से रहित निर्वितर्क समापत्ति कही जाती है।

अब शब्दार्थज्ञान का विकल्प क्या है ? उसे कहा जा रहा है। हरि यह शब्द, हरि यह अर्थ तथा हरि यह ज्ञान इस प्रकार तीनों का शब्द, अर्थ और ज्ञान का एकाकार रूप से जो अभेद के भ्रम की प्रतीति होती है वह पूर्वोक्त विकल्परूप शब्दार्थज्ञानविकल्प है। उस से युक्त स्थूल विषयों का जो साक्षात्कार होता है वह सवितर्क कहा जाता है और उस (विकल्प) से शून्य जो स्थूलविषय का साक्षात्कार होता है वह निर्वितर्क निर्विकल्प कहा जाता है। विशेषण से रहित आत्मसाक्षात्कार को निर्विकल्प मानने वाले आधुनिक तार्किकों का जो प्रलाप है वह अप्रामाणिक ही मानना चाहिए। युक्ति के साम्य के कारण यहाँ जो शब्दादि का विकल्प कहा गया है वह विकल्प सामान्य का उपलक्षक नहीं है। इस के कारण विकल्परूप अविद्या लेश के सम्पर्क से सवितर्क समापत्ति अपरप्रत्यक्ष कहा जाता है। निर्वितर्क समापत्ति तो आरोप सामान्य के अभाव के कारण पर प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस प्रकार वितर्क के द्विविधत्व कह दिया गया।

(अब) विचार के दोनों भेदों को कह रहे हैं। तन्मात्रादि प्रकृति तक जो सूक्ष्मविषयों का साक्षात्कार विचार कहा गया, वह यदि अपने अपने विकारों का और देश काल आदि के अनुभव से मिश्रित होता है तब वह समापत्ति सविचार समापत्ति कहलाती है। उससे शून्य होने पर निर्विचार समापत्ति कही जाती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग के भेदों को कह दिया गया है। वे सब सम्प्रज्ञात योग ध्येय रूप आलम्बन से युक्त होने के कारण और उस समय वृत्ति के बीज रूप संस्कारों को उत्पन्न करने के कारण, (यह) सालम्बन योग तथा सबीज योग (के नाम से) कहे जाते हैं।

रजनी

सम्यक् रूप से चित्त को ध्येय के आकार में परिणत हो जाने

को समापत्ति कहते हैं। चित्त का विषयाकार परिणाम क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र इन सभी अवस्थाओं में अन्य विषयक वृत्ति के निरोधपूर्वक प्रत्यक्षज्ञान के अर्थ में यह समापत्ति शब्द पर्यवसित है। सम्प्रज्ञात योग होने पर ही यह समापत्ति होती है। अतः यह समापत्ति शब्द सम्प्रज्ञात योग का पर्याय वाचक शब्द है। वस्तुतः इन दोनों में कार्यकारणभाव है। योगसूत्र में विषय के भेद से समापत्ति तीन प्रकार की बतायी गयी है। जैसे :–

क0 ग्राह्य समापत्ति।

ख0 ग्रहण समापत्ति।

ग0 ग्रहीतृ समापत्ति।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार सम्यक् रूप से विषयाकार प्रत्यक्षवृत्ति ही समापत्ति है। सम्प्रज्ञात योग के भेदों में ही चित्त की यह विशिष्ट प्रज्ञात्मक अवस्था होती है, न कि योग के अष्टाङ्गों में से धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्थाओं में। क्योंकि धारणादि तीनों योगाङ्गों में समग्र रूप से आलम्बन का ग्रहण नहीं होता है। कहा भी है कि :–

"समापत्तिः सम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिः प्रत्यक्षवृत्तिरित्यर्थः। चित्तस्य चेयं प्रज्ञाऽख्यावस्था सम्प्रज्ञातष्वेव भवति न तु धारणाध्यान–समाधिषु, तेषु सामग्र्येणालम्बनाग्रहणात् साक्षात्कारस्यैव विशेषा–कारत्वादिति।" (यो0वा0, 1/41)

इसलिए विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक अवस्था में ही विशेषाकारापतित्व को स्वीकार किया गया है। अतः विषयान्तर सञ्चरण के अभाव से विशिष्ट चित्त की स्वच्छ स्फटिक की भाँति ग्रहीतृ आदि आलम्बनों में अवस्थिति होने से जो सम्यक् रूप से ध्येयाकारता होती है, वही समापत्ति कही जाती है। अतः सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में कहा है कि :–

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्यैव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।" (यो0सू0, 1/41)।

सूत्रोक्त क्षीणवृत्ति पद से तात्पर्य यह है कि चित्त में स्वाभाविक रूप से समस्त विषयों का साक्षात्कार करने का सामर्थ्य निहित है। परन्तु ध्येय से भिन्न विषयों में होने वाली आसक्ति के कारण अथवा विषयान्तरगामी होने के कारण चित्त की यह शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। अतः विषयान्तर

सञ्चरणरूप प्रतिबन्ध का पूर्णरूप से नाश होने पर चित्त स्वतः ही ध्येय विषय का साक्षात्कार करता है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने पाँच समापत्तियों को स्वीकार किया है। इनके अनुसार ग्राह्यविषयक सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार आदि इस प्रकार चार समापत्तियाँ एवं पाँचवाँ ग्रहीतृविषयक एक अस्मिता नामक समापत्ति है। श्रीभिक्षुजी योगवार्तिक में प्रकाश डालते हैं कि, जैसे :– ·

"तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्म–भेदेन सवितर्काद्याश्चतस्रः पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति।" (यो0वा0, 1/46)

अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि आनन्दानुगत योग को ग्रहण कर सम्प्रज्ञात योग के "छह" प्रकार के अवान्तर भेद हो जाते हैं।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग

चतुर्भुजादि शरीररूप आलम्बन में चित्त का स्थूलाकार परिणाम होने से चित्त का जो स्थूल विषयक प्रथम साक्षात्कार रूप परिपूर्णत्व है वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग है। सम्प्रज्ञात योग समापत्ति के नाम से कहे जाने के कारण यह वितर्कानुगत समापत्ति भी कहलाता है। यहाँ पर वितर्क दो भागों से विभाजित है। यथा :–

क0 सवितर्क समापत्ति।

ख0 निर्वितर्क समापत्ति।

यह दोनों समापत्ति कहे जाने से सवितर्क समापत्ति और निर्वितर्क समापत्ति है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार यहाँ पर सवितर्क और निर्वितर्क में जो वितर्क पद है वह विशिष्ट तर्कणा को द्योतित नहीं करता, जैसे वितर्कानुगत योग की व्याख्या में कहा गया है अपितु विपरीत तर्क ही वितर्क है। क्योंकि सूत्रानुसार शब्दार्थज्ञान का अभेद भ्रम ही विकल्प शब्द के अर्थ के रूप से जाना जाता है। जैसे :–

"तत्र च वितर्कशब्दो विपरीततर्कणार्थकः, शब्दार्थज्ञानविकल्पस्यैव तस्मिन् सूत्रे विकल्पशब्दार्थावगमात्।" (यो0वा0, 1/17)

क0 सवितर्क समापत्ति

प्रथम चारों समापत्तियों में से सम्प्रज्ञात योग की यह सवितर्क अवस्था केवल शब्दार्थज्ञानमय चिन्तन से प्रारम्भ होता है। इसमें शब्द,

शब्द का अर्थ एवं उसका ज्ञान अभिन्न रूप से भासित होता है। जैसे :– अयं घटः यह शब्द, अयं घटः यह अर्थ (अर्थात् कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ विशेष) और अयं घटः यह ज्ञान (अर्थात् सांख्ययोग के घटमहं जानामीति यह ज्ञान होना है।) परस्पर भिन्न है। परन्तु इस समापत्ति में इन तीनों की प्रतीति अपृथक् रूप से होती है। इसके स्पष्टीकरण में सूत्रकार ने कहा है कि :–

"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः।"
(यो0सू0, 1/42)

यहाँ पर अर्थ और ज्ञान के धर्मों से शब्द के तारत्व, मन्दत्व आदि भिन्न, शब्द और ज्ञान के धर्मों से अर्थ के जडत्व, मूर्त्तत्व आदि भिन्न धर्म तथा शब्द और अर्थ के धर्मों से ज्ञान के प्रकाशकत्व, अमूर्त्तत्व आदि भिन्न धर्मों को स्वीकार किया जाता है। अतः शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की प्रतीति पृथक् है। परन्तु घटादि स्थूलभूतेन्द्रियों में समाहित योगी की समाधि प्रज्ञा में समारूढ़ जो घटादि विषय है वह यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से अर्थात् "अयं घटः भासते" इत्याकारक शब्दार्थज्ञान के अभेदभ्रम से युक्त होकर साक्षात्कृत होता है, तब वह समापत्ति विकल्पयुक्ता होती है। और यही विकल्पात्मक अर्थविषयिणी समापत्ति सवितर्क समापत्ति कही जाती है। उपर्युक्त उदाहरण वाक्य में "अयं घटः" इस वाक्यांश में शब्द और अर्थ का तथा भासते इस पद में अर्थ और ज्ञान का एवं अर्थ द्वारा शब्द और ज्ञान का अभेदात्मक विकल्प भासित होता है। यह समापत्ति अविद्या से लवलेश युक्त होने के कारण अपर प्रत्यक्ष कही जाती है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्प्रज्ञात योग की प्रथम अवस्था में यदि योगी को स्थूलविषयों का अविद्यायुक्त ज्ञान प्राप्त होता है तब लौकिक ज्ञान की अपेक्षा इस समाधिज ज्ञान में कोई विशेषता नहीं रह जाती है। इस के समाधान हेतु विज्ञानभिक्षु का कहना है कि यद्यपि वितर्कानुगत योग में योगाभ्यासी को स्थूलविषय का विकल्प रहित ज्ञान नहीं हो पाता है तथापि सवितर्क योग से उसे स्थूल विषयगत समस्त विशेषरूपों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। तथा स्थूलविषय के विशुद्ध रूप का ज्ञान कराने वाले निर्वितर्क योग का हेतु होने से भी सवितर्क योग उपयोगी है।

ख० निर्वितर्क समापत्ति

सवितर्क समापत्ति का निरन्तर अभ्यास से स्थूल विषयक निर्वितर्क समापत्ति सिद्ध होता है। यह समापत्ति शब्दार्थज्ञान विकल्पों से रहित होता है। भाष्यकार के अनुसार जो शब्दसङ्केतज्ञान, अभावज्ञान एवं अनुमितिज्ञानरूप विकल्पात्मक स्मृति के निवृत्त होने पर ग्राह्य आलम्बन के स्वरूप से उपरक्त ज्ञान अपने ज्ञानात्मक प्रज्ञारूप को त्याग देने के समान एकमात्र ग्राह्याकार को प्राप्त होती हुई सी प्रतीत हो जाती है। यह प्रज्ञा निर्वितर्क समापत्ति के नाम से जानी जाती है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।"
(यो०सू०, 1/)

अर्थात् स्मृति के परिशुद्ध होने पर चित्त स्वरूपशून्य के सदृश हो जाता है। अतः समस्त विकल्पों से शून्य अर्थमात्र का अवबोधन कराने वाली समापत्ति को निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अयं घटः इत्याकारक शब्द तथा अर्थ के इतरेतराध्यास को शब्दसङ्केत कहते हैं। इस प्रकार शब्दसङ्केत को आश्रय कर शाब्द–बोध तथा शाब्दबोध के अनुसार अनुमिति ज्ञान प्राप्त होता है। अतः शब्द एवं अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान होता है, वह विकल्परूप है। इस प्रकार शब्दमय चिन्तन से उत्पन्न होने वाली सवितर्क योग जन्य प्रज्ञा विकल्प से सङ्कीर्ण होती है। परन्तु जिस समय अर्थमात्र की तरफ स्वभावतः अनुगमन करने वाली चित्त की सङ्केतस्मृति दूर हो जाती है, उस समय शब्दसङ्केत की स्मृति से शून्य समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र से अवस्थित स्थूलपदार्थ ध्येयपदार्थ विकल्पशून्य सा भासित होता है। इस समय शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदभ्रम की प्रतीति नहीं होती है। यह अविकल्पित ही निर्वितर्क योग है। इस समय चित्त ध्येयाकार में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपने ग्रहणात्मक रूप से भी शून्य की तरह प्रतिभासित होती है। इस ज्ञातृ–ज्ञान–शून्य निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समापत्ति की अवस्था में स्थूल ज्ञेय का साक्षात्कार होता है।

इस समापत्ति में कल्पित आरोप का अभाव विद्यमान होने से परप्रत्यक्ष के नाम से भी जाना जाता है। यह सवितर्क और निर्वितर्क शास्त्रान्तरों में कदाचित् सविकल्प तथा निर्विकल्प के रूप से गृहीत है। इसमें कुछ नव्य दार्शनिक यह कहते हैं कि नामजात्यादि सहितं

विशिष्टज्ञानं सविकल्पकं तथा नामजात्यादिरहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यह ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है। अतः कर्त्ता आत्मा है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान में "आत्मा मनसा, मनस् इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन सह संयुज्यते" यह न्याय मत है। परन्तु श्रीविज्ञानभिक्षु इस नव्यनैयायिकों के मत को अस्वीकार करते हैं।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग

वितर्कानुगत योग में आलम्बित चतुर्भुजादि शरीर को त्यागकर योगी जब उनके कारणस्वरूप तन्मात्राओं से लेकर प्रकृति विषयों का साक्षात्कार करता है तब विचारानुगत योग की सिद्धि होती है। यह विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग दो भाग से विभाजित है। जैसे :–

क0 सविचार समापत्ति।

ख0 निर्विचार समापत्ति।

यहाँ पर सविचार एवं निर्विचार पद में आया हुआ विचार यह पदांश विज्ञानभिक्षु के अनुसार मन्द सञ्चरणार्थक है। अथवा इस विचार शब्द को पारिभाषिक शब्द के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि तत्सम्बन्धित भाष्य में कार्य आदि से सम्बद्ध सूक्ष्मविषयक योग को ही विचार शब्द के अर्थ के रूप से जाना जाता है। वार्त्तिक में इसको स्पष्ट करते हुए भिक्षु जी ने कहा है कि :–

"तत्र च विचारशब्दो मन्दचरणार्थकस्तान्त्रिकपरिभाषा च, तद्भाष्ये सूक्ष्मविषयकसमाधेः कार्याद्युपरागस्यैव विचारशब्दार्थत्वावगमात्।"

(यो0वा0.1/17)

क0 सविचार समापत्ति

विचारानुगत योग में होने वाला तन्मात्र से लेकर प्रकृति तक जो सूक्ष्मविषयक साक्षात्कार है, वह यदि देश, काल और निमित्तों से मिश्रित होता है, तब उसे सविचार समापत्ति कहते हैं। यहाँ पर अधः, ऊर्ध्व, पार्श्व आदि देशों का अतीत, वर्त्तमान, भविष्यत् आदि कालों का तथा परिणाम का हेतुभूत पुरुषविशेष निमित्त का मिश्रित ज्ञान प्राप्त होता है।

ख0 निर्विचार समापत्ति

जब जो समापत्ति नील, पीतादि सभी स्वरूपों तथा देश, काल और

निमित्त आदि सभी प्रकार के अवच्छेद से रहित होती है और शान्त–उदित–अव्यपदेश धर्मों से अनवच्छिन्न अर्थात् अतीत–वर्त्तमान–भविष्यत् धर्मों से रहित और वर्त्तमानकालिक भूतसूक्ष्मों में होती है तब वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है। तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में ध्येय सूक्ष्म विषय का सार्वकालिक, तात्कालिक प्रज्ञा देशादि से अवच्छिन्न होती है।

वस्तुतः स्थूलविषयक वितर्कानुगत हो अथवा सूक्ष्मविषयक विचारानुगत हो, उभयथा देश, काल और निमित्त आदि से मिश्रित और अमिश्रित होने की तुल्यता रहती है।

इन समापत्तियों से बहिर्वस्तुविषयक अनात्मभूत संस्कारात्मक 'दुःखबीज' उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें बर्हिर्वस्तुबीज समापत्तियाँ कही जाती हैं और ऐसी सबीजता सम्प्रज्ञात योग में भी है। क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में संस्कार हेतुता तथा धर्ममेध वृत्त्यात्मक धर्मता विद्यमान रहती है। इस प्रकार "वितर्कविचारानन्द ....।" (यो0सू0, 1/17) इस योगसूत्रोक्त सूत्र में प्रतिपादित चार प्रकार का सम्प्रज्ञात और प्रकृत में ग्रहीत्रादिविषयिणी तीन प्रकार की समापत्तियाँ भाष्यकार के अनुसार बहिर्वस्तुबीज कही गई है। अतः समापत्ति के इन सभी भेदों के साथ समाधि का सम्बन्ध होने से सम्प्रज्ञातसंज्ञक वृत्तिनिरोध भी 'सबीज' कहलाता है।

(सम्प्रज्ञात योगी के चार भेद)

सम्प्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिका भवन्ति। तद्यथा प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्च। तत्र सवितर्कसमापत्तिमान् प्रथमः शब्दार्थज्ञानविकल्पापरित्यागात्। निर्वितर्कसमापत्तिमान् द्वितीयः। स च ऋतम्भरा प्रज्ञा इत्युच्यते, तत्प्रज्ञायामसदारोपसम्पर्कासम्भावात्। इयं च भूमिका मधुमत्यप्युच्यते, मधुवत् तृप्तिहेतुना प्रज्ञया योगात्। ततश्च क्रमेण निर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तजयी तृतीयः। अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः। ततश्चास्मितानुगतयोगनिष्पत्ति–पर्यन्तश्चतुर्थः। अस्याश्च भूमिकायाः धर्ममेधाख्यसमाधिना परिसमाप्ति–र्भवति। धर्ममेधसमाधिस्तु तदोच्यते यदा सिद्धिकामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रबाहात् सवासनाविद्यानिवृत्त्या प्रयोजनाभावेन तस्यामेव ख्यातौ दुःखात्मिकायामलंप्रत्ययरूपं परवैराग्यं जायते यदुत्तरमसम्प्रज्ञातयोग उदेतीति सर्वज्ञतादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्षतीति व्युत्पत्त्या धर्ममेधः समाधिरुच्यते। अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते।

अनुवाद

सम्प्रज्ञात योगियों के चार स्तर होते हैं। वह जैसे प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय है। इनमें से शब्दार्थज्ञान विकल्पों का परित्याग न करने के कारण सवितर्क समापत्ति से युक्त प्रथम भूमिक होता है। निर्वितर्क समापत्ति से युक्त द्वितीय भूमिक होता है, और यह ऋतम्भरा कहलाती है, क्योंकि उस प्रज्ञा में असद् के आरोप का सम्पर्क भी सम्भव नहीं हो सकता है। मधु के समान तृप्ति के साधनभूत प्रज्ञा से युक्त होने के कारण इस भूमि को मधुमति कहते हैं। उसके बाद क्रमशः निर्विचार समापत्ति निष्ठ प्रकृतिपर्यन्त को जीतने वाली की तीसरी भूमि होती है। इस भूमि में ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग का प्रवेश होता है। तदनन्तरं अस्मितानुगत योग की निष्पत्ति पर्यन्त चतुर्थ भूमि है। और इस भूमि की धर्ममेध नामक समाधि से परिसमाप्ति होती है। धर्ममेध समाधि उसे कहते हैं जब सिद्धि की कामना का त्याग कर साधक को निरन्तर उत्पन्न हुई सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के प्रवाह में वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होने पर, प्रयोजन के अभाव में उस दुःखात्मिका ख्याति में भी अलं प्रत्यय रूप पर वैराग्य उत्पन्न होता है और जिसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है तथा सर्वज्ञता आदि प्रकृष्ट धर्म की वर्षा करने वाली होने से धर्ममेध समाधि कही जाती है। इस अवस्था में होने वाली मुक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं।

रजनी

सम्प्रज्ञातयोगियों की चार भूमियाँ होती है। यथा :–

क0 प्रथमकल्पिक।

ख0 मधुभूमिक।

ग0 प्रज्ञाज्योति।

घ0 अतिक्रान्तभावनीय।

क0 प्रथमकल्पिक

सवितर्क समापत्ति वाला योगी प्रथमकल्पिक योगी कहलाता है। इस भूमि में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित साक्षात्कार होता है। इस में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों का परित्याग नहीं होता है।

खo मधुभूमिक

निर्वितर्क समापत्ति वाला योग का अनुष्ठान करने वाला मधुभूमिक द्वितीय स्तर का योगी कहलाता है। यह भूमि मधुमति के नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि यह भूमिं मधु के समान तृप्ति के साधनभूत प्रज्ञा से युक्त होती है। इस प्रज्ञा में असद् के आरोप का सम्पर्क भी सम्भव नहीं होने के कारण इस भूमि को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। ऋतं सत्यमेव विभर्त्तीति ऋतम्भरा – इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह निर्वितर्क समापत्ति रूपी पर प्रत्यक्ष कहा जाता है।

श्रीविज्ञानभिक्षु योगवार्त्तिक में "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" (योoसूo, 1/48) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ऋतम्भरा को स्पष्ट करते हैं कि समाहित चित्त वाले योगी को सबीज योग में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। वस्तुतः वाचस्पति आदि अन्य व्याख्याकार यहाँ पर भिन्न मत प्रदर्शन करते हैं। उनके अनुसार निर्विचार समापत्ति के वैशारद्य काल में योगी को जो अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है उस में ही ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। श्रीविज्ञानभिक्षु यहाँ पर कहते हैं कि योगसूत्रोक्त सूत्र "ता एव सबीजसमाधिः" (योoसूo, 1/46) के अनुसार प्रस्तूयमान ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रतिपादक सूत्र में प्रतिपादित तत्र पद से समाधिप्रज्ञासामान्यपरक स्वीकार करना चाहिए। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"पूर्वसूत्रोक्तसबीजसमाधौ जायमानायाः समापत्त्याख्याः प्रज्ञायाः अन्वर्था तान्त्रिकी संज्ञामपि दर्शयति – ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। तस्मिन्निति तत्रेत्यस्य विवरणम्। तस्मिन् समाहितचित्तस्येति पूर्वोक्तसबीजयोग इत्यर्थः। न चाव्यवहितसूत्रोक्तं वैशारद्यं प्रसादो वा कथं न तत्रेत्यनेन न परामृष्यत इति वाच्यम्, द्वितीयसूत्रतोऽत्र समाधिप्रज्ञासामान्यपरत्वस्य लप्स्यमानत्वात्।"

(योoवाo, 1/48)

अतः स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार ऋतम्भरा प्रज्ञा चारों समाधियों में होती है। इसके अतिरिक्त समाहित चित्त वाले योगी की जो प्रज्ञा होती है उसको भी ऋतम्भरा प्रज्ञा कह सकते हैं, क्योंकि समाहित चित्त वाले योगी की प्रज्ञा में लौकिक ज्ञान का लेशमात्र सम्पर्क भी नहीं होता है।

निर्वितर्क समापत्ति को छोडकर अन्यत्र ऋतम्भरा संज्ञा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यद्यपि सवितर्क योग जन्य प्रज्ञा में शब्दार्थज्ञान का विकल्पात्मक विपर्यस्तज्ञान विद्यमान रहता है तथापि यहाँ पर सबीजयोग में ऋतम्भरत्व की अव्याप्ति नहीं है। और यह साजात्य समाधि जन्य प्रज्ञा की दृष्टि से है। योगकाल में उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके स्पष्टीकरण में भाष्यकार स्मृति की पंक्ति को दर्शाते हैं कि :–

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।।"

अतः श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप इन तीन हेतुओं के द्वारा सबीजयोग काल में विपर्यासराहित्यरूप से प्रज्ञा को आगे की ओर बढ़ता हुआ साधक उस प्रज्ञा के प्रति परवैराग्य जागरित कर उत्कृष्ट असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करता है।

यह ऋतम्भरा प्रज्ञा सत्त्व विषयिणी है। इन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्मपदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान कराने का सामर्थ्य नहीं है। महत् परिमाण तथा उद्भूतरूप वाला पदार्थ का ही लौकिक प्रत्यक्ष होता है। अनुमान और आगम प्रमाण से सूक्ष्मपदार्थों का परोक्ष ज्ञान सामान्यरूप से हो पाता है। शब्दान्तर से अनुमिति ज्ञान व्याप्तिमूलक होता है। व्याप्तिज्ञान पदार्थगत सामान्यरूप को लेकर पर्यवसित होता है। व्याप्तिग्रह के आधार पर ही अनुमित्यात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। शाब्दबोध भी प्रायशः पदार्थतावच्छेदक पुरस्सर होता है। जिस प्रकार आगम एवं अनुमान से स्थूल विषयों का साक्षात्कार करते हैं उसी प्रकार उनके द्वारा सूक्ष्मविषयों का परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। वे विशेष्यविशेषणभाव से रहित शुद्ध पुरुष का अपरोक्ष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होते हैं। निर्विचार समापत्ति की परकाष्ठा में उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा सद् वस्तु यथा – सूक्ष्म ब्रह्मादि पदार्थ के स्वरूपमात्र का अपरोक्षज्ञान कराने में समर्थ होती है। अतः सूक्ष्म पदार्थों के अपरोक्ष ज्ञान के लिए ऋतम्भरा प्रज्ञा की आवश्यकता है।

ग० प्रज्ञाज्योति

निर्विचार समापत्ति में प्रकृतिपर्यन्त भूतसूक्ष्मों का साक्षात्कार होता है। यह देशादि सभी प्रकार के अवच्छेदों से रहित होता है। यही

प्रज्ञाज्योति वाली भूमि कहलाती है। यहाँ पर देशकालनिमित्तानुभव से रहित भूतसूक्ष्म इसी रूप से समापत्ति का आलम्बन बन कर ही समाधि प्रज्ञा के स्वरूप को उपरक्त करता है। इस भूमि में ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग का प्रवेश होता है।

घ० अतिक्रान्तभावनीय

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग में प्रवेश के अनन्तर अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग की निष्पत्ति पर्यन्त यह अतिक्रान्तभावनीय नामक भूमि होती है। इसी भूमि की परिसमाप्ति धर्ममेध नामक समाधि से होती है। यह धर्ममेध समाधि क्या है ? इसका स्वरूपनिर्वचन श्रीविज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार किया है, जैसे :-

धर्ममेध समाधि

क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेधः – इस व्युत्पत्ति के अनुसार क्लेशकर्मादि के समूलोन्मूलक धर्म की जो वर्षा करती है, उसे धर्ममेध समाधि कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार योग के विघ्नों का आत्यन्तिक अभाव हो जाने पर सर्वथा विवेकख्याति होती रहने पर जो समाधि प्राप्त होती है, वही धर्ममेध समाधि है। यह समाधि सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा है। इस समाधि में प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह विवेकसाक्षात्कार कहलाता है। इस विवेकसाक्षात्कार से योगी दो प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करता है। जैसे – सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व। परन्तु धर्ममेध समाधि निष्ठ योगी इन दोनों प्रकार की सिद्धियों में से किसी भी सिद्धि को अपनाने की इच्छा नहीं करता है तथा सर्वदा प्रसंख्यान रूप विवेकख्याति में ही लीन रहता है।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार धर्ममेध समाधि क्लेशकर्मादि अविद्यादि वासनादि का समूल विनाश करती है और उसके साथ ही धर्म की वर्षा करती है। इसी आधार पर ही इस समाधि का नाम धर्ममेध समाधि दिया गया है। इस समाधि में क्लेश, कर्म और संस्कारों का आत्यन्तिक दाह हो जाने के कारण साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की दशा का अनुभव प्राप्त करता है। इस अनुभव के कारण उसे जीवन्मुक्त भी कहते हैं। जीवन्मुक्त योगी के ज्ञान का प्रकाश 'अनन्त' तथा 'विभु' होता है। अतः उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश के सूक्ष्म ज्ञेय अल्पभासित होता है

अर्थात् उसके लिए अब कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता है। इसी को और स्पष्ट करते हुए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"तदा जीवन्मुक्तावस्थायां क्लेशकर्मणोर्ज्ञानावरकमलयोरपगमेन हेतुना ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्यानन्त्यादिति विभुत्वात् ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं तदपेक्षया भवतीत्यर्थः। यदि हि पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमन्यदपि वस्तु तिष्ठेत् तदा तदपि प्रकाश्यते, ज्ञेयस्यैव त्वल्पतयाऽन्यत्र प्रकाश्यते, न तु सत्त्वस्याल्पतयेति भावः।"

अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था में ज्ञान के आवरकभूत क्लेश तथा क्लेशजन्य कर्मरूप मल का आत्यन्तिक नाश हो जाने से सत्त्वप्रकाशरूप ज्ञान का आनन्त्य अर्थात् विभुत्व होता है। तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में जीवन्मुक्त योगी अनन्त ज्ञानवान् हो जाता है। जिस के फलस्वरूप ज्ञेय विषय सत्त्वप्रकाशरूप ज्ञान की तुलना में अत्यल्प रह जाता है। जीवन्मुक्त के इस ज्ञान की अनन्तता तथा ज्ञेयाल्पता के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पच्चीस तत्त्वों से अतिरिक्त कोई भी अन्य तत्त्व यदि इस जगत् में अवस्थित रहता, तो भी वह योगी के ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता, परन्तु ज्ञेय तत्त्व की अल्पता के कारण योगी को पच्चीस तत्त्वातिरिक्त तत्त्वान्तर का प्रकाश नहीं होता है। अतः इससे योगी के चित्त की अल्पता नहीं समझनी चाहिए। धर्ममेघ समाधि में सर्वज्ञातृत्व नामक सिद्धि के प्रति भी अलं प्रत्यय रूप परवैराग्य होने पर ही असम्प्रज्ञात रूप कैवल्य दायक योग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जब धर्ममेघ समाधि अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त करता है तब तत्त्वज्ञान के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वैराग्य परवैराग्य कहलाता है। यह अलं प्रत्यय रूप विवेकख्याति है। इस में अब और कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है इस प्रकारक बुद्धि उत्पन्न होती है। इस परवैराग्य के उदय होने पर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है।

इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"यथोक्त सार्वज्ञ्यात् परवैराग्योदयेनासम्प्रज्ञातपरम्पराजन्यं प्रारब्धभोगसमाप्तिजन्यं वा तृतीयं मुख्यमोक्षमाह :— "ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।" ततो धर्ममेघोदयात् क्लेशकर्मनिवृत्त्या ज्ञानस्यानन्त्ये सति परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्त्या कृतार्थान् प्रति गुणानां

सत्त्वादीनां परिणामक्रमः समाप्यते, कृतार्थपुरुषाणां भोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः।"

चित्र
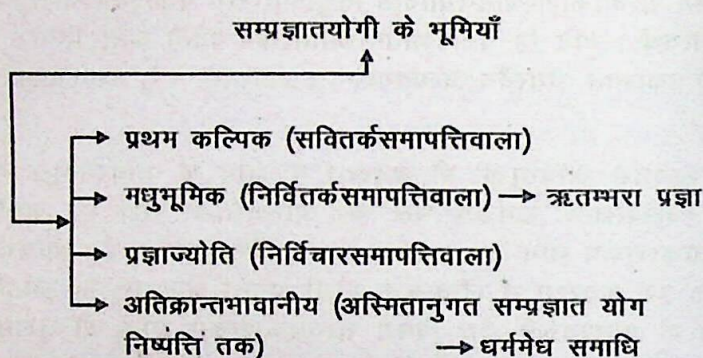
नन्वेवं किं सर्वज्ञतादिकं विना जीवन्मुक्तिपरममोक्षौ न स्तः। न च स्तः, भाष्यवाक्यात्। तद्यथा सर्वज्ञत्वपर्यन्ताखिलयोगसिद्धिव्याख्यानानन्तरं भाष्यम् "ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा प्राप्तविवेकजज्ञानस्येतरस्य वा न दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति। सत्त्वशुद्धिद्वारेण त्वेतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरक्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुरुषस्य, दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते तत्पुरुषस्य कैवल्यमिति।" अत्र विवेकज्ञानं विवेकख्यातेः सिद्धिः सर्वज्ञता पूर्वसूत्रप्रोक्ता। सत्त्वशुद्धिस्तु भुक्तवैराग्यमिति। अतः सार्वज्ञ्यादिपर्यन्तधर्ममेधसमाध्यनुत्पादेऽपि अभिमानरागद्वेषादि-रूपभवबीजदाहेनैव मुक्तिद्वयमिति सांख्यसिद्धान्तोऽत्राप्यनुमतः। असम्प्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते, न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तमिति सम्प्रज्ञातः प्रपञ्चितः।

अनुवाद

क्या सर्वज्ञाता आदि के बिना जीवन्मुक्ति और परममोक्ष नहीं होता है? ऐसी शङ्का की जा सकती है। भाष्यवाक्य से नहीं होते ऐसा नहीं है सिद्ध होता है। वह जैसे सर्वज्ञत्व पर्यन्त समस्त योग की सिद्धियों की व्याख्या करने के अनन्तर भाष्य वाक्य कहता है कि – (ईश्वर का हो अथवा अनीश्वर का हो, विवेक से उत्पन्न होने वाला ज्ञान को प्राप्त करने वाला हो अथवा विवेकजन्य ज्ञान से विहीन का हो) विवेकजन्य ज्ञान को

प्राप्त किया हुआ ईश्वर हो अथवा उस विवेकजन्य ज्ञान से विहीन अनीश्वर हो, दग्धक्लेशबीज योगी को ज्ञान की पुनः कोई आवश्यकता नहीं रहती है। बुद्धिसत्त्व की शुद्धि के द्वारा यह समाधिजन्य ऐश्वर्य और ज्ञान कहे जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। उसकी (अज्ञान की) निवृत्ति होने पर बाद में (अविद्यादि जनित) क्लेश नहीं होते हैं। क्लेशों का अभाव हो जाने से कर्मफलों का अभाव होता है। इस अवस्था में चरिताधिकार होकर गुण पुरुष के दृश्य रूप में फिर उपस्थित नहीं होते हैं, यही पुरुष का कैवल्य है। यहाँ जो विवेकख्याति के पश्चात् सिद्ध होने वाला विवेकज ज्ञान बताया गया है उससे तात्पर्य पूर्वसूत्र वर्णित सर्वज्ञता से है तथा सत्त्वशुद्धि से तात्पर्य उन पदार्थों के प्रति वैराग्य से है, जिनका कि वह उपभोग कर चुका है। अतः सर्वज्ञता आदि पर्यन्त धर्ममेघ समाधि के उत्पन्न न होने पर भी अभिमान, राग, द्वेष आदि के रूप में जो संसार के बीज है उनके दाह से ही दोनों प्रकार की होती है, इस में सांख्यदर्शन के सिद्धान्त भी अनुमत हैं। असम्प्रज्ञात योग तो समस्त वासनाओं के क्षीण हो जाने के कारण प्रारब्ध के अतिक्रमण से शीघ्र ही स्वेच्छा से मोक्ष में उपयुक्त है। न तो नियम (क्रम) से, यह पहले ही कह दिया गया है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग का विस्तार से वर्णन कर दिया गया है।

रजनी

यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु सर्वज्ञता आदि के बिना मोक्षसिद्धि में औचित्य प्रदर्शन हेतु भाष्यपंक्ति को उद्धृत करके स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार सर्वज्ञतादि सिद्धि के बिना भी जीवन्मुक्ति और परममुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। भाष्य के अनुसार विवेकजज्ञानसंज्ञक उत्तम सिद्धि के बिना ही इतरसिद्धिनिरपेक्ष कैवल्य प्राप्त होता है। इसलिए योगसूत्रकार ने कहा है कि :–

"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।" (यो0सू0, 3/55)

अतः विवेकसाक्षात्कार से जब पुरुष के साथ–साथ बुद्धिसत्त्व की समानरूप से शुद्धि हो जाती है तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इस में सिद्ध्यन्तर की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है। जिसका रजस्तमोद्रव्य रूप मल धुल चुका है, अत एव सिद्धि आदि नहीं अपितु विवेकख्याति रूप कर्त्तव्य ही शेष रह गया है तथा अनागतक्लेश रूप विपकाख्य संसार के बीज दग्ध हो चुके हैं – इस प्रकार का जब बुद्धिसत्त्व होता है, तब शुद्धि

के कारण बुद्धिसत्त्व पुरुष के स्वरूप के समान हो जाता है। इस वाक्य से भाष्यकार ने बुद्धि और पुरुष के शुद्धिसाम्य को अभिहित किया है। दुःखाद्यात्मक होने से बुद्धिसत्त्व का आत्यन्तिक शुद्धिसाम्य कदापि नहीं हो सकता है। बुद्धिसत्त्व का धर्म होने के कारण पुरुष में प्रतिफलित मात्र प्रत्ययविशेष संज्ञक भोग का अभाव होना पुरुष की शुद्धि है तथा जीवन्मुक्त दशा में बुद्धि को भी विवेकज्ञान होने से इस प्रकार का भोग नहीं होता है, यह बुद्धिगत शुद्धि है। पुरुष में यह प्रत्ययविशेष रूप भोग ही औपचारिक है, क्योंकि अविवेक पुरुष के उपाधिभूत बुद्धिसत्त्व का धर्म है। सांख्यसूत्र में कथित चिदवसानतारूपभोग पुरुष में स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार साक्षिपुरुष अभिमान से रहित होता है, उसी प्रकार चित्तसत्त्व का अभिमान से शून्य होना मोक्ष का कारण है। न कि ऐश्वर्यादि मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार बुद्धि पुरुष के शुद्धिसाम्य होने पर प्रारब्धरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति के अनन्तर ईश्वर और अनीश्वर दोनों को साधारण–रूप से कैवल्य प्राप्त होता है। भाष्य के अनुसार ज्ञान होने पर दग्धक्लेशबीज वाले योगी को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है।

अब यह शङ्का की जा सकती है कि विवेकसाक्षात्कार के प्रति तद्विषयक संयम अवश्यम्भावी रूप से कारण है। अतः इस स्थिति में विवेकजयी को सार्वज्ञ्यादि सिद्धियाँ अवश्य प्राप्त होंगी, तो फिर "अनीश्वरस्य वा" यह कहने का क्या तात्पर्य है ?

इसके समाधान में श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यह प्रश्न समुचित नहीं है। क्योंकि विवेकज्ञानविषयक संयम किये जाने पर भी कामना के बिना साधक को सार्वज्ञ्यादि सिद्धि की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होती है जिस प्रकार यज्ञ करने पर भी इच्छा के बिना यज्ञकर्त्ता को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। अपितु यम–नियम–आसन आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान के न्यूनता से भी सिद्धि प्राप्ति में नियम नहीं रहता है और कभी कभी अङ्ग–वैगुण्य होने पर भी अभिमान निवृत्ति संज्ञक दृष्टद्वार से मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है।

इस विषय पर अधिक जानकारी हेतु सांख्यसूत्र के तृतीय अध्याय 23 एवं 77 से 84 तक सूत्रों के श्रीविज्ञानभिक्षु के प्रवचनभाष्य तथा सांख्यकारिक के 67 एवं 68 कारिका अनुशीलनीय है।

(असम्प्रज्ञात योग के भेद)

इदानीमसम्प्रज्ञातः प्रपञ्च्यते। असम्प्रज्ञातयोगो द्विविधः। उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। शास्त्रोक्तोपायानुष्ठानादिहैव लोके योऽसम्प्रज्ञातो जायते स उपायप्रत्ययः, उपायशब्दस्य कारणवाचित्वात्। उपायाश्च श्रद्धावीर्य–स्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपाः इति सूत्रेणोक्ताः। तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः। वीर्यं चित्तस्य धारणा। स्मृतिर्ध्यानम्। समाधिर्योगस्य चरमाङ्गम्। प्रज्ञा सम्प्रज्ञातयोगजन्यसाक्षात्कारः। एतानि क्रमेण वक्ष्यमाणपरवैराग्यद्वारेण असम्प्रज्ञातस्योपायाः भवन्ति। तेषां चोपायानामतिशीघ्रतीव्रतरानुष्ठानादा–सन्नतरोऽसम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगस्तत्फलं मोक्षश्च भवति। उपायानुष्ठानमान्द्येऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरौ तौ भवतः परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति।

अनुवाद

अब असम्प्रज्ञात योग की सप्रपञ्च व्याख्या की जा रही है। यह असम्प्रज्ञात योग दो भाग से विभाजित है। जैसे :– उपाय प्रत्यय और भवप्रत्यय। शास्त्र में कहे गये उपायों के अनुष्ठान करने से इस संसार में जो असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है वह उपाय प्रत्यय (असम्प्रज्ञात योग) है, प्रत्यय शब्द का कारणवाचक होने से। और उपाय जैसे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञारूप से योगसूत्र के सूत्र के द्वारा कहा गया है। इनमें से योग में प्रीति श्रद्धा है। वीर्य चित्त की धारणा है। स्मृति ध्यान है। योग का चरम अङ्ग समाधि है। सम्प्रज्ञात योग से उत्पन्न (विवेक)साक्षात्कार प्रज्ञा है। ये क्रमशः आगे बताए जाने वाले परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात योग के उपाय होते हैं। और उन उपायों का अतिशीघ्र तीव्रतर अनुष्ठान से असम्प्रज्ञात योग तक योग और उसका फल मोक्ष आसन्नतर हो जाता है। उपायों के अनुष्ठान में कुछ शिथिलता होने पर भी ईश्वर प्रणिधान से वे दोनों आसन्नतर हो जाते हैं, परमेश्वर के प्रणिधान करने से उनका अनुग्रह के कारण।

रजनी

न किञ्चित् सम्प्रज्ञायते अस्मिन्निति – इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस योग में सात्त्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है उसे असम्प्रज्ञात योग कहते हैं, यह पहले ही हमें ज्ञात है। इस समाधि में वृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है। इस में किसी भी प्रकार के ज्ञान का उदय नहीं होता है। यह असम्प्रज्ञात योग दो भाग से विभाजित है। जैसे :–

क0 उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग।

ख0 भव प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग।

क0 उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग

शास्त्र में कहे गये उपायों के अनुष्ठान से सिद्ध होने वाले योग को उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। यहाँ पर उपाय शब्द कारणवाचक है। अतः यह उपायकारणक असम्प्रज्ञात योग है। यहाँ पर उपाय जैसे की योगसूत्र में कहा गया है कि :–

"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।" (यो0सू0, 1/20)

अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा पूर्वक उपायों के अनुष्ठान से इस असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। वस्तुतः देवताओं, मनुष्य तथा योगियों को जन्ममात्र से असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि न हो पाती है। इसलिए वे उपर्युक्त उपयों के अनुष्ठान से इसकी प्राप्ति करते हैं। अतः व्यास ने भाष्य में कहा है कि :–

"उपायप्रत्ययो योगीनां भवति।" (व्या0भा0, 1/20)

यहाँ पर श्रद्धा योग में प्रीति कहलाता है। इसके अधिक स्पष्टता में योगवार्त्तिक में कहा गया है कि :–

"श्रद्धा चेतस इत्यादिना सम्प्रसादः।" (यो0वा0, 1/20)

अर्थात् "योगो मे भूयात्" इस प्रकारक अभिलाषा ही सम्प्रसाद है। यह सर्वगुणसम्पन्न समर्थ माता के समान असंख्य प्रतिबन्धों का निवारण करती हुई योगी की रक्षा करती है, जिस के कारण योग प्रतिबन्धों से बाधित नहीं हो पाता है।

वीर्य चित्त की धारणा है। यह वीर्य श्रद्धा से ही उत्पन्न होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार योग में श्रद्धापूर्वक अन्वित योगी के योग के साधनभूत जीवेश्वरान्यतर विवेकज्ञान के प्रति आकृष्ट होने से उसमें धारणारूप प्रयत्न उत्पन्न होता है। यहाँ पर धारणा एकाग्र चित्त का ध्येयविषयक बन्ध है। यहाँ पर वाचस्पति आदि टीकाकार वीर्य का अर्थ विज्ञानभिक्षु से भिन्न दिखाते हैं। उनके अनुसार वीर्य उत्साह है। इस के पश्चात् एकाग्र चित्त की एकतानता रूप ध्यानावस्था आती है। यह ध्यान ही स्मृति है। इस ध्यान से योग के अन्तिम अङ्ग साधन समाधि प्राप्त होता है।

क्योंकि इस समय चित्त निरवच्छिन्न तैलधारावत् ध्येय का निरन्तर चिन्तन करता रहता है। जिससे चित्त की विक्षिप्तता पूर्णरूप से अभिभूत हो जाती है और चित्त समाहित हो जाता है। इस प्रकार धारणादि तीनों योगाङ्गों के निरन्तर अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग जन्य प्रज्ञा उत्पन्न होता है। उससे असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। यह प्रज्ञा जीवब्रह्मान्यतर आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप विवेक है। इस से योगी को यथार्थ विषयक ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनके क्रमशः अभ्यास परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात योग के कारण होते हैं।

उपर्युक्त उपायों के अनुष्ठान से भी किसी को असम्प्रज्ञात योग शीघ्र ही प्राप्त होता है, तो किसी को कुछ विलम्ब से और किसी का विलम्ब ही होता है। यहाँ पर वाचस्पति कहते हैं कि योगियों में स्व–स्व–पूर्वजन्म से प्राप्त संस्कार तथा अदृष्ट के अनुसार श्रद्धा आदि उपायों का अभ्यास करने में मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भेद से तरतमता देखी जाती है। इससे फलप्राप्ति में कदाचित् विलम्ब तो कदाचित् असम्भव भी होती है। सूत्रकार पतञ्जलि तथा भाष्यकार व्यास आदि इस प्रकारक नौ भेद दिखायें हैं। जैसे :–

1. मृदूपायमृदुसंवेगवान् योगी।
2. मृदूपायमध्यसंवेगवान् योगी।
3. मृदूपायतीव्रसंवेगवान् योगी।
4. मध्योपायमृदुसंवेगवान् योगी।
5. मध्योपायमध्यसंवेगवान् योगी।
6. मध्योपायतीव्रसंवेगवान् योगी।
7. अधिमात्रोपायमृदुसंवेगवान् योगी।
8. अधिमात्रोपायमध्यसंवेगवान् योगी।
9. अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगवान् योगी।

यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार संवेग पद उपायों के अनुष्ठान में शीघ्रता है। इस प्रकार इन नौ प्रकार के योगियों में से अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगवान् योगियों को ही असम्प्रज्ञात योग आसन्नतम होता है। अर्थात् उपायों के अतिशीघ्र तीव्रतर अनुष्ठान से असम्प्रज्ञात योग का

लाभ हो जाता है। इस अवस्था में इस प्रकारक योगियों का न केवल समाधि आसन्नतम होती है अपितु मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में यद्यपि उपायों के अनुष्ठान में मन्दता आ जाय तथापि ईश्वर प्रणिधान से वे दोनों अधिक समीपता को प्राप्त कर जाते हैं क्योंकि ईश्वर के प्रणिधान से योगी पर ईश्वरानुग्रह हो जाता है, जिससे उसकी समाधि की सिद्धि हो जाती है। वस्तुतः "प्रणिधान" शब्द योगसूत्रान्तर्गत द्वितीयपादान्तर्वर्त्ती "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" इस यो0सू0 2/32 सूत्रोक्त का ग्रहण नहीं होता है। अपितु असम्प्रज्ञात की कारणीभूता समाधि जो भावनाविशेषरूपा है, वही यहाँ पर विवक्षित है। इस विषय में अधिक स्पष्टता योगवार्त्तिक से मिल सकता है, जैसे :–

"प्रणिधानमत्र न द्वितीयपादवक्ष्यमाणं सर्वकर्मार्पणं किं त्वसम्प्रज्ञात–कारणीभूतसमाधिर्भावनाविशेष एव, ... दिक्।" (यो0वा0, 1/23)

(ईश्वर तथा ईश्वर का प्रणिधान)

अथ क ईश्वरः किं वा तत्प्रणिधानम् ? उच्यते, अविद्यादिपञ्चक्ले–शैर्धर्माधर्मैस्तद्विपाकैः संस्कारसामान्यैश्च कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। स च "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र0सू0 1/1/1) इत्यादिवेदान्त–सूत्रैरशेषविशेषतो मीमांसितः। अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते। तस्य साम्यातिशयशून्यमैश्वर्यं सार्वज्ञ्यं च, स च सर्वेषां ब्रह्मविष्णुहरादीनामपि गुरुः पिता, अन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा च ज्ञानचक्षुःप्रदश्च, तस्य प्रणवो नाम, प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति। अतः परमेश्वरे संयमोऽसम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासम्पादनात्, जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्। किञ्च, ईश्वरप्रणिधानाद्व्याध्यादिरूपा योगस्यान्तराया अपि न भवन्ति। अतोऽपि तदेव मुख्यकल्प इति। तथा चास्य मुख्यकल्पत्वं स्मर्यते :–

"तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।

चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्चते ध्रुवमन्यथा।।" इति।

तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः।

अनुवाद

अब ईश्वर कौन है तथा उसका प्रणिधान क्या है ? यह बताया जा रहा है। अविद्या आदि पाँचों क्लेशों से, धर्म और अधर्म से तथा

उनके विपाक एवं संस्कार सामान्य से जो पुरुषविशेष तीनो कालों में संलिप्त नहीं रहता है, वह ईश्वर है। और वह "अब (साधनसम्पत्ति के अनन्तर) ब्रह्म कर्मक जिज्ञासा की जाती है" (ब्र0सू0, 1/1/1) इत्यादि वेदान्तसूत्रों से भलिभाँति विवेचित है। इसलिए यहाँ पर केवल दिशा निर्देश परक ही कहा जाएगा। और उसका ऐश्वर्य तथा सर्वज्ञता साम्य और अतिशाय से रहित है और भी वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि का गुरु तथा पिता है और अन्तर्यामी होने के कारण तथा वेदादि के माध्यम से वह ज्ञानचक्षु प्रदान करने वाला है। उसका नाम प्रणव है। उस प्रणव पूर्वक उस (ईश्वर) का बार–बार चिन्तन करने से उसका साक्षात्कार में पर्यवसान होता है, वही प्रणिधान है। अतः परमेश्वर पर संयम करना असम्प्रज्ञात योग पर्यन्त योग एवं मोक्ष में प्रधान साधन है क्योंकि अन्य साधनों की अपेक्षा इसके द्वारा ये दोनों आसन्नतर सम्पन्न हो जाते हैं। जीवात्मा पर संयम करना तो इसका गौण साधन है यह सिद्ध है। और भी ईश्वरप्रणिधान से व्याधि आदि जो योग के प्रतिबन्धक बताए गए हैं, वे भी नहीं होते हैं। इसलिए वह मुख्य साधन है। और भी उसकी मुख्यसाधन स्मृतियों से प्राप्त होता है, जैसे :–

"इसलिए मुमुक्षु के लिए भगवान् विष्णु का आश्रय बड़ा सुखकर मार्ग है। उनका केवल चित्त से ही चिन्तन करे। अन्यथा निश्चित ही ठगे जाओगे।।"

इस प्रकार उपाय प्रत्यय (असम्प्रज्ञात योग) का वर्णन कर दिया गया।

रजनी

इस प्रसङ्ग पर योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने एक सुन्दर प्रश्न का अवतारण किया है, जैसे :–

"ननु प्रधानपुरुषातिरिक्तं तत्त्वं नास्तीति त्वयाऽप्यभ्युपगम्यते, तत्र चेश्वरो न प्रधानं चेतनत्वाद्यभ्युपगमात्, नापि पुरुषः सर्वेषां पुरुषाणां चिन्मात्रस्वरूपत्वेनेश्वरत्वानीश्वरत्वयोः स्वतोऽसम्भवात्।" (यो0वा0, 1/24)

अर्थात् योग के दार्शनिक भी प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, ऐसा स्वीकार करते हैं। तो "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस सूत्र से जिस ईश्वर का प्रणिधान के विषय में कहा गया है वह क्या है

? वह ईश्वर-चेतनत्वादिरूप से अभिमत होने के कारण तथा प्रकृति तत्त्व के अचेतन होने से प्रधान तत्त्व नहीं कह सकते हैं। और भी ईश्वर को पुरुष भी नहीं कह सकते, क्योंकि समस्त पुरुष के चिन्मात्रस्वरूपात्मक होने से उनमें ईश्वरत्व और अनीश्वरत्व का अन्तर अत्यन्त अस्वाभाविक हो जाएगा। और वैशेषिक दार्शनिक लोग जो नित्येच्छादिमान् को ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं, वह भी योगदार्शनिकों का अभिमत नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि ईश्वर में इच्छादि उपाधि स्वीकार किया जाएगा तब उस उपाधि को लेकर पुरुषाख्य जीवों में भी ऐश्वर्य उपपन्न होने लगेगा। तथा तत्परक श्रुति, स्मृति वाक्यों की भी सङ्गति बैठ जायेगी। अतः इस प्रकृति और पुरुष तत्त्व से अतिरिक्त यह ईश्वर तत्त्व क्या है इसको स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है कि :–

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" (यो0सू0, 1/24)

अतः यह ईश्वर तत्त्व प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व नहीं है अपितु पुरुष विशेष ही है। सूत्रोक्त क्लेश शब्द से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि योगशास्त्रोक्त पाँच क्लेश स्वीकृत है। इन क्लेशों के अधीन होकर ही शुभाशुभ कर्म निष्पन्न होते हैं। इन पाँचों क्लेशों में से अविद्या ही उत्तरवर्त्ती अन्य रागादि क्लेशों की प्रसवभूमि है। जो भी कार्य हमसे अनुष्ठित है चाहे वह शुभ कर्म अथवा कुशल कर्म हो अथवा अकुशल कर्म हो वह अविद्या के कारण ही होता है। इन्ही कर्मों से प्राप्त होने वाला फल को विपाक कहते हैं, जो कि जाति, आयु तथा भोगरूप है। इस विपाक से बनने वाली वासना को आशय कहा जाता है। फलानुरूप ये वासनाएँ तत्तत् शरीरों के द्वारा निष्पन्न होने योग्य भोगवासना को उद्बुद्ध कराकर ही कर्म अपना फल प्रदान करता है। ये क्लेश, क्लेशजन्य विपाक तथा विपाकजन्य आशय चित्त में विद्यमान रहते हैं। उसी से पुरुष बुद्धिगत सुखदुःखरूप फल का भोक्ता कहा जाता है। प्रत्येक पुरुष इससे संलिप्त रहता है। और सांख्य–योग शास्त्र में अनेक पुरुष स्वीकार किया गया। अतः इन अनेक पुरुषों में से जो पुरुष उपर्युक्त इन चारों से अपरामृष्ट अथवा असंलिप्त होता है वह पुरुषविशेष ही ईश्वर कहलाता है। अतः साधारण पुरुषों में क्लेशों, कर्मों, विपाकों का व्यपदेश होता है, क्योंकि पुरुष तत्तत् कर्मों में अनुरक्त रहता है। यद्यपि सांख्य–योग सम्प्रदाय में पुरुष का असङ्गत्व

स्वीकृत है, जैसे कि:– "असङ्गो ह्ययं पुरुषः", तथापि विविध प्रकार की प्रवृत्तियों से युक्त, बुद्धि के कारण इन सांसारिकक्लेशों का व्यपदेश पुरुष में होता रहता है। परन्तु ईश्वर में इन क्लेश आदि का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता है। यहाँ पर पुरुषविशेष का अर्थ यह है कि उन अनेक पुरुषों में से यह पुरुष विशिष्ट गुणों का धारण करने वाला है। और विशिष्टगुण उपर्युक्त क्लेशादि चारों से अपरामृष्ट होना है। यह अपरामृष्टता न केवल एक काल में अपितु तीनों कालों में होना चाहिए। इस ईश्वर का ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से रहित है। यह ईश्वर शुद्ध, मुक्त, अणिमादि ऐश्वर्य से सम्पन्न सर्वविध जीवरूप पुरुष की अपेक्षा विशिष्ट है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि श्रुति, स्मृति आदि के द्वारा क्लेशादि से असंपृक्त ईश्वर स्वीकार किया गया हो तो विवेकज्ञान को प्राप्त हुये (कैवल्य को प्राप्त हुये) बहुत से हिरण्यगर्भ आदि विद्यमान है। उन्हे ही ईश्वररूप से श्रुति से प्रतिपादित तत्त्व माना जाय। सांख्यसूत्र में भी कहा गया है कि :–

"मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा।" (सां0सू0, 1/95)

इसके समाधान में यह कहा जाता है कि हिरण्यगर्भ आदि पूर्व प्राप्त प्राकृतिक आदि बन्धनों को छोड़कर ही मुक्त होते हैं। वे क्लेशादि के परामर्श से रहित नहीं होते हैं। परन्तु ईश्वर सर्वदा अविद्यादि क्लेशात्मक प्राकृतिक, वैकारिक तथा दाक्षणिक – इस प्रकार त्रिविध बन्धनों के संसर्गात्मक भोग से रहित होता है। जैसे कहा गया है कि :–

"तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।

कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।।" (मोक्षधर्म, 351/14,15)

जो ईश्वर है वह नित्य और निर्गुण है। परन्तु जो कर्म करने वाला पुरुष है वह बन्ध और मोक्ष से युक्त होता है। यहाँ निर्गुण शब्द गुणाभिमान से शून्य होना है। और श्रीमद्भगवद् गीता भी गुणाभिमानशून्यता के कारण ही ईश्वर को गुणातीत कहा है। जीव अहङ्कार से युक्त रहता है। कहा गया है कि :–

"परन्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहङ्कारयुतोऽपरः।" (बृहन्नारदीय0 पु0, 33/57)

ईश्वर के तुल्य अथवा ईश्वर से अधिक ऐश्वर्य कोई नहीं है। ईश्वर का ऐश्वर्य ऐश्वर्यान्तर से अभिभूत नहीं होता है। अतः ईश्वर के ऐश्वर्य निरतिशय है। वस्तुतः जो ऐश्वर्य अन्य समस्त ऐश्वर्यों को अभिभूत कर देता है, उसे निरतिशय ऐश्वर्य कहते हैं। सातिशय पदार्थों में निरतिशयत्व की प्राप्ति नहीं होती है, ऐश्वर्य की चरमावस्था जहाँ उपलब्ध होती है, उसे ईश्वर कहते हैं। अतः ईश्वर के तुल्य किसी अन्य का ऐश्वर्य नहीं है। अतः वह साम्यातिशय से शून्य है।

इस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज स्वकीय पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाता है। पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।" (यो.सू., 1/25)

अतः अतीत, अनागत और वर्त्तमान कालिक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में क्रमशः अथवा युगपत् होने वाला जो अल्पविषयक अथवा बहुविषयक ज्ञान है, वही सर्वज्ञता का बीज है। और ईश्वर में यह पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाता है। ज्ञान के सर्वज्ञतादि के बीजत्व प्रतिपादन में श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि सर्वज्ञता का हेतुभूत सातिशयज्ञान बढ़ता हुआ जिसमें निरतिशय होता है, वही सर्वज्ञ है, क्योंकि ज्ञान की निरतिशयता को माने बिना अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। यह ईश्वर काल से अवच्छिन्न न होने के कारण पूर्व–पूर्व सर्गों में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर आदि का गुरु है। जैसे कि योगसूत्र में कहा गया है कि :–

"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" (यो0सू0, 1/26)

श्रीविज्ञानभिक्षु यहाँ पर गुरु अन्तर्यामी रूप से पिता का अर्थ ग्रहण करता है। यह ईश्वर विद्या से ज्ञानचक्षु प्रदान करने वाला है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर ब्रह्मा आदि का गुरु किस प्रकार हो सकता है ? इसके समाधान में कहा गया है कि – ईश्वर काल से सीमित नहीं है। द्विपरार्द्धादि काल से सीमित ब्रह्मादि, अपरिच्छिन्न गुरु के बिना सम्भावित स्थिति वाले नहीं हो सकते हैं।

ज्ञान के उत्कर्षता से युक्त होने के कारण ईश्वर वर्त्तमान सर्ग के पूर्व भी स्वतः सिद्ध रहा है अर्थात् कालातीत ईश्वर का निरतिशय ज्ञान स्वतः प्रमाणित है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रत्येक नवीन सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु आदि को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह उनका पिता है। तीनों कालों में विद्यमान रहने के कारण एकमात्र वही

ईश्वर उनका जनक है, भिन्न–भिन्न ईश्वर नहीं। श्रुतियाँ भी जीव और ईश्वर के जन्य–जनक भाव का प्रतिपादन करती है। जैसे :– "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" (श्वे0उप0, 6/18)। अतः स्पष्ट यह है कि ईश्वर अंशी है और जीव उसके अंश है। इन अनन्त जीवांशों का अंशी ईश्वर के साथ अविभाज्यसम्बन्ध है।

वस्तुतः ईश्वर को समस्त ब्रह्मादि का पिता कहने से और श्रुतियों में आये अग्निविस्फुलिङ्ग के दृष्टान्त से जीव और ब्रह्म का अंशांशिभाव की भाँति उनके अभेद को ही सिद्ध करता है। जैसे कि किसी स्मृतिवाक्य का उदाहरण देते हुये श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रस्तूयते।
तथा जीवसहस्राणि स एवैकः प्रसूयते।।

सलिले करकाऽश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः।
जीवो मौढ्यात् पृथग् बुद्धो युक्तो ब्रह्मणि लीयते।।"

(यो0वा0, 1/26)

इस ईश्वर का अभिधायक शब्द प्रणव है। अर्थात् वाचक प्रणव तथा वाच्य ईश्वर है। अतः सूत्रकार ने भी कहा है कि :–

"तस्य वाचकः प्रणवः।" (यो0सू0, 1/27)

इन दोनों का सम्बन्ध जो कि वाच्य–वाचक है वह नित्य है। इस प्रणव पूर्वक उस ईश्वर का ध्यान करने को प्रणिधान कहते हैं। यह प्रणिधान ईश्वर और प्रणव के वाच्य–वाचकसम्बन्ध को जानकर करना चाहिए। यह प्रणवार्थ का चिन्तन दो प्रकार का है, जैसा कि श्रीविज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में बताया है। इन दोनों में से प्रथम प्रणवार्थचिन्तन अंशांशिरूप, कार्यकारणरूप, शक्तिशक्तिमद्रूप इत्याकारक अभेद के कारण तप्तलोहपिण्डवत् अविभागलक्षणक एकीभावरूप होने से "अहं ब्रह्म", "सर्वं खलु ब्रह्म", इस प्रकारक है। द्वितीय प्रणवार्थचिन्तन प्रकृति, प्रकृति के महदादि कार्य तथा पुरुष से पृथक्तया केवल चिन्मात्ररूप ब्रह्म में आत्मतत्त्व चिन्तन करना है। ईश्वरप्रणिधानादि साधनों से चित्त एकाग्र हो जाता है। उसके बाद चित्त के एकाग्रता के कारण परमात्मा का साक्षात्कार होता है और उसके अनन्तर परवैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति हो जाती है।

योग के अन्तराय

इस ईश्वर प्रणिधान से व्याधि आदि जो नौ योग के प्रतिबन्धक तत्त्व बताये गये हैं वे सब नहीं होते हैं। जैसे योगसूत्र में कहा गया है कि :–

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।" (यो0सू0, 1/29)

यह अन्तराय क्या है ? यह अन्तराय योगसिद्धि में प्रतिबन्धक होते हैं। ये संख्या में नौ हैं। जैसे :–

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽलस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽ–नवस्थितानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।" (यो0सू0, 1/30)

विज्ञानभिक्षु के अनुसार ये नौ अन्तराय चित्त को योग के मार्ग से विक्षिप्त करते हैं। अतः इन्हें विक्षेपक कहा गया है। ये नौ विक्षेपक ही चित्त के विक्षेप हैं। ये विक्षेप चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं। विघ्नों के उदित होते ही उनसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति बन जाती है। विघ्नों के उदित होने और तत् सदृश चित्तवृत्ति के बनने में जो सूक्ष्मकालिक व्यवधान पड़ता है उससे वृत्तियों के साथ में कोई बाधा नहीं पड़ती है। व्याधि आदि अन्तरायों के सहित चित्तवृत्तियाँ तथा केवल चित्तवृत्तियाँ भी योग को भङ्ग करती है। अतः चित्तवृत्तियों तथा नौ अन्तरायों को "योग भ्रंशिका" के नाम से कहा गया है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"सूक्ष्मकालानाकलनेन सहेत्युक्तम्। एतेषामव्यवधानेनैव व्याध्यादि–गोचरा वा तन्निवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो भवन्ति योगभ्रंशिका इत्यर्थः।" (यो0वा0, 1/30)

ये योग के नौ अन्तराय क्रमशः नीचे बताये जा रहे हैं।

1. व्याधि

शरीर के पोषक तत्त्व होने से वात, पित्त एवं कफ संज्ञक धातुओं, आहार के परिणामभूत रसों एवं चक्षुरादि तथा मनरूपक इन्द्रियों का जो विसदृशभावरूप है, उसे व्याधि कहते हैं। धातु, रस और इन्द्रियों से शरीर की स्थिति है। वात, पित्त और कफ धातु है। भोजन, जल से रस रूप विशेष परिणाम बनता है और क्रियाशीलता जिनके द्वारा होती है वे इन्द्रियँ है। जब धातु, रस और इन्द्रियों में

किसी प्रकार की विषमता अथवा न्यूनाधिक्य होती है तब शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। उस समय जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे चित्त को विक्षिप्त कर योग से हटाती है। अतः व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति योग के अनुष्ठान करने में असमर्थ हो जाता है।

2. स्त्यान

भाष्यकार व्यास ने स्त्यान को चित्त की अकर्मण्यता बताया है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार यह अकर्मण्यता योग के लिए विहित साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकता है।

3. संशय

उभयकोटिक ज्ञान ही जिसमें आलम्बन हो उसे संशय कहा जाता है। जैसे समाधि की साधना की जाय अथवा नहीं, इस प्रकार के संशय से चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है। जिसके फलस्वरूप समाधि साधना नहीं हो पाती।

4. प्रमाद

अनवधान ही प्रमाद है। अर्थात् समाधि के साधनों के प्राति ध्यान न देना है। जैसे गुरु तथा शास्त्रों द्वारा बताये गये ज्ञान समाधि के लिए साधन है। उन साधनों की भावना न करने से योग भङ्ग हो जाता है।

5. आलस्य

शरीर में धातुओं की वैषम्यता से आलस्य आता है, तमो वृत्ति से चित्त भारी होता है। शारीरिक तथा मानसिक गुरुता से समाधि के साधनों के अनुष्ठान में चित्त कभी भी प्रेरित नहीं हो पाता है। अतः इस प्रकार योग में अप्रवृत्ति ही योग के लिए बाधक होती है।

6. अविरति

विषयों की अभिलाषा अविरति है। विषयों के सामीप्य से उनकी प्राप्तिविषयक अभिलाषा गर्ध है। गर्ध, अभिलाषा तथा अविरति पर्याय है। इच्छाएँ अनन्त है, अतः विषयों के सन्निकर्ष से अनन्त इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे समाधि बाधित होती है अर्थात् चित्त, योग के अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हो पाता है। वह केवल अभिलाषाओं की पूर्ति में ही रह जाता है।

7. भ्रान्तिदर्शन

गुरु तथा शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित उपदेशों के विपरीत का निश्चय हो जाना ही भ्रान्तिदर्शन है। इसके कारण योगी स्वकीय लक्ष्य में नहीं पहुँच पाता है।

8. अलब्धभूमिकत्व

न लब्धभूमिकत्व अलब्धभूमिकत्व है अर्थात् योग के जो मधुमति आदि भूमियाँ हैं, उनमें से किसी एक भी भूमि की प्राप्ति नहीं होना अलब्धभूमिकत्व है। इसके कारण चित्त में विक्षेप होता है। अतः यह विक्षेपक ही है।

9. अनवस्थितत्व

समाधि की भूमियों के प्राप्त होने पर भी यदि मन इसमें स्थित नहीं हो पाता है तो समाधि की भूमियाँ अप्राप्य हो जाती है। इस तरह के विघ्न को अनवस्थितत्व नामक योगविक्षेप कहा जाता है।

इस प्रकार व्याधि आदि जो योग मार्ग के विघ्न है, वे सब ईश्वर प्रणिधान से नहीं होते हैं और योगी को अपने स्वरूप का दर्शन भी हो जाता है। जैसे पुरुष विशेष ईश्वर शुद्ध, दुःखादि रहित, केवल और कर्मफल से अस्पृष्ट है, वैसे ही बुद्धि का साक्षी यह पुरुष भी है – इस प्रकार योगी ज्ञान करता है।

पातञ्जल योग में असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति के परिगणित उपायों में से ईश्वरप्रणिधान एक वैकल्पिक साधन है। आचार्य श्रीविज्ञानभिक्षु ने परमात्मसाक्षात्कार अथवा पारमेश्वर योग को जीवात्मसाक्षात्कार की अपेक्षा से श्रेष्ठ बतलाया है। अतः उन्होंने परमात्मसाक्षात्कार को मुख्यकल्प तथा जीवात्मसाक्षात्कार को अनुकल्प कहा है। ये दोनों तत्त्वों के साक्षात्कार हेतु ध्येयविषयक धारणा, ध्यान तथा समाधि अपेक्षित है, परन्तु परमात्मसाक्षात्कारी को असम्प्रज्ञात योग तक पहुँचने के लिए श्रद्धादि उपायों के अनुष्ठान करने में सावधान न रह पाने के कारण व्याकुल नहीं रहना पड़ता है। क्योंकि भक्त की शारीरिक दुर्बलता देखकर ईश्वर उस पर कृपा की वर्षा कर देता है। लेकिन जीवात्मसाक्षात्कारी को असम्प्रज्ञात योग अत्यन्तशीघ्र प्राप्त हो इस इच्छा से पूर्ण तत्परता के साथ उपायों का अनुष्ठान करते रहना पड़ता है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि

यदि ब्रह्मविषयक ज्ञान तथा जीवविषयक ज्ञान दोनों को समानरूप से मोक्ष का हेतु माना जायेगा तो ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति, स्मृतियाँ व्यर्थ एवं अप्रामाणिक सिद्ध होंगी। अतः उन्होंने कहा है कि :–

"मुमुक्षु के लिए भगवान् विष्णु का आश्रय बड़ा ही सुखकर मार्ग है। उनका केवल चित्त से ही चिन्तन करना चाहिए अन्यथा निश्चित ही ध ोखा खा जाओगे।"

(भव प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग)

अथ भवप्रत्ययो व्याख्यायते। प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानादौ–त्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसम्प्रज्ञातो विदेहप्रकृतिलयानां देवताविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते, जन्ममात्रकारणकत्वात्। यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रादिकम्। तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः। ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबलपरमेश्वरोपसनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोटयस्ते प्रकृतिलया उच्यन्त इति।

अनुवाद

अब भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग की व्याख्या की जा रही है। पूर्व जन्म में की गई साधना के अनुष्ठान के परिणाम स्वरूप जन्ममात्र से ही सिद्ध ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा, जो इच्छामात्र से ही विदेह तथा प्रकृतिलय देवताविशेषों को असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है, उसे भवप्रत्यय कहते हैं, क्योंकि उसमें जन्ममात्र ही कारण है। जैस हिरण्यगर्भ आदि को योगनिद्रा आदि सिद्ध हुई थी। उनमें जो विदेह हैं वे सामान्य स्थूल देह की अपेक्षा न करते हुए सूक्ष्म देह से ही समस्त व्यवहारों की निष्पत्ति में समर्थ होते हैं। जैसे हिरण्यगर्म आदि। परन्तु जो योगी प्रकृति की उपासना के द्वारा अथवा उसमें प्रतिबिम्बित ईश्वर की उपासना के द्वारा ब्रह्मण्ड़ का भेदन कर महत्तत्त्व पर्यन्त आवरण को अतिक्रम करके प्रकृति के आवरण में जाकर ईश्वर की कोटि को प्राप्त कर गये हैं, वे प्रकृतिलय कहे जाते हैं।

रजनी

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं

यस्य इति भवप्रत्ययः – इस विग्रह से जन्म ही जिसका कारण हो उसे भवप्रत्यय कहते हैं। यह भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग विदेह और प्रकृतिलय योगियों का होता है। अतः पूर्व के जन्म में किए हुये साधना के अनुष्ठान के परिणाम स्वरूप उपर्युक्त योगियों का जो जन्मसिद्ध ज्ञान और वैराग्य के द्वारा, इच्छामात्र से ही असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है उसे भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। इन दोनों में विदेह योगी वे होते हैं जो स्थूलशरीर की अपेक्षा किये बिना लिङ्गशरीर के द्वारा ही समस्त व्यवहाररूप व्यापार में समर्थ होते हैं। कहा भी है कि :–

"शरीरनैरपेक्ष्येण बुद्धिवृत्तिमन्तो विदेहा इति।" (यो0वा0 1/19)

महदादि की आत्मत्वेन उपासना करने वाले इन विदेह योगियों को योगसाधना का अनुष्ठान किये बिना ही जन्मग्रहण करने के बाद इच्छामात्र से असम्प्रज्ञात योग प्राप्त हो जात है। क्योंकि इन्हे योनिसाद्गुण्य के कारण जन्म के साथ ही ज्ञात होता है। ये विदेह योगी दैनन्दिन प्रलय और कदाचित् सृष्टिकाल में भी संस्कारशेष निरोधावस्थ चित्त के द्वारा कैवल्यसदृश पद को प्राप्त करते हैं। और चित्त व्युत्थित दशा में प्रारब्ध कर्म से नियन्त्रित होकर देवभाव के उत्पादक संस्कार से ऐश्वर्यभोगरूप फल को भोगते हुए प्रारब्ध कर्म को समाप्त करते हैं तथा अन्त में मुक्त हो जाते हैं।

ईश्वर की उपासना अथवा प्रकृति की उपासना द्वारा जो योगी सावरण ब्रह्माण्ड़ को छोड़कर सूक्ष्मशरीर के साथ प्रकृत्यावरण में लय को प्राप्त होते हैं, वे प्रकृतिलीन योगी कहे जाते हैं। ये भी असमाप्ताधि–कारविशिष्ट संस्कारशेष चित्त के साथ प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य सदृश पद को तब तक प्राप्त किये रहते हैं, जब तक उनका साधिकार चित्त पुनः व्युत्थित अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रकृतिलीन योगियों का असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है और अधिकार की समाप्ति होने पर वे भी मुक्त हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञातयोगस्य तु भवप्रत्ययरूपविशेषो न सम्भवति, धारणा–ध्यानसमाधीनां सम्प्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तस्मिन्नेव जन्मनि सम्प्रज्ञातावश्यम्भावात्। अतः सम्प्रज्ञाते उपायप्रत्ययभवप्रत्ययविभागः सूत्रभाष्ययोर्न कृत इति।

स च द्विविधोऽप्यसम्प्रज्ञातो ध्येयाभावान्निरालम्बनयोग उच्यते। अभ्यस्यमानश्च क्रमेणाखिलसंस्कारदाहकत्वान्निर्बीजयोग उच्यते।

असम्प्रज्ञातयोगो हि निरोधरूपोऽपि नवनवसंस्कारातिशय-मभ्यासाज्जनयति, येन संस्कारतारतम्येन दिनपक्षमासादिपर्यन्तकालबृद्धिः क्रमेण योगस्य भवति। स संस्कारो यथा यथाऽतिशेते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलवृत्तिसंस्कारांस्तनूकरोति। एवं क्रमेण चरमासम्प्रज्ञातेऽ-खिलसंस्कारदाहो भवति। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमाप्तौ समर्थम्, "भोगसंस्कारसहकार्यभावाद्", "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृ० 4/4/2) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्जन्मादिविपाके पूर्वप्रज्ञाशब्दोक्तस्य प्राग्भवीयभोगसंस्कारस्य विद्याकर्मसहकारित्वसिद्धेः। ततश्चरिताधिकारं चित्तं प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते। या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाऽखिल-दृश्यवियोगः, चित्तद्वारैव पुरुषस्य दृश्यरूपद्वितीयसम्बन्धादिति। तथा च स्मर्यते :-

"मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः" इति। तत्त्व-ज्ञानमात्रान्मोक्षे तु प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञानसंस्कारोऽपि चित्तेन सहैव नश्यतीति विशेषः। इदमत्रावधेयम्। ज्ञानं योगश्चोभयमपि व्यापार-भेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। गीतादिषु चोक्तम् :-

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यसि सः पश्यंति।" (गी० 5/5)

इत्यादिभिः। सांख्यं विवेकसाक्षात्कारः। योगस्तु चित्तवृत्ति-निरोधः। अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्त्तकात्म-साक्षात्कारपर्यन्त एव सम्प्रज्ञातोऽपेक्ष्यते न तु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यथा पुनः सम्प्रज्ञातपरम्पराऽपि, प्रारब्धसमाप्तौ सत्यां ज्ञानवासनावत् इतरवासनानामपि चित्तेन सहैव विनाशादिति दिक्।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे योगस्वरूपस्य तत्प्रयोजनस्य च निरुपणे प्रथमोंऽशः।

अनुवाद

सम्प्रज्ञात योग का तो भवप्रत्ययरूप विशेष सम्भव नहीं है, क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि का सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन के रूप

से उनकी निष्पत्ति होने के कारण उस जन्म में ही सम्प्रज्ञात योग अवश्य हो जाता है। इसलिए सम्प्रज्ञात योग में भवप्रत्यय तथा उपायप्रत्यय रूपक विभाजन सूत्र और भाष्य में नहीं किया गया है।

और यह दो भागों से विभाजित असम्प्रज्ञात योग ध्येय से रहित होने के कारण निरालम्बन योग कहा जाता है। और यह क्रम से अभ्यस्यमान होने पर समस्त संस्कारों के दहन हो जाने के कारण निर्बीज योग कहलाता है।

असम्प्रज्ञात योग निरोध स्वरूपक होने पर भी अभ्यास के कारण नये–नये संस्कारातिशय उसमें उत्पन्न होते हैं। जिससे संस्कारों के तारतम्य भाव को प्राप्त करने के कारण योग की सिद्धि में दिन, पक्ष, मास आदि पर्यन्त काल की बृद्धि क्रम से होती है। वह (निरोध) संस्कार जैसे–जैसे अतिशय अवस्था को प्राप्त करता है, वैसे–वैसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने तक समस्त वृत्तिजन्य संस्कारों को क्षीण कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असम्प्रज्ञात योग की अन्तिम अवस्था में समस्त संस्कारों का दहन हो जाता है। उसके बाद प्रारब्ध कर्म भी अपने फल को देने में असमर्थ हो जाता है, क्योंकि "भोग के लिए सहकारी के रूप में संस्कारों का अभाव हो जाता है", तथा "उसके प्रति विद्या और कर्म उपस्थित होते हैं तथा पूर्व प्रज्ञा भी", इत्यादि श्रृति तथा स्मृति आदि से प्रतिपादित न्याय से सिद्ध होता है कि जन्मादि विपाक में जो पूर्वप्रज्ञा शब्द के द्वारा कहा गया है उसका पूर्व जन्मों के भोगजन्यसंस्कारों का विद्या और कर्म के लिए सहकारित्व का अनिवार्यत्व सिद्ध करता है। उसके बाद अपने संस्कारों के साथ अपने कारण में सर्वथा लीन हो जाता है। और जो यह चित्त की महानिद्रा है, यह ही पुरुष का कैवल्य है, जो कि आत्यन्तिक भाव से समस्त दुःखात्मक दृश्य पदार्थों से अलग होना रूपक है। क्योंकि चित्त के द्वारा ही पुरुष का दृश्यरूप दूसरी वस्तुओं से सम्बद्ध होता है। और भी स्मृतिओं में कहा गया है कि :–

"मन का अभ्युदय ही उसका (आत्मा का) नाश है। तथा मन का नाश ही उसका अभ्युदय है।"

तत्त्वज्ञान मात्र से जो मोक्ष प्राप्त होता है उसमें प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के अनन्तर तत्त्वज्ञान जन्य संस्कार भी चित्त के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, यही वैशिष्ट्य है, यहाँ पर यह समझना चाहिए। ज्ञान और योग उभय ही व्यापार के भेद से स्वतन्त्र रूप से मोक्ष के कारण के रूप में यहाँ योगशास्त्र में कहे गये हैं। और गीता आदि में कहा गया है कि :–

"सांख्य के द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, योग के द्वारा भी वही स्थान प्राप्त होता है। अतः जो साधक सांख्य और योग को एक रूप में देखता है, वही यथार्थ को देखता है।"

इत्यादि के द्वारा। यहाँ पर सांख्य का तात्पर्य विवेक साक्षात्कार है। और योग तो चित्तवृत्तियों का निरोधरूप है। अतः ज्ञानमात्र से मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भी अभिमान को निवृत्त करने वाले आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त सम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है, अन्य वृत्तियों के वासनाक्षय हेतु सम्प्रज्ञात योग की परम्परा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रारब्ध की समाप्ति होने पर ज्ञान की वासना के समान अन्य वासनाओं का भी चित्त के साथ ही विनाश हो जाता है।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योग के स्वरूप और उसके प्रयोजन रूप प्रथम अंश समाप्त हुआ।

रजनी

धारणा, ध्यान और समाधि का सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन के रूप से उनकी निष्पत्ति होने के कारण, सम्प्रज्ञात योग का भवप्रत्ययरूप विशेष सम्भव नहीं है, क्योंकि उस जन्म में ही सम्प्रज्ञात योग अवश्य हो जाता है। इसलिए योगसूत्र में हो अथवा व्यासभाष्य में हो, सम्प्रज्ञात योग में भवप्रत्यय तथा उपायप्रत्यय रूपक विभाजन नहीं किया गया है।

असम्प्रज्ञात योग में किसी भी प्रकार का आलम्बन स्वीकृत नहीं होता है। क्योंकि इसमें समस्त वृत्तियों के निरोध होने के कारण वृत्तिजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः इन दो भागों से विभाजित असम्प्रज्ञात योग ध्येय से रहित होने के कारण निरालम्बन योग कहा जाता है। जब योगी क्रमशः संस्कार नष्ट हो जाते हैं। संस्कारों के विनाश हो जाने से भव–भवान्तर के हेतुभूत बीज के अभाव हो जाने के कारण इस योग को निर्बीज योग भी कहते हैं।

यह असम्प्रज्ञात योग निरोध स्वरूपक होने पर भी अभ्यास के कारण इसमें नये–नये संस्कारातिशय उत्पन्न उत्पन्न होते हैं। जिसके कारण संस्कारों के तर तमता भाव को प्राप्त करने के कारण योग की सिद्धि में दिन, पक्ष, मास आदि पर्यन्त काल की बृद्धि क्रम से होती है। वह निरोध संस्कार जैसे–जैसे अतिशय अवस्था को प्राप्त करता है,

वैसे–वैसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने तक समस्त वृत्तिजन्य संस्कारों को क्षीण कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असम्प्रज्ञात योग की अन्तिम अवस्था में समस्त संस्कारों का दहन हो जाता है। उसके बाद प्रारब्ध कर्म भी अपने फल को देने में असमर्थ हो जाता है। जैसे कि कहा गया है कि :–

"भोगसंस्कारसहकार्यभावाद्", "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृ0 4/4/2)

इस उपनिषद् वाक्य से प्रतिपादित न्याय से सिद्ध होता है कि जन्मादि विपाक में जो पूर्वप्रज्ञा शब्द के द्वारा कहा गया है उसका पूर्व जन्मों के भोगजन्यसंस्कारों का विद्या और कर्म के लिए सहकारित्व का अनिवार्यत्व सिद्ध करता है। उसके बाद अपने संस्कारों के साथ अपने कारण में सर्वथा लीन हो जाता है। और जो यह चित्त की महानिद्रा है, यह ही पुरुष का कैवल्य है, जो कि आत्यन्तिक भाव से समस्त दुःखात्मक दृश्य पदार्थों से अलग होना रूपक है। क्योंकि चित्त के द्वारा ही पुरुष का दृश्यरूप दूसरी वस्तुओं से सम्बद्ध होता है। ऐसा कहा भी गया है कि – मन का अभ्युदय ही उस आत्मा का नाश है। तथा मन का नाश ही उसका अभ्युदय है।

तत्त्वज्ञान मात्र से जो मोक्ष प्राप्त होता है उसमें प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के अनन्तर तत्त्वज्ञान जन्य संस्कार भी चित्त के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, यही वैशिष्ट्य है। यहाँ पर समझना चाहिए। ज्ञान और योग उभय ही व्यापार के भेद से स्वतन्त्र रूप से मोक्ष के कारण के रूप में यहाँ योगशास्त्र में कहे गये हैं। और गीता में कहा गया है कि :–

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यसि सः पश्यति।" (गी0 5/5)

अर्थात् सांख्य के द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, योग के द्वारा भी वही स्थान प्राप्त होता है। अतः जो साधक सांख्य और योग को एक रूप में देखता है, वही यथार्थ को देखता है।

यहाँ पर सांख्य का तात्पर्य विवेक साक्षात्कार है, और योग तो चित्तवृत्तियों का निरोधरूप है। अतः ज्ञानमात्र से मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भी अभिमान को निवृत्त करने वाले आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त सम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है, अन्य वृत्तियों के वासनाक्षय हेतु सम्प्रज्ञात योग की परम्परा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रारब्ध की

समाप्ति होने पर ज्ञान की वासना के समान अन्य वासनाओं का भी चित्त के साथ ही विनाश हो जाता है।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योग के स्वरूप और उसके प्रयोजन रूप प्रथम अंश की रजनी हिन्दी विशद व्याख्या समाप्त हुयी।

अथ योगसारसंग्रहे द्वितीयोंऽशः प्रारभ्यते

(योग के त्रिविध अधिकारी)

योगस्य स्वरूपं निरुपितम्। इदानीं योगस्य साधनानि वक्ष्यामः। तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारुढ़रूपाः। तेषां त्रिविधानि साधनानि सूत्रभाष्यभ्यामुक्तानि। तेषु मन्दमध्यमयोः साधनान्यग्रे वक्ष्यामः सौत्रक्रमात्। उत्तमाधिकारिणस्तु सौत्रक्रमेणैवादावुच्यन्ते। उत्तमाधि-कारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठितबहिरङ्गसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगारुढ़ाः यथा जड़भरतादयः। तेषां योगनिष्पत्तावभ्यासवैराग्य एव मुख्यसाधनम्। न तु वक्ष्यमाणः क्रियायोगो वक्ष्यमाणानि योगबहिरङ्गाणि वाऽवश्यकानि, "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (यो0सू0, 1/12) इति सूत्रात् सोपकरणे अभ्यासवैराग्ये व्याख्याय "उपदिष्ट समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदर्थमिदमारभ्यते" इत्येव भाष्यकृता क्रियायोगादिरूपसाधन-सूत्राणामवतारणाच्च। तथा :–

"आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते।
आरुढ़योगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ।।" इति गारुड़ाच्च।

जड़भरतादीनां तथैवाचाराच्च। त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगा– न्तरायस्य कर्मणः। तदुक्तं मोक्षधर्मे :–

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः' पारदर्शिनः।।" इति

अनुगीतायां च

"अपेतब्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते।।

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विप्टरः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः।।" इति।

गारुड़े च

"आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्त्तिताः।।

शिशुपालः सिद्धिमाप स्मारणाभ्यासगौरवात्।।" इति।

अत्र बाह्यकर्मणामेव योगान्तरायत्वात् त्यागो विवक्षितो न त्वान्तरस्य।

"एतानेके महायज्ञान्योगशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति।।" इति।

मन्वादिष्वनीहमानस्यापि योगिनोऽन्तर्यागविधानात्, आवश्यक–भिक्षाटनस्नानादावन्तर्यागस्याविक्षेपकत्वेन फलेच्छाभिमानशून्यत्वेन च योगिनामबन्धकत्वाच्चेति दिक्।

योगस्योत्तमाधिकारी च योगारुढ़ो गीतायां लक्षितः।

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारुढ़स्तदोच्यते।।" (गीता, 6/4)

इति। योगारुढ़स्य च पारमहंस्येन योगाभ्यासो राजमार्गः। "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजनित" (बृ0 4/4)। "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ0 3/5), "तस्मादेव विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" (बृ0 4/4) इत्यादि श्रुतिस्मृत्योस्तद्दर्शनादिति।

अनुवाद

योग के स्वरूप का निरुपण हो गया है। अब योग के साधनों को कहेंगे। (उस योग के साधनों के विषय में) मन्द, मध्यम तथा उत्तम के भेद से योग के अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं, जैसे – आरुरुक्षु, युञ्जान तथा योगारुढ़ रूपक। इन (तीनों प्रकार के योग के अधिकारियों) के लिए तीन प्रकार के साधन सूत्र और भाष्य के द्वारा बताया गया है। इनमें से (पातञ्जल) सूत्रक्रम के अनुसार मन्द अधिकारी और मध्यम अधिकारियों के साधनों को आगे कहेंगे। (पातञ्जल) सूत्रक्रम के कारण उत्तम अधिकारियों के साधन सर्वप्रथम कहे गये हैं। उत्तम अधिकारी वे होते हैं, जिन्होंने पूर्व जन्म में बहिरङ्ग साधनों के अनुष्ठान के कारण (इस जन्म में) उनकी (बहिरङ्ग साधनों के अनुष्ठानों की) अपेक्षा किये

बिना योगारुढ़ होते हैं। जैसे जड़भरत आदि। उनकी योगसिद्धि में अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन है। न कि आगे कहे जाने वाले क्रियायोग अथवा उसके आगे कहे जाने वाले योग के बहिरङ्ग साधनों की आवश्यकता है। क्योंकि "अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निरोध करना चाहिए" (यो0सू0, 1/12) इस सूत्र के द्वारा साधनों सहित अभ्यास एवं वैराग्य की व्याख्या करने के उपरान्त अवतरणिका में कहा है कि – समाहित चित्तवाले साधकों का योग उपदिष्ट हो गया, (अब) व्युत्थित चित्तवाले साधक भी किस प्रकार योगयुक्त हो, इस प्रकार इसके लिए इसका आरम्भ किया जा रहा है। जैसे गरुड़ पुराण में कहा गया है कि :–

"आरुरुक्षु योगियों के निमित्त कर्म और ज्ञान का उपदेश दिया गया है तथा जो योगरूपी वृक्ष पर आरुढ़ हो गए हैं, उनके लिए ज्ञान एवं त्याग ही श्रेष्ठ बताए गए हैं।"

जड़भरत आदि का उसी प्रकार का आचरण करने से यह सिद्ध होता है। यहाँ पर त्याग से तात्पर्य है कि सभी प्रकार के योग के बाधक कर्मों का त्याग है। मोक्षधर्म में भी कहा गया है कि :–

"कर्म के आचरण (अनुष्ठान) से यह जीवात्मा बन्धन को प्राप्त करता है और विद्या से मुक्त हो जाता है। इसलिए परमतत्त्व का दर्शन करने वाले योगी कर्म नहीं करते हैं।"

अनुगीता में कहा भी कहा गया है कि :–

"व्रत और कर्म से रहित जो साधक केवल ब्रह्म में ही स्थित है, वह ब्रह्मभूत साधक इस लोक में विचरण करते हुए ब्रह्मचारी कहा जाता है। ब्रह्म ही उसकी समिध, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म ही आसन, ब्रह्म ही जल और ब्रह्म ही गुरु है। इस प्रकार से वह ब्रह्म में समाहित है।"

गरुड़ पुराण में :–

"आसन तथा स्थान आदि विधियाँ योग के प्रकृष्ट साधक नहीं है। (अर्थात् वह योगसिद्धि में उत्तम साधक नहीं है।) (इनका जो) विस्तार (से वर्णन प्राप्त होता) है, वे सब विलम्ब को उत्पन्न कराने वाले हैं ऐसा कहा गया है। जैसे शिशुपाल ने स्मरण के अभ्यास की अधिकता से सिद्धि को प्राप्त किया था।"

यहाँ पर बाह्यकर्मों का योग के अन्तराय होने से बाह्यकर्मों का त्याग–त्याग शब्द से विवक्षित है, न कि आभ्यन्तर कर्मों का (त्याग)। जैसे कहा गया है :–

"योगशास्त्र के निष्णात होने पर भी मनुष्य इन महायज्ञों को बाह्यरूप से निश्चेष्ट रहकर सर्वदा अपनी इन्द्रियों में ही हवन करते हैं।"

इस मनुस्मृति आदि वाक्यों में योगी के लिए सतत अन्तर्याग का विधान किया गया है। तथा आवश्यक भिक्षावृत्ति, स्नान आदि में अन्तर्याग का विक्षेपकत्व न होने से और फल की इच्छा तथा अभिमान से शून्य होने के कारण योगियों के लिए बन्धन का कारण भी नहीं हैं।

योग के जो योगारुढ़ संज्ञक उत्तम अधिकारी है उसका लक्षण श्रीगीता में कहा गया है कि :–

"साधक जब न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, तब समस्त सङ्कल्पों का त्याग करने वाला वह साधक योगारुढ़ कहा जाता है।"

इस योगारुढ़ (साधक) का परम संन्यास पूर्वक योग का अभ्यास करना राजमार्ग है।

रजनी

प्रथम अंश में योग के स्वरूप का निरुपण करने के पश्चात् श्रीविज्ञानभिक्षु योग के साधनों का निरुपण कर रहे हैं। वस्तुतः जब कोई सामान्य मनुष्य (प्राणी) किसी भी पदार्थ की महत्ता के बारे में जानकारी प्राप्त करता है तब वह उसकी प्राप्ति साधन को जानने की कोशिश करता है। वैसे ही जब साधक यह ज्ञान प्राप्त करता है कि योग का स्वरूप इस प्रकारक है तथा इसके अनुष्ठान से कैवल्य जैसा पद प्राप्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति सहजतया उसके साधनों को जानने के लिए होगा। जैसे वह साधन क्या है? किस प्रकार है ? उसका अनुष्ठान किस प्रकार किया जाए ? आदि। और यह क्रम सूत्रकार पतञ्जलि को भी अभिमत है। योग के अधिकारी को तीन वर्गों में विभाजित करके उनकी पारिभाषिक संज्ञाओं को उनके अनुरुप कह रह हैं। जैसे :–

उत्तम अधिकारी – योगारुढ़

मध्यम अधिकारी – युञ्जान

मन्द अधिकारी – आरुरुक्षु

इन तीनों अधिकरिओं में से उत्तम अधिकारियों के लिए प्रयुक्त साधन प्रथम कहा गया है। क्योंकि भाष्यकार ने भी सूत्र के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि :—

"अथ आसां निरोधे कः उपाय इति ? अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।"
(व्या0भा0, 1/12)

इन उत्तम अधिकारियों का क्या स्वरूप होना चाहिए? किन को हम उत्तम अधिकारी कह सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :— जिन्होंने पूर्व के जन्मों में बहिरङ्ग साधनों की सिद्धि कर लिया है, तथा इस जन्म में उन बहिरङ्ग साधनों की अपेक्षा के बिना ही योग में आरुढ़ हो जाते हैं, वे ही योगारुढ़ संज्ञक उत्तम अधिकारी होते हैं। इन योगारुढ़ संज्ञक उत्तम अधिकारी का लक्षण श्रीगीता में कहा गया है कि :—

"साधक जब न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, तब समस्त सङ्कल्पों त्याग करने वाला वह साधक योगारुढ़ कहा जाता है।"

इन उत्तम अधिकारियों के लिए अभ्यास एवं वैराग्य का निर्देश किया गया है। वस्तुतः भाष्यकार ने कहा है कि अभ्यास और वैराग्य रूप साधन समाहित चित्त वाले योगियों के लिए ही है। और वे ही उत्तम अधिकारी होते हैं। जैसे :—

"उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः।" (व्या0भा0, 2/1)

इस उत्तम कोटि के योगी जड़भरत आदि ही होते हैं। इस योगारुढ़ संज्ञक उत्तम अधिकारी के लिए तपः, स्वध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूपक क्रियायोग का अथवा यम, नियमादि बहिरङ्ग साधनों की आवश्यकता नहीं है। इन उत्तम अधिकारी वाले साधकों के लिए ज्ञान एवं त्याग को ही श्रेष्ठ बताया गया है। जैसा कि कहा गया है गरुड़ पुराण में :—

"आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते।
आरुढ़योगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ।।"

यह योगारुढ़ योगी केवल ब्रह्म में ही रहता है। वह साधक इस लौकिक संसार में विचरण करते हुए ब्रह्मचारी पद को प्राप्त करता है। उसके लिए ब्रह्म का समिधत्व, अग्नित्व, आसनत्व, जलत्व तथा ब्रह्म का गुरुत्व स्वीकृत है। वह हमेशा ब्रह्म में ही समाहित रहता है। जैसे कि अनुगीता में कहा गया है कि :—

"अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते।।

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विष्टरः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः।।"

गरुड़ पुराण के अनुसार बाह्य कर्म योग में विघ्न उत्पन्न करते हैं। अतः इन बाह्य कर्मों का त्याग श्लोकोक्त त्याग शब्द से विवक्षित है। इन उत्तम अधिकारियों का फल में इच्छा तथा अभिमान नहीं रहता है। अतः ये सब बन्धन में नहीं पड़ते हैं। क्योंकि फल की इच्छा से किया हुआ कर्म बन्धन प्राप्त कराता है।

(अभ्यास के स्वरूप)

तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः। स्थितिश्च योगचरमाङ्गसमाधि–र्निश्चलैकाग्रताधारारूपः,

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।" (गी० 2/53)

इति गीतादिभ्यः। तस्यां स्थितौ यत्नः तदर्थः प्रयासो ध्येया–द्वहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनारानयनम्। तदुक्तं गीतायाम् :–

"यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्यैव वशं नयेत्।।" (गी०, 6/26) इति।

अनुवाद

इन (अभ्यास और वैराग्य) में से चित्त की स्थिति हेतु किया गया प्रयत्न अभ्यास है। और स्थिति (अष्टाङ्ग) योग के अन्तिम अङ्ग समाधि का स्थिर एकाग्रता रूप प्रवाह है। जैसे :–

"अनेकश्रुति वचनों से विक्षिप्त भाव को प्राप्त हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में अचल तथा स्थिर रूप से रह जाएगी, तब तुम योग को प्राप्त करेगो।"

इस प्रकार गीता आदि से प्रतिपादित है। उस स्थिति में रहते हुए यत्न करना, उसके लिए प्रयास करना तथा ध्येय से अतिरिक्त विषय में गया हुआ चित्त का पुनः पुनः (ध्येय विषय में) लगाना (अभ्यास कहलाता) है।

"स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन जिन शब्दादि विषयों के प्रति प्रवृत्त होता है, उन विषयों से उसे नियन्त्रित करके आत्मा में ही नियोजित करें।"

रजनी

योगारुढ़ संज्ञक उत्तम अधिकारी के लिए योगसाधन हेतु अभ्यास और वैराग्य का विधान किया गया है। इन अभ्यास और वैराग्य दोनों में से चित्त की स्थिरता के लिए किया गया प्रयत्न विशेष को अभ्यास कहते हैं। अतः पतञ्जलि ने कहा है कि :-

"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (यो0सू0, 1/13)

यहाँ पर राजस और तामस वृत्तियों से रहित चित्त के सात्त्विक एकाग्र वृत्ति प्रवाह को स्थिति कहा जाता है। व्यास ने भी यही बात कही है। जैसे :-

"चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः।" (व्या0भा0, 1/13)

अतः स्पष्ट होता है कि अभ्यास का प्रमुख प्रयोजन चित्तस्थैर्य है। क्योंकि चित्त के स्थिर रहने पर ही अन्य इन्द्रियाँ स्वतः तदनुगामिनी हो जाती है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :-

"योगचरमाङ्गसमाधिर्निश्चलैकाग्रताधारारूपः।" (यो0वा0, 1/13)

इस चित्तस्थैर्य की पराकाष्ठा में अन्य वृत्तियों से रहित ध्येय चित्त की प्रशान्तवाहिनी अवस्था होती है। इस अवधि में चित्त में हर्ष, शोक आदि वृत्तियों का उदय नहीं होता है, अपितु चित्त एकाग्र अवस्था में रहता है। योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु इसी प्रशान्तवाहिता के विषय में किसी शास्त्रोक्त कारिका का उद्धरण दिया है। जैसे :-

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति च स शान्त इति कथ्यते।।"

अर्थात् जो प्राणी शुभ और अशुभ को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर, सूँघकर हर्षित तथा खिन्न नहीं होता है, उसे शान्त कहा जाता है। इस प्रकार राजस तथा तामस वृत्ति से रहित केवल सात्त्विक वृत्तिवाले चित्त की शान्त स्थिति होती है। प्रशान्तवाहिता के स्पष्टीकरण में श्रीभिक्षुपाद ने वार्त्तिक में कहा है कि :-

"वृत्त्यन्तराभावात् प्रशान्ता हर्षशोकादितरङ्गरहिता।।" (यो0वा0, 1/13)

यही प्रशान्तवाहिता अष्टाङ्ग योग के अन्तिम अङ्ग समधि में होने वाला निस्तरङ्ग एकाग्रता धारारूप ही है। क्योंकि इस समाधि की अवस्था में केवल अर्थमात्र का निर्भास होता है। इस समय ध्यान ही ध्येयाकाररूप से भासित होता हुआ ध्येय के स्वरूप को धारण करने से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से शून्य के समान हो जाता है। इस अवस्था में ध्यान ही ध्येयाकार से साक्षी में भासित होता है, न कि प्रत्ययाकार रूप से। इसमें वृत्त्यन्तर का उदय असम्भव सा हो जाता है। इसलिए गीता में कहा गया है :–

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।"

अर्थात् प्राणी की बुद्धि जब अनेक प्रकार के वचनों को सुनते हुए मोहरूपी दलदल को सर्वथा पार कर जाएगी तथा इस लोक और परलोक के समस्त भोगों से विरक्त हो जाएगी, तब उसकी बुद्धि समाधि में स्थिरत्व को प्राप्त करके योगसिद्ध हो जाएगी।

यहाँ पर स्थितौ से तात्पर्य क्या है ? क्योंकि स्थितौ इस में वैषयिकसप्तमी मानने पर असङ्गति आजाएगी। अतः "निमित्तात् कर्मयोगे" इस वार्त्तिक के अनुसार निमित्त अर्थ में स्वीकार करना सङ्गत होगा।

श्रीविज्ञानभिक्षु यत्न शब्द के स्पष्टीकरण में कहा है कि :–

"यत्नः प्रयासः।" (यो0वा0, 1/13)

अर्थात् कार्यविशेष के प्रति किया गया प्रयास ही यत्न है। भाष्यकार व्यास ने भी यत्न शब्द का अर्थ वीर्य अथवा उत्साह कहा है। जैसे :–

"प्रयत्नो वीर्यमुत्साहो।" (व्या0भा0, 1/13)

अतः प्रयास किं निमित्तक होना चाहिए ? इसके समाधान में भिक्षु ने कहा है कि :–

"ध्येयाद्वहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनरानयनम्।" (यो0वा0, 1/13)

अर्थात् जब चित्त एकाग्रता की अवस्था में ध्येयाकाराकारित रहता है। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में विक्षिप्तता के कारण ध्येय से अतिरिक्त विषयों में चित्त का सञ्चरण हो जाता है। इन बाह्यविषयों से हटाकर चित्त को बारम्बार ध्येय में ही लगाने को यत्न कहा गया। और यहाँ पर

इस स्थिति को सम्पादित करने की इच्छा से उसके साधनों का जो अनुष्ठान होता है, उसे अभ्यास कहते हैं।

अभ्यास के कारण चित्त प्रशान्तवाहिनी अवस्था को प्राप्त करता है। परन्तु यहाँ पर यह शङ्का होती है कि अनादि काल से चली आ रही व्युत्थान संस्कारों से प्रतिबन्धित होने के कारण अभ्यास किस प्रकार से चित्तस्थैर्य को सम्पादित कर पाएगा ? इसके समाधान में सूत्रकार पतञ्जलि तीन प्रकार के साधनों से दृढ़भूमि को प्राप्त हुआ अभ्यास ही चित्तस्थैर्य को सम्पादित कर सकता है, यह कहा है। इसके स्पष्टीकरण में सूत्रकार कहते हैं कि :–

"स तु तीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।" (यो0सू0. 1/14)

अर्थात् वह अभ्यास दीर्घकाल तक, अन्तराय रहित तथा श्रद्धा के साथ आचरित होने पर दृढ़भूमि वाला होता है।

(वैराग्य के स्वरूप तथा भेद)

वैराग्यं च अलं बुद्धिः, न तु रागाभावमात्रम्, विषयासान्निध्यादिना रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः। तच्च वैराग्यं द्विविधं परमपरं च। तत्रार्जन–रक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शननिमित्तकमैहिकमामुष्मिकविषयेषु वैतृष्ण्यमपरं वैराग्यम्। तदपि चतुर्विधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। तत्र वैराग्यसाधनस्य दोषदर्शनस्याभ्यासो यतमान–संज्ञानाम्नी वितृष्णा वैराग्यस्य प्रथमभूमिका। ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा। ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानावमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा। ततश्च विषयश्च मानावमानादेश्च सान्निध्यकालेऽपि सर्वेऽन्द्रियाणां चित्तस्य चाक्षोभो वशीकारसंज्ञेति। सर्वत्र संज्ञाशब्दोऽभिव्यक्त्यर्थः। तेन स्फुटता लभ्यते। एतेषु चतुर्विधवैराग्येषु वशीकारसंज्ञैव योगारुढ़स्यानुष्ठेया, पूर्वस्य वैराग्यत्रयस्य युञ्जानावस्थायामेव सिद्धत्वादिति।

अनुवाद

विषयों के साथ सान्निध्य न होने से राग के अभाव में वैराग्य (विरक्तत्व) की आपत्ति हो जाने के कारण वैराग्य अलं बुद्धि (वाला) है, न कि राग के अभावमात्र है। और वह वैराग्य दो प्रकार का है। जैसे परवैराग्य और अपरवैराग्य।

उन (दोनों प्रकार के वैराग्य) में से अर्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा आदि अनन्त दोषों को देखकर तन्निमित्तक जो इहलौकिक और पारलौकिक विषयों में वितृष्णता (का भाव उत्पन्न) होता है, वह अपर वैराग्य कहलाता है। वह भी चार प्रकार का है, जैसे यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। इन (चारों में से) वैराग्य के साधन का दोषदर्शनरूपक जो अभ्यास है वह यतमान संज्ञा नामक वितृष्णा (अपर) वैराग्य का प्रथम भूमिका है। उसके बाद इतनी इन्द्रियों को जीत लिया गया है और इतनी जीती जानी है, इस प्रकारक व्यतिरेक का निश्चय कराने वाली अवस्था विशेष व्यतिरेक संज्ञक (अपर) वैराग्य कहलाता है। और उसके पश्चात् बाह्येन्द्रियविषय रूप आदि में रागादि के क्षय हो जाने पर एकमात्र मन में ही मान, अपमान आदि विषयक राग, द्वेष आदि का निरसन हो जाना एकेन्द्रिय संज्ञा नाम वाला (अपर वैराग्य) है। तदनन्तर मान तथा अपमान आदि विषयों के सान्निध्य के अवधि में भी समस्त इन्द्रियों एवं चित्त का क्षोभ न होना वशीकार संज्ञा नामक (अपर) वैराग्य है। (यहाँ पर) सर्वत्र संज्ञा पद अभिव्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। इससे स्पष्टता प्राप्त होती है। इन चार प्रकार के वैराग्यों में से वशीकार संज्ञा ही योगारुढ़ (संज्ञक योगी) की अनुष्ठान योग्या है। क्योंकि पहले के तीन प्रकार के वैराग्य युञ्जान अवस्था में ही सिद्ध हो जाते हैं।

रजनी

हम यह पहले भी जानते हैं कि योग दार्शनिक कदापि अभाव का अङ्गीकार नहीं करते हैं। क्योंकि इनके मत में अभाव अधिकरण–स्वरूपवाला ही है। अतः प्रकृत प्रसङ्ग में रागस्य अभावः विरागः, तस्य भावः वैराग्यम् – यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ राग का अभावमात्र ही वैराग्य है, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते। यदि हम राग के अभावमात्र को वैराग्य मान लें तो विषयों के साथ संसर्ग न होने पर जो उन पदार्थों में राग का अभाव प्राप्त हो जाता है, वहाँ पर भी वैराग्य की प्रसक्ति आ जाएगी। अतः राग का अभावमात्र कथमपि वैराग्य नहीं हो सकता है। यह वैराग्य केवल अलं प्रत्यय रूपक ही है। वस्तुतः हमारे मत में तो परमार्थवस्तुविषयको विशिष्टो रागः विरागः, तस्य विरागस्य भावः वैराग्यमिति–इस प्रकार व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को ही स्वीकार करना चाहिए। यहाँ पर विरागशब्द राग का प्रतिद्वन्द्वी है। विषयों के प्रति स्वाभाविक

वितृष्णा का भाव ही वैराग्य है। वस्तुतः वाचस्पति के अनुसार चेतन तथा अचेतन दृष्ट पदार्थों के प्रति तथा आनुश्रविक स्वर्गादि विषयों के प्रति वितृष्णा के साथ–साथ इन सभी विषयों के प्रति अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति का होना ही वैराग्य है। केवल वितृष्णामात्र वैराग्य नहीं हो सकता है। जब वितृष्णा के साथ अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो तब वह वैराग्य कहलाता है। इसलिए उन्होंने कहा है कि :–

"ननु यदि वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम् हन्त विषयाप्राप्तावपि तदस्तीति वैराग्यं स्यादित्यत आह – दिव्यादिव्येति। न वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम्, अपितु दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका, तामेव स्पष्टयति – हेय इति।"

यह वैराग्य दो प्रकार का है। जैसे – अपर वैराग्य और पर वैराग्य। इनमें से पहले अपर वैराग्य के विषय में निर्वचन किया जा रहा है।

अपर वैराग्य -

दृष्ट विषयों एवं आनुश्रविक विषयों से विरक्त चित्त का जो वशीकार संज्ञक वैराग्य होता है उसे अपर वैराग्य कहते हैं। अर्थात् दृष्ट तथा आनुश्रविक उभय विषयों का अर्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा आदि अनन्त दोषों को देखने के उपरान्त जो तन्निमित्तक उन विषयों में वितृष्णता का भाव उत्पन्न होता है, वह अपर वैराग्य कहलाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे वह लौकिक विषय हो अथवा वैदिक विषय हो–उभयत्र उन विषयों का अर्जन आदि दोषों का दृष्टिगोचर होता है। जैसे जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म अविद्या आदि के कारण अनुष्ठित होता है, उन कर्मों का फलभोग हेतु हमारे पास उपस्थित होता है, यही अर्जन के रूप में हम स्वीकार कर सकते हैं। अथवा लौकिक ऐश्वर्य आदि से भी अभिप्रेत हो सकता है। इस के अर्जन में मनुष्य दुःख प्राप्त करता है। जैसे वैदिक क्रिया बहु वित्त तथा शरीर के आयास साध्य है। तथा लौकिक क्रिया भी उसी प्रकार कष्ट साध्य है। अतः यह दुःख ही है। उन अर्जित कर्म जन्य फल का रक्षण करना अवश्यम्भावी हो जाता है। क्योंकि अगर उनका रक्षण न करें तो वे क्षय हो जाएँगे, जो कि हमें दुःख प्रदान करेगा। और हम दुःखों की निवृत्ति हेतु प्रयासरत है। एक दूसरी बात यह भी है कि उन कर्म जन्य फलों के रक्षणनिमित्त चित्त का व्यापारिक होना निश्चित है, और हम चित्त के व्यापारिकता का प्रतिषेध कर रहे हैं। इस प्रकार कर्म जन्य फलों के रक्षणहेतु हिंसा आदि कर्म भी अनुष्ठित

होते हैं, जो कि अत्यन्त दोषावह है। क्योंकि सूत्रकार पतञ्जलि स्वयं कहा है कि :–

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।" (यो.सू. 2/33)

ये हिंसा आदि अनन्तदोष वितर्कस्वरूपक है। इनके कारण ही योगी योगभ्रष्ट हो जाता है। योगमार्ग में अग्रसर नहीं हो पाता है। योगानुष्ठान में असमर्थ हो जाता है। क्योंकि इनके प्रभाव से वह विकृत चिन्तन करने लगता है। जिससे योगमार्ग में विघ्न उपस्थित होते हैं। अतः ये सब दोषस्वरूपक ही है। ये विकृत चिन्तन जैसे – मैं अपकारी की हत्या करुँगा, झूठ भी बोलूँगा, इसका धन भी हड़पलूँगा और इसी के स्त्री के साथ दुराचार करुँगा तथा इसकी सम्पदाओं पर अधिकार कर लूँगा आदि। जैसे व्यास ने भी कहा है कि :–

"यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयों वितर्क जायेरन् हनिष्याम्यहमप–कारिणमनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति।" (व्या0भा0, 2/33)

ये हिंसादि वितर्क प्रमुखरूप से 27 प्रकार का हैं। ये सब दोषनिमित्तक है। अतः इस प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक विषयों में जो अर्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा आदि अनन्तदोषों को देखकर वितृष्णता का भाव उदय होता है, उसे अपर वैराग्य के नाम से अभिहित करते हैं। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में कहा है कि :–

"अतोऽत्र वैराग्यस्य वैतृष्ण्यमात्रं न लक्षणं, किन्तु यथोक्तरागाभावमात्रं, वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञेति।" (यो0वा0, 1/15)

ऊपर दो प्रकार के विषय कहे गये हैं। यथा दृष्टविषय और आनुश्रविकविषय। इस जन्म में जिनका अनुभव होता है, वे दृष्टविषय कहलाते हैं। जैसे – स्त्री, पुत्र, अन्न–पान, ऐश्वर्य, राज्य आदि। वेदानुमोदित जिन विषयों का स्वीकार किया गया है, वे आनुश्रविक विषय हैं। जैसे स्वर्ग, वैदेह्य एवं प्रकृतिलय आदि। इन लौकिक और वैदिक विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि होने पर उनके प्रति भोग की भावना का न होना ही अपर वैराग्य है। इन दोनों प्रकार के विषयों के प्रति वितृष्णा होने पर उन विषयों का सम्पर्क होने पर भी साधक उनके भोग के प्रति उदासीन रहता है और अपनी इस वैतृष्ण्य युक्त अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति के द्वारा साधक को अपने उपर पूर्णाधिकार प्राप्त हो जाता है। जिसके कारण

चित्त इहलौकिक और पारलौकिक विषयभोगों की ओर आकृष्ठ नहीं होता है। चित्त की इस अवधि विशेष को वशीकार संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह अपर वैराग्य के नाम से जाना जाता है। अतः भाष्यकार व्यास ने स्पष्ठ कहा है कि :–

"स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये ...... वैराग्यम्।" (व्या0भा0, 1/15)

अर्थात् लौकिक एवं अलौकिक विषयें का सम्पर्क होने पर भी विषयगत दोषों का ज्ञान रखने वाली चित्त की विवेकज्ञान के कारण त्याग अथवा ग्रहण की बुद्धि से रहित जो भोगाभावरूपिणी स्थिति होती है, वही अपर वैराग्य कहलाता है। साधकों में उक्त दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति वितृष्णा के कार्यमात्र से वैराग्य का उदय नहीं होता है, अपितु वैराग्य के आलम्बनों को धीरे–धीरे बढ़ाता हुआ साधक वैराग्य का तर–तम भाव प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रमिक विकास के कारण यह अपर वैराग्य को चार प्रकार के विभाजित करते हैं। जैसे :– 1. यतमान संज्ञा, 2. व्यतिरेक संज्ञा, 3. एकेन्द्रिय संज्ञा, 4. वशीकार संज्ञा।

1. यतमान संज्ञा

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार वितृष्णाज्ञानपूर्वक वैराग्यसाधनों का अनुष्ठान करना, यह प्रथमभूमिक यतमान संज्ञा नामक अपर वैराग्य है। वाचस्पति के अनुसार राग आदि चित्त के मलरूप से स्वीकृत है। इनसे ही इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होती है। ये रागादि मल इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों के प्रति उन्मुख न कर सके इस इच्छा से उन मलों के प्रक्षालन हेतु मैत्री आदि भावना का अनुष्ठान रूपक जो यत्न है, वह यतमान संज्ञक वैराग्य है। वस्तुतः प्राणिमात्र के प्रति विषयभोगों के परिणास्वरूप दुःख का ही अनुभव होता है। क्योंकि योगशास्त्रज्ञों ने कहा है कि विवेकी के लिए सब कुछ दुःख ही है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"परिणामताप .... दुःखमेव सर्व विवेकिनः।" (यो0सू0, 1/2/15)

इस प्रकार जब राग–द्वेषादि निमित्तक दुःख उत्पन्न होता है तो उससे प्राणी का चित्त वितृष्णता को प्राप्त करता है। इसके कारण उसकी प्रवृत्ति धीरे–धीरे विषयों की ओर शिथिल होने लगती है। इस प्रकार दोषदर्शन पुरस्सर जब वैराग्य की दिशा में चलने के लिये प्रयत्न आरम्भ करता है। अपर वैराग्य के इस प्रथमस्तर को यतमान संज्ञा कहा जाता है।

2. व्यतिरेक संज्ञा · के रूप में वशीकार संज्ञक

वैराग्य के मार्ग में अग्रसर प्राणी के चित्त,
प्रवृत्त रागादि क्षीणत्व को प्राप्त करते हैं, तब विष्प।" (यो0सू0. 1/15)
रागादिमूलक प्रवृत्ति नहीं रह पाती है। परन्तु वे व्युत्थ,
बीज को स्वीकार कर कदाचित् पुनः उभरकर चित्त को ुण अपर वैराग्य
है। अतः उस समय साधक यह सोचता है कि इतनी इन्द्रिय ियों का वर्णन
ग्राह्य विषयों के उपर जयलाभ प्राप्त कर लिया और अवशिष्ट यह मान
जय करना है – इस प्रकार उसका भावना प्रवर्तित होती है। लि को
योगानुष्ठान के कारण इस समय चित्त के कुछ मल नष्ट हो जाने पर
कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं। इस प्रकार विवेचन करते हुए साधकों से
अवशिष्ट दोषों के शान्त होने के लिए जो प्रयत्न विशेष अनुष्ठित होता
है, उसे व्यतिरेक संज्ञक अपर वैराग्य कहते हैं। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने
कहा –

"सा च जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतव्यादीनि व्यतिरेका–
वधारणयोग्यता।" (यो0वा0, 1/15)

3. एकेन्द्रिय संज्ञा

इस प्रकार चित्त के रागादि मल बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त कराने में असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु अन्तरिन्द्रिय मन के सूक्ष्मरूप से विद्यमान होने के कारण विषयों की उपस्थिति होने पर चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। इसके प्रक्षालन निमित्त चित्त की जो भावना प्रवर्तित होता है उसे एकेन्द्रिय संज्ञा कहते हैं। अर्थात् वृत्तिनिरोध से चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के रूपादि विषयों के प्रति रागादि क्षय हो जाते हैं। उस समय केवल मन में मानापमानादि विषयक राग–द्वेष आदि का रागद्वेष के ज्ञान पूर्वक क्षय करना अवशिष्ट रहता है। एतन्निमित्त जो योग का अनुष्ठान किया जाता है उसे एकेन्द्रिय संज्ञा नामक तृतीय भूमिक अपर वैराग्य कह जाता है।

4. वशीकार संज्ञा

जब चित्त के रागादि मल पूर्वोक्त उपायों से नष्ट हो जाते हैं, तब किसी भी प्रकार के उन विषयों के प्रति चित्त की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस समय विषयों के प्रति आसक्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। इसी अवस्था को ही वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य कहते हैं। यह चतुर्थ भूमिक

चित्त इहलौकिक और पारलौकिक विषयभोगों की ओर आकृष्ठ नहीं होता है। चित्त की इस अवधि विशेष को वशीकार संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह अपर वैराग्य के नाम से जाना जाता है। अतः भाष्यकार व्यास ने स्पष्ठ कहा है कि :—

"स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये ...... वैराग्यम्।" (व्या0भा0, 1/15)

अर्थात् लौकिक एवं अलौकिक विषयें का सम्पर्क होने पर भी विषयगत दोषों का ज्ञान रखने वाली चित्त की विवेकज्ञान के कारण त्याग अथवा ग्रहण की बुद्धि से रहित जो भोगाभावरूपिणी स्थिति होती है, वही अपर वैराग्य कहलाता है। साधकों में उक्त दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति वितृष्णा के कार्यमात्र से वैराग्य का उदय नहीं होता है, अपितु वैराग्य के आलम्बनों को धीरे—धीरे बढ़ाता हुआ साधक वैराग्य का तर—तम भाव प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रमिक विकास के कारण यह अपर वैराग्य को चार प्रकार के विभाजित करते हैं। जैसे :— 1. यतमान संज्ञा, 2. व्यतिरेक संज्ञा, 3. एकेन्द्रिय संज्ञा, 4. वंशीकार संज्ञा।

1. यतमान संज्ञा

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार वितृष्णाज्ञानपूर्वक वैराग्यसाधनों का अनुष्ठान करना, यह प्रथमभूमिक यतमान संज्ञा नामक अपर वैराग्य है। वाचस्पति के अनुसार राग आदि चित्त के मलरूप से स्वीकृत है। इनसे ही इन्द्रियाँ अपने—अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होती है। ये रागादि मल इन्द्रियों को अपने—अपने विषयों के प्रति उन्मुख न कर सके इस इच्छा से उन मलों के प्रक्षालन हेतु मैत्री आदि भावना का अनुष्ठान रूपक जो यत्न है, वह यतमान संज्ञक वैराग्य है। वस्तुतः प्राणिमात्र के प्रति विषयभोगों के परिणास्वरूप दुःख का ही अनुभव होता है। क्योंकि योगशास्त्रज्ञों ने कहा है कि विवेकी के लिए सब कुछ दुःख ही है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :—

"परिणामताप .... दुःखमेव सर्व विवेकिनः।" (यो0सू0, 1/2/15)

इस प्रकार जब राग—द्वेषादि निमित्तक दुःख उत्पन्न होता है तो उससे प्राणी का चित्त वितृष्णता को प्राप्त करता है। इसके कारण उसकी प्रवृत्ति धीरे—धीरे विषयों की ओर शिथिल होने लगती है। इस प्रकार दोषदर्शन पुरस्सर जब वैराग्य की दिशा में चलने के लिये प्रयत्न आरम्भ करता है। अपर वैराग्य के इस प्रथमस्तर को यतमान संज्ञा कहा जाता है।

2. व्यतिरेक संज्ञा

वैराग्य के मार्ग में अग्रसर प्राणी के चित्त में जब विषयों के प्रति प्रवृत्त रागादि क्षीणत्व को प्राप्त करते हैं, तब विषयों में बाह्येन्द्रियों की रागादिमूलक प्रवृत्ति नहीं रह पाती है। परन्तु वे व्युत्थान के कारण अपने बीज को स्वीकार कर कदाचित् पुनः उभरकर चित्त को व्यथित कर देता है। अतः उस समय साधक यह सोचता है कि इतनी इन्द्रियों तथा तत्तद् ग्राह्य विषयों के उपर जयलाभ प्राप्त कर लिया और अवशिष्टों के उपर जय करना है – इस प्रकार उसका भावना प्रवर्तित होती है। क्योंकि योगानुष्ठान के कारण इस समय चित्त के कुछ मल नष्ट हो जाने पर भी कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं। इस प्रकार विवेचन करते हुए साधकों से अवशिष्ट दोषों के शान्त होने के लिए जो प्रयत्न विशेष अनुष्ठित होता है, उसे व्यतिरेक संज्ञक अपर वैराग्य कहते हैं। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा –

"सा च जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतव्यादीनि व्यतिरेका–वधारणयोग्यता।" (यो0वा0, 1/15)

3. एकेन्द्रिय संज्ञा

इस प्रकार चित्त के रागादि मल बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त कराने में असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु अन्तरिन्द्रिय मन के सूक्ष्मरूप से विद्यमान होने के कारण विषयों की उपस्थिति होने पर चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। इसके प्रक्षालन निमित्त चित्त की जो भावना प्रवर्तित होता है उसे एकेन्द्रिय संज्ञा कहते हैं। अर्थात् वृत्तिनिरोध से चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के रूपादि विषयों के प्रति रागादि क्षय हो जाते हैं। उस समय केवल मन में मानापमानादि विषयक राग–द्वेष आदि का रागद्वेष के ज्ञान पूर्वक क्षय करना अवशिष्ट रहता है। एतन्निमित्त जो योग का अनुष्ठान किया जाता है उसे एकेन्द्रिय संज्ञा नामक तृतीय भूमिक अपर वैराग्य कह जाता है।

4. वशीकार संज्ञा

जब चित्त के रागादि मल पूर्वोक्त उपायों से नष्ट हो जाते हैं, तब किसी भी प्रकार के उन विषयों के प्रति चित्त की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस समय विषयों के प्रति आसक्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। इसी अवस्था को ही वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य कहते हैं। यह चतुर्थ भूमिक

अपर वैराग्य एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य की पराकाष्ठा भूमि है। यह विषय वैतृष्ण्य चित्त की विशुद्ध अवस्था है। इस समय अन्नपानादि इहलौकिक तथा आनुश्रविक स्वर्गादि अलौकिक विषयों के उपस्थित रहने पर भी इसमें उसके प्रति आसक्ति नहीं रहती है। वस्तुतः वैराग्य का उदय विषयसङ्गजन्य दोषज्ञानमात्र से नहीं होता है, अपितु प्रसंख्यानसमाधि के बल से उदित विवेकज्ञान के द्वारा विषयों में परिव्याप्त त्रिविध दुःख का साक्षात्कार होना यहाँ पर वास्तविक विषयों के प्रति वैतृष्ण्य का हेतु है।

योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने एक अन्य तथ्य उपस्थापन किया है। उनके अनुसार स्त्री, अन्नपानादि विषयों के साथ होने पर भी तद्विषयक दोषदर्शन से आसक्ति का उदय न होने के कारण वितृष्णा का प्रादुर्भाव होता है। इस दोषदर्शन से होने वाला वैतृष्ण्य तीन प्रकार का है। जैसे – यतमान संज्ञक, व्यतिरेक संज्ञक और एकेन्द्रिय संज्ञक वैतृष्ण्य। इन तीनों वैराग्यों का अभ्यास करते रहने से जब विषयसेवन काल में भी दोषदर्शन अबाधित रहता है, तब उस वैराग्य से दोषदर्शन का उदय होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान की अपेक्षा दोषसाक्षात्कार अधिक बलवान होता है। कहा भी है कि :–

"प्रसंख्यानबलात् दोषसाक्षात्कारस्य बलवत्त्वादिति।" (यो०वा०, 1/15)

अतः दोषदर्शन से वैराग्य का उदय होने के बाद वैराग्य से दोषदर्शन होना आवश्यक है। जिससे विषय समीप में रहते हुए भी चित्त की विषयोन्मुखता नहीं हो पाती है। इसके विपरीत दोषसाक्षात्काररूप सामर्थ्य का अभाव रहने के कारण पहले विरक्त हुए चित्त का विषय सान्निध्य से दोषदर्शन बाधित तथा पुनः रागादिदाषों की उत्पत्ति होती है। जैसे इस विषय पर किसी सौभरी ऋषि का उदाहरण श्रीविज्ञानभिक्षु ने दिखाया है। अतः राग तथा द्वेष से शून्य वशीकार संज्ञा वाली जो वितृष्णा है, वही अपर वैराग्य है।

योगवार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु इस प्रकार से तीनों वैतृष्ण्यों का प्रतिपादन कर आगे कहते हैं कि अब तन्त्रान्तरसिद्ध अपरवैराग्य के चार भेद प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जैसे :–

"तदेवमनेन सूत्रेण हेतुहेतुमद्भावरूपस्तन्त्रान्तरवैराग्यचतुष्टय-मेवोक्तम्।" (यो०वा०, 1/15)

पतञ्जलि ने भी अपर वैराग्य की उपर्युक्त समस्त विधाओं का वर्णन नहीं किया है। उनमें से केवल वशीकार संज्ञक वैराग्य का ही उल्लेख

किया है। परन्तु अपर वैराग्य के नामान्तर के रूप में वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य का ग्रहण किया है। जैसे :–

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।" (यो0सू0, 1/15)

अतः इससे यह भी सिद्ध होता है कि उपर्युक्त लक्षण अपर वैराग्य सामान्य लक्षण है। परन्तु अपर वैराग्य के अन्य तीनों वैराग्यों का वर्णन योग के समानतन्त्र सांख्यशास्त्र में प्राप्त होता है। अतः हम यह मान सकते हैं कि उपर्युक्त चारों भेद अपर वैराग्य के हैं, ऐसा पतञ्जलि को भी अभिमत था।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पतञ्जलि को उपर्युक्त सभी का अपर वैराग्य अभिमत था तब उन्होंने उनका स्वरूपनिर्वचन क्यों नहीं किया ? इसके समाधान में यह का जा सकता है कि पतञ्जलि का समाधिपाद में उत्तम अधिकारियों के लिए योगसाधन के उपायों को बतलाना था, जो कि पूर्व के जन्मों में बहिरङ्ग योग साधनोपाय की सफल साधना कर चुके रहते हैं। अतः वैराग्यसम्पन्न उत्तम साधक वर्त्तमान जीवन में अल्प प्रयास से ही अपर वैराग्य की उत्कृष्टावस्था वशीकार संज्ञा को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें अपर वैराग्य की यतमान आदि प्राथमिक अवस्थाओं को क्रमशः नहीं करना पड़ता है। अतः उत्तम अधिकारियों के लिए यतमानादि वैराग्यों के पूर्वसिद्ध होने के कारण उनकी आवश्यकता नहीं है। इसलिए पतञ्जलि ने उनका वर्णन में अपना अभिमत नहीं रखा।
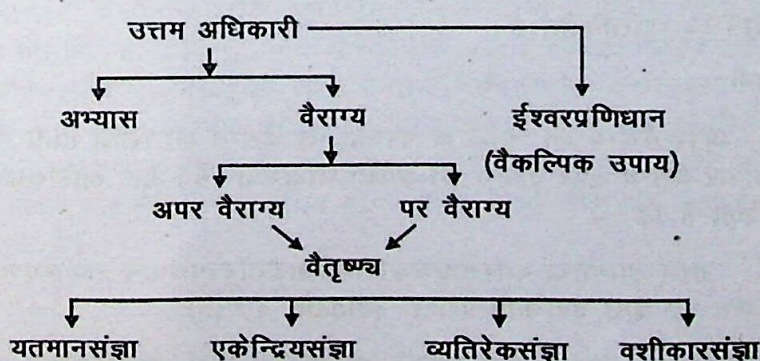
(परवैराग्य के स्वरूप)

अपरं वैराग्यमुक्तम्। परं वैराग्यमुच्यते। आत्मानात्मविवेकसाक्षात्काराद-नात्मत्वदृष्ट्या, ज्ञानफलस्य वाऽविद्यानिवृत्तेः सिद्ध्या, तत्त्वज्ञानपर्यन्तेषु सर्वदृश्येषु पूर्वोत्पन्नदोषदर्शनेनैव दोषान्तरदर्शननिरपेक्षेणालम्बुद्धिः परं वैराग्यम्। एतदनन्तरमेव मोक्षस्यावश्यकतयाऽस्य परत्वमिति।

अभ्यासवैराग्ये व्याख्याते। एतयोश्च मध्ये वैराग्येण विषय वृत्तिः कुण्ठीक्रियते, ध्येयगोचराभ्यासेन यद्धेयाकारवृत्तिप्रवाहो बलवान् दृढ क्रियत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति।

अनुवाद

अपर वैराग्य को कह दिया गया है। अब पर वैराग्य कहा जा रहा है। आत्म एवं अनात्म पदार्थों का विवेकसाक्षात्कार से अनात्मत्व दृष्टि के कारण अथवा विवेकज्ञान के फलस्वरूप अविद्या की निवृत्ति सिद्ध होने पर, तत्त्वज्ञान पर्यन्त, समस्त दृश्य पदार्थों में पहले उत्पन्न हुए दोषदर्शन से ही, अन्य दोषदर्शननिरपेक्ष जो (समस्त दृश्य पदार्थों का) अलं बुद्धि है, वह पर वैराग्य है। इसके पश्चात् ही मोक्ष की आवश्यकता होने से इसका परत्व है।

(इस प्रकार) अभ्यास और वैराग्य की व्याख्या कर दी गयी है। इन दोनों के मध्य में से वैराग्य के द्वारा विषयवृत्ति को क्षीण किया जाता है, तथा ध्येय को देखने का अभ्यास से जो ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह है, उसे बलपूर्वक दृढ़ किया है। अतः (अभ्यास और वैराग्य) दोनों के ही अधीन चित्तवृत्तिनिरोध है।

रजनी

अपर वैराग्य की सिद्धि के पश्चात् पर वैराग्य की सिद्धि हाती है। अतः पर वैराग्य अपंर वैराग्य की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। अतः वार्त्तिककार ने कहा है कि :-

"तथा चात्मद्वयान्यतरसाक्षात्काराभ्यासाद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेषु वैतृष्ण्यं परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः।" (यो0वा0, 1/16)

यह पर वैराग्य अलं प्रत्यय रूपक है। अलं प्रत्यय ज्ञान की पराकाष्ठा है। पर वैराग्य में ज्ञान की ही पराकाष्ठा प्राप्त होती है, क्योंकि कैवल्य को ज्ञानप्रसाद का नान्तरीयक कहा जाता है। ज्ञानप्रसाद

के उदित होने पर ही कैवल्य अवश्यम्भावी होता है। इसके विपरीत किसी अन्य प्रकार से जैसे ज्ञान, यम नियमादि कैवल्य प्राप्त होना निश्चित नहीं रहता है। और कथञ्चित् सम्भव होने पर भी असम्प्रज्ञात योग का उदय न होने से अत्यन्तभाव से प्राचीन कर्म का नाश नहीं हो पाता है, तथा चित्त में रागादि मल के विद्यमानता होने से मोक्ष में विलम्ब की सम्भवना रहती है।

यह अलं प्रत्यय तत्त्वज्ञान पर्यन्त समस्त दृश्य पदार्थों में पहले उत्पन्न हुए दोषदर्शन से उत्पन्न होता है, और भी यह अन्य दोषदर्शन–निरपेक्षात्मक है। वस्तुतः अपरवैराग्य की अवस्था में विषयदोषदर्शन से इहलौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रति ही वैराग्य का उदय होता है, न कि ज्ञान के प्रति भी वैतृष्ण्य उत्पन्न होता है। यद्यपि इस अवस्था में ज्ञान के प्रति विनाशित्व आदि दोषदर्शन विद्यमान रहता है तथापि उस समय ज्ञान के प्रति अलं प्रत्यय रूप वैराग्य का उदय सम्भव नहीं हो पाता। क्योंकि अपरवैराग्य की दशा में अविद्या की निवृत्ति करना ही प्रयोजन रहता है।

अविद्या ज्ञान की विरोधी तथा भावरूप है। क्योंकि योगशास्त्र में अभाव को स्वीकार नहीं किया जाता है। अतः अविद्या की निवृत्ति ज्ञानोदय के पश्चात् हो सकता है। यह विवेकात्मक ज्ञान आत्म एवं अनात्म पदार्थों का विवेकसाक्षात्कार के कारण अनात्मत्व की दृष्टि से अविद्या की निवृत्ति से सिद्ध होती है। अर्थात् जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तब पर वैराग्य की अवस्था में ज्ञान के प्रति विनाशित्व, अनात्मत्व आदि दोषदर्शन होने से योगी में समस्त ज्ञानों के प्रति वितृष्णा का उदय हो जाता है। जिसके कारण सम्प्रज्ञातयोगकालिक ध्येयाकारवृत्ति भी निरुद्ध हो जाने से सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग प्राप्त होता है। प्रारम्भिक अवस्था में असम्प्रज्ञात योग में सर्ववृत्तिनिरोध अस्थिर अवस्था में रहती है। पर वैराग्य का निरन्तर अभ्यास करते रहने के कारण यह वृत्तिनिरोध स्थिर हो जाती है। इस योग की पराकाष्ठा कैवल्य है।

(परिकर्म के स्वरूप तथा भेद)

इदानीमभ्यसस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते। परिकर्मशब्देन च स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते, "परिकर्माङ्गसंस्कारः" इति "प्रतिकर्म प्रसाधनम्" इति चानुशासनात्।

तत्र चित्तप्रसादमेकं परिकर्म। प्रसादश्च विषयकालुष्यराहित्यम्। प्रसादे च हेतवः सुखितेषु मैत्री, दुःखितेषु करुणा, पुण्यशीलेषु हर्षः, पापशीलेषूपेक्षा इत्येवमादयो रागद्वेषनिवर्त्तनोपायाः। तदुक्तं गीतायाम् :—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।" इति। (गीता, 2/64,65)

प्राणायामश्च चित्तप्रसादस्य द्वितीय उपाय इति।

परिकर्मान्तरं च विषयवती प्रवृत्तिः। विषया गन्धादयस्तन्मात्ररूपाः। अल्पेनाभ्यासयोगेन तत्साक्षात्कारो विषयवती प्रवृत्तिरुच्यते। तत्र नासाग्रे चित्तधारणयाऽल्पेनैव कालेन जायते या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। एवं जिह्वाग्रे रससंवित्, तालुनि रूपसंवित्, जिह्वायां मध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्दसंवित्, एतत् सर्वं शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम्। एतासां च प्रवृत्तीनां विवेकपर्यन्तयोगभूमिषु श्रद्धातिशयद्वारा चित्तस्थैर्यहेतुत्वम्। स्थैर्यसंस्कारद्वारा चैकस्य हि शास्त्रीयार्थस्य साक्षात्कारे सति सर्वत्रैव शास्त्रार्थे श्रद्धाबृद्ध्या स्थैर्यसंस्कारेण च चित्तस्थैर्यं युक्तमिति।

तृतीयं परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती। विगतः शोको यस्यामिति विशोका। यतश्च विशोका, अतो ज्योतिष्मती नाम्नी प्रवृत्तिश्चित्तस्थैर्यहेतुर्भवति। ज्योतिष्मती च द्विविधा प्रवृत्तिः बुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च। तयोश्च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विषयकप्रवृत्त्योर्ज्योतिष्मतीत्वम्। नन्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं चित्तस्थैर्यस्य किं प्रयोजनम्, अविद्यानिवृत्त्या कृतकृत्यत्वादिति चेन्न। जातेऽप्यात्मसाक्षात्कारेऽखिलसंस्कारदाहकासम्प्रज्ञातार्थिनः परवैराग्यार्थे सम्प्रज्ञातपरम्परया अपेक्षितत्वात् जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्मसाक्षात्कारार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति।

चतुर्थं तु परिकर्म विरक्तचित्तचिन्तनम्। यदा हि विरक्ते नारदादिचित्ते चित्तं समाधीयते तदा तद्वदेव ध्यातृचित्तमपि विरक्तं स्थिरस्वभावं भवति, यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीति।

पञ्चमं परिकर्म स्वप्ननिद्रान्यतरज्ञानचिन्तनम्। यदा हि जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरकत्वसाम्याद् भङ्गुरविषयकत्वसाम्याच्च, तदा तत्र विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति। एतदर्थमेव श्रुतिस्मृत्योः स्वप्नार्थेन

प्रपञ्चो रूप्यते "दीर्घस्वप्नमिमं बिद्धि" इत्यादिभिः। तथा यदा जाग्रत्पुरुषेषु सुषुप्तिदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्, निद्रादोषेणान्तराऽन्तरा स्वप्नदर्शन–वदन्तराऽन्तरैव जगद्दर्शनाच्च, तदा तेषां व्यवहारेषु विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति। तथा च स्मर्यते :–

"यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वमात्मनि पश्यति।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थिते।।"
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्।।"

इत्यादिकमिति।

षष्ठं परिकर्म यथाभिमतध्यानं स्वाभिलषितहरिहरमूर्त्यादौ ध्यानम्। चित्तस्य रूपादिरागात्तत्र स्थितस्यान्यत्रापि विवेकपर्यन्ते स्थितियोग्यता भवतीति।

एतानि परिकर्माण्युक्तानि। एतेषु चिन्तारूपाणां परिकर्मणामनुष्ठाने इच्छाविकल्प इति।

अनुवाद

अब अभ्यास के अन्तरङ्ग साधन परिकर्म आदि कहे जा रहे हैं। और परिकर्म शब्द से चित्त की स्थिति हेतु चित्त संस्कार कहा जाता है। क्योंकि परिकर्म अङ्ग का संस्कारविशेष है तथा परिकर्म मानसिक शुद्धि है ऐसा अनुशासन किया गया है।

इनमें से चित्तप्रसाद एक (प्रथम) परिकर्म है। और प्रसाद विषयों के कालुष्य से शून्य होना है। और प्रसाद में हेतु जैसे – सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा, पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति प्रीति तथा पापियों के प्रति उपेक्षा करना है। इस प्रकार ये सब राग द्वेष आदि के निवृत्ति के उपाय है। गीता में भी कहा गया है कि :–

"जो संयमी साधक राग तथा द्वेष से रहित, इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए विषयों का उपभोग करता है वह चित्त प्रसाद को प्राप्त करता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर साधक का सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले साधक की बुद्धि (सब ओर से हटकर एकमात्र परं ब्रह्म में ही) स्थिर हो जाती है।"

प्राणायाम चित्तप्रसाद का द्वितीय उपाय है।

अन्य (द्वितीय) परिकर्म विषयवती प्रवृत्ति है। विषय गन्ध आदि तन्मात्ररूप है। योग के स्वल्प अभ्यास से विषयों का साक्षात्कार कराने वाली वृत्ति विषयवती प्रवृत्ति कहलाती है। इनमें से नासाग्र पर चित्त की धारणादि करने से स्वल्प समय में ही जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, वह गन्धप्रवृत्ति है। इस प्रकार जिह्वाग्र पर (धारणादि करने से) दिव्य रस का साक्षात्कार, तालु पर (धारणादि करने से) दिव्य रूप का साक्षात्कार, जिह्वा के मध्यभाग में (धारणादि करने से) दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार, जिह्वा के मूल में (धारणादि करने से) दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। यह सब शास्त्र प्रमाण से निश्चित किया जाना चाहिए। और इन प्रवृत्तियों का विवेकज्ञान पर्यन्त योग की भूमियों में अतिशय श्रद्धा द्वारा चित्तस्थैर्य में कारण (के रूप से स्वीकृत) है। स्थैर्यसंस्कार के द्वारा एक भी शास्त्रीय पदार्थ का साक्षात्कार हो जाने पर हर जगह शास्त्रीय पदार्थों में श्रद्धा की बृद्धि हो जाने से और स्थैर्यसंस्कार से चित्त का स्थिर हो जाना युक्तियुक्त है।

तृतीय परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती है। (अथवा दुःखरहित प्रकाशरूपक ज्योतिष्मती नामक है।) जिस (विषय) में से शोक चला गया हो (वह विशोका कहलाती है)। चूँकि वह विशोका है, इसलिए ज्योतिष्मती नामक यह प्रवृत्ति चित्तस्थैर्य में हेतु होती है। यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है। जैसे :– बुद्धि का साक्षात्कार और विविक्तपुरुष का साक्षात्कार। इन दोनों में प्रकाश की अधिकता होने से तथा तद्विषयक प्रवृत्ति होने से (उपर्युक्त दोनों का) ज्योतिष्मतीत्व (सिद्ध होता) है। (अब यह प्रश्न है कि) आत्मसाक्षात्कार के बाद चित्तस्थैर्य का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि अविद्या के निवृत्त होने पर चित्त कृतकृत्य हो जाता है, (यदि ऐसा कहा जाए तो) यह उचित नहीं है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी अखिल संस्कारों का नाश करने वाली असम्प्रज्ञात योग को चाहनेवाले के लिए पर वैराग्य के प्रयोजन में सम्प्रज्ञात योग की परम्परा अपेक्षित है। और भी जीवात्मसाक्षात्कार के बाद भी परमात्मसाक्षात्कार को चाहने वाले के निमित्त परमात्मा योग की अपेक्षा रहती है।

चतुर्थ परिकर्म तो विरक्त हुआ चित्त का चिन्तन है। जब नारदादि के विरक्त हुआ चित्त पर ध्याता (अपने) चित्त को एकाग्र करता है तब उस (विरक्त चित्त) के समान ध्याता का चित्त भी विरक्त

होकर स्थिर स्वभाव वाला हो जाता है, जैसे कामुक (व्यक्ति विषयक) के चिन्तन से चित्त कामुक हो जाता है।

पञ्चम परिकर्म स्पप्न तथा निद्रा ज्ञान में से किसी एक ज्ञान का चिन्तन है। जब जाग्रत (कालिक) ज्ञान में ही पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करना और भङ्गुरविषयकत्व होना इन दोनों में साम्य होने से जो स्वप्न (कालिक) ज्ञान का दर्शन किया जाता है, तब वहाँ पर चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। इसलिए ही श्रुति और स्मृति दोनों में समग्र जगत् को स्वप्न के सदृश कहा गया है। जैसे – "इस (जगत्) को दीर्घस्वप्न की तरह जानो।" उसी प्रकार जब जाग्रत पुरुषों में सुषुप्ति के समान ज्ञान किया जाता है तब उनके व्यवहारों से विरक्त हुआ चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि दोनों में पदार्थों की वास्तविक स्वरूप आच्छादित कर देता है तथा निद्रा दोष के कारण बीच–बीच में स्वप्नदर्शन की तरह बीच–बीच में जगत् का दर्शन हो जाता है। और भी स्मृति में कहा गया है कि :–

"जिस प्रकार सुषुप्त पुरुष अपने में ही समस्त विश्व को देखता है तथा जग जाने पर अपने आपको एक देश में स्थित है इस प्रकारक मानता है (उसी प्रकार) माया मात्र को भली भाँति जानकर उसके द्रष्टा परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।" आदि।

षष्ठ परिकर्म यथाभिमत ध्यान है (और वह) अपने अभिलषित विष्णु, शिव आदि के मूर्त्ति में ध्यान है। चित्त का विष्णु, शिवादि रूपों में राग होने के कारण उसमें स्थित हो जाने से, अन्यविषयों में भी विवेक पर्यन्त स्थिति योग्यता हो जाती है।

ये परिकर्म बताए गये। इनमें चिन्तन स्वरूपक परिकर्मों के अनुष्ठान में इच्छा ही विकल्प है।

रजनी

अभ्यास और वैराग्य के मध्य अभ्यास के अन्तरङ्ग साधन परिकर्म है। यह परिकर्म क्या है ? इसका क्या लक्षण है ? इसके समाधान में भास्वतीकार कहते हैं कि – चित्त को परिष्कार करने वाला कर्म विशेष परिकर्म है। जैसे :–

"उक्तस्य चित्तस्य योगशास्त्रेण स्थित्यर्थं यदिदं परिकर्मपरिष्कृति–र्निर्दिश्यते ....।" (भास्वती, 1/33)

श्रीविज्ञानभिक्षु भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार परिकर्म चित्त की शुद्धि में तात्पर्य रखता है। और यह चित्तस्थैर्य में प्रमुख कारण है। अमरकोष में भी इसीका समर्थन किया गया है। जैसे :–

क0 परिकर्माङ्गसंस्कारः। (अमरकोष, 2/6/121)

उसके स्पष्टीकरण में सुधा व्याख्या में कहा गया है कि –

"पेति परि मलवर्जनार्था क्रिया परिकर्म स्नानोद्वर्त्तनादि "प्रतिकर्म इति क्वचित्पाठ" अङ्गं संस्क्रियतेऽनेन।" (सुधा, 2/6/121)

ख0 प्रतिकर्म प्रसाधनम्। अमरकोष, (2/6/99)

यहाँ पर कहीं कहीं प्रतिकर्म परिकर्म के रूप से स्वीकृत है, जैसा की हम उपर देखे। सुधा व्याख्या में कहा गया है कि :–

"प्रत्यङ्गं प्रतिख्यातं वा कर्म। शाकपार्थिवादिः। प्रसाध्यतेऽनेनाङ्गम्। करणे ल्यूट्। (सुधा, 2/66/99)

यह परिकर्म 6 प्रकार का है। जैसे :–

1. चित्तप्रसाद।
2. विषयवती प्रवृत्ति।
3. विशोका वा ज्योतिष्मती।
4. विरक्तचित्तचिन्तनम्।
5. स्वप्ननिद्राज्ञानान्यतरज्ञानचिन्तनम्।
6. यथाभिमतध्यान।

1. चित्तप्रसाद

यह चित्त का प्रसन्न होना है। प्रसाद शब्द से तात्पर्य चित्त का विषयों की कलुषता से शून्य होना है। योगशास्त्र में चित्तप्रसाद के दो उपाय बताए गये हैं। जैस – सुखादि अनुभव प्राप्त वालों में मैत्री आदि की भावना तथा प्राणायाम। इन दोनों में प्रथम उपाय के स्पष्टीकरण में सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना–तश्चित्त–प्रसादनम्।" (यो0सू0, 1/33)

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यशील और पापशील पुरुषों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न हो जाता है। वस्तुतः इस लौकिक संसार में सुखी, दुःखी, अच्छा, बुरा आदि हर तरह के प्राणी होते हैं। इन व्यक्तियों का अपने स्वभाव के अनुकूल राग, द्वेष आदि चित्त में उत्पन्न होता है। जिसके कारण लोभ, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार लोभ, क्रोध आदि स्वभाव वाले अपरिष्कृत चित्त को समाधि तथा उसका साधनभूत यौगिक सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता है। अतः इसके निवारण हेतु इन भावादि के प्रतिपक्षों की भावना का विधान बताया गया है। जैसे सुख का आनन्दपूर्वक भोग करने वाले प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना करना चाहिए। दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का प्रदर्शन करना चाहिए। पुण्यशील प्राणियों के प्रति मुदिता तथा पापी प्राणियों के प्रति उपेक्षा की भावना करना चाहिए। इस प्रकार भावना करने पर साधक का सात्त्विक धर्म उदय होता है। जिसके कारण चित्त प्रसन्नता को प्राप्त करता है। और प्रसन्न हुआ चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है।

चित्तप्रसाद का द्वितीय उपाय प्राणायाम है। प्राणायाम से चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है। अतः पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।" (यो0सू0 1/34)

अर्थात् प्राण का प्रच्छर्दन और विधारण करने से भी चित्त स्थिर होता है। प्राणवायु का शरीर के अन्दर से किसी एक नासापुट से प्रयत्न विशेष के साथ बाहर करना प्रच्छर्दन कहलाता है। तथा उस प्राणवायु को संयत करके रखना विधारण कहलाता है। यहाँ पर प्रयत्न विशेष से योगशास्त्र में वर्णित पद्धति का ही ग्रहण है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रच्छर्दन रेचन तथा विधारण कुम्भक है। क्योंकि पूरण क्रिया के पश्चात् कुम्भक क्रिया होती है। और भी रेचन क्रिया के अनन्तर पूरक किये बिना ही प्राणवायु का विधारण क्रिया भी सम्भव नहीं हो सकता है। परन्तु स्मृतिशास्त्रों में तीन प्रकार के प्राणायाम स्वीकृत है। जैसे – रेचक, पूरक और कुम्भक। योगी याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि :–

"प्राणायामश्च विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकाः।" (याज्ञ0, 6/2)

परन्तु यहाँ पर प्रतीत होता है कि सूत्रकार को केवल दो प्रकार के प्राणायामों का निर्वचन ही विवक्षित है।

यहाँ पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जब अधम अधिकारी के लिए उद्दिष्ट साधनों में से प्राणायाम का निर्वचन किया जाना है, तो फिर इसमें क्यों किया गया है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारी के योगसाधन के रूप से यमादिनिरपेक्ष प्राणायाम ही उपदिष्ट हुआ है और यमादि अष्टाङ्गों में वर्णित प्राणायाम अधम अधिकारी के लिए उपदिष्ट है। यही इनमें भेद है। उत्तम अधिकारी केवल दो प्रकार के प्राणायाम से ही रागादि मलों के प्रक्षालन पूर्वक चित्त को स्थिर कर सकते हैं। अतः दोनों में कोई दोष नहीं है।

2. विषयवती प्रवृत्ति

विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि तन्मात्ररूप है। योग के स्वल्प अभ्यास से ही इन विषयों का साक्षात्कार कराने वाली वृत्ति विषयवती प्रवृत्ति कहलाती है। अर्थात् चित्त के जो साक्षात्कार होता है, वह दिव्य गन्धादि पाँच इसके विषयत्व के रूप से होते हैं। अतः इसे विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु जी ने वार्त्तिक में कहा है कि :–

"विषयाः गन्धादयः पञ्च विषयत्वेनास्य सन्तीति।" (यो0वा0, 1/35)

यह विषयवती प्रवृत्ति अपने अविषयीभूत विवेकपर्यन्त पदार्थों में भी श्रद्धादि को उत्पन्न करने में बाधक न होने के कारण स्थिति सम्पादिका होती है। यह विषयवती प्रवृत्ति पाँच प्रकार से है। जैसे – गन्धप्रवृत्ति, रसप्रवृत्ति, रूपप्रवृत्ति, स्पर्शप्रवृत्ति और शब्दप्रवृत्ति है। ये सब योगशास्त्रानुमोदित पारिभाषिक शब्दस्वरूप है। इनमें से नासिकाग्र में धारणा करने वाले योगी को स्वल्प काल में ही जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, उसे गन्धप्रवृत्ति कहते हैं। उसी प्रकार जिह्वाग्र में धारणा करने वाले योगी स्वल्प अवधि में ही जो दिव्य रस का साक्षात्कार होता है उसे रसप्रवृत्ति कहा जाता है। तालु में धारणा करने वाले योगी को जो स्वल्प काल में ही साक्षात्कार होता है उसे रूपप्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के मध्य में धारणा करने से योगी को अत्यल्प काल में ही जो दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है उसे स्पर्शप्रवृत्ति कहते हैं। और जिह्वामूल में धारणा करने से योगी को स्वल्प अभ्यास से ही जो शब्द का साक्षात्कार होता है उसे शब्दप्रवृत्ति कहते हैं।

वस्तुतः यहाँ पर धारणादि योगानुष्ठान के स्थान के विषय में शङ्का उत्पन्न होती है। क्योंकि दर्शनान्तरों में रूपादिविषयों के

साक्षात्कार का स्थान उपर्युक्त निर्दिष्ट स्थानों से भिन्न रूप से प्रतिपादित है। पुनः चाहे व्यास हो अथवा वार्त्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु हो, दोनों ही तत्तत्स्थानों का निर्देश करने के पश्चात् शास्त्रप्रमाण से निश्चय करने के लिए कहा है। यह शास्त्र कौन है ? जिनसे हम इनका स्थान का निश्चय करें। यदि उनसे प्रतिपादित ताल्वादि स्थल उपयुक्त है तो शास्त्रान्तर प्रमाण की आवश्यकता क्या है? क्योंकि वह स्वयं ही प्रामाणिक शास्त्र है।

इस विषय पर हरिहरानन्द आरण्यक जी का कथन उचित प्रतीत होता है। भाष्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि :–

"तालु के ऊपर ही आक्षिक स्नायु है। जिह्वा में स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुट भाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के सम्बन्ध से कान के साथ सम्बन्ध है। अतः इन स्थानों पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्मशक्ति प्रकट होती है। चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण कर नेत्र मुद्रित करने पर भी यथावत् उनके रूपों का ज्ञान होता रहता है। उन्हीं का ध्यान करते–करते उन्हीं रूपों से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती है। ये भी विषयवती है, क्योंकि ये रूपादि के अन्तर्गत है।"

(भाष्यटीका, 1/35)

इन गन्धादि प्रवृत्तियों का विवेकज्ञान पर्यन्त योग की भूमियों में अतिशय श्रद्धा द्वारा चित्तस्थैर्य में कारण के रूप से स्वीकृत है। इनमें से स्थैर्यसंस्कार के द्वारा किसी एक शास्त्रीय पदार्थ का भी साक्षात्कार हो जाने पर अन्य प्रवृत्तियों का भी सिद्धि स्वतः हो जाती है। इस प्रकार श्रद्धातिशय प्राप्त होने पर स्थैर्यसंस्कार से चित्त का स्थिर हो जाना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

3. विशोका ज्योतिष्मती वा

यह अभ्यास के तृतीय परिकर्माङ्ग है। यह दुःखरहित प्रकाशरूपक ज्योतिष्मती नामक परिकर्म है। इसके कारण चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। यह विशोका है क्योंकि इसमें से शोक चला गया है। यह हेतुगर्भविशेषणभूत पद है। अतः शोकरहित होने के कारण यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति चित्तस्थैर्य में हेतु है। इस ज्योतिष्मती के विवरण में आरण्यक जी ने कहा है कि – परम सुखमय सात्त्विक भाव अभ्यस्त होने पर उसके द्वारा चित्त अवसिक्त रहता है, अतः इसका

नाम विशोका है, और सात्त्विक प्रकाश या ज्ञानालोक के आधिक्य के कारण इसका नाम ज्योतिष्मती है, यहाँ ज्योतिः तेजस् नहीं है, किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट विषय का प्रकाशकारक ज्ञानालोक है। भाष्यकार ने भी इस प्रवृत्ति को प्रवृत्त्यालोक कहा है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने वार्त्तिक में ज्योतिष्मती की व्याख्या करते हुए कहा है कि :-

"बुद्धिरूपं सत्त्वं भास्वरं स्वपरप्रकाशकं तेजोवद् आकाशवद्विभु च भवति, तत्र बुद्धौ स्थितिवैशारद्याद् निर्मलैकाग्र्याद् बुद्धिप्रवृत्तिः सूर्यादिप्रभा-सदृशाकारेण विकल्पते विशेषेणोत्पद्यत इत्यर्थः। अतः विषयस्य ज्योतिष्मत्त्वे विषयिणी प्रवृत्तिरपि ज्योतिष्मतीति।" (यो0वा0, 1/36)

अर्थात् बुद्धिरूप तेजो गुण की भाँति स्वयं अपने तथा दूसरे को प्रकाशित करने वाला तथा आकाश की तरह व्यापक परिमाण वाला है, ऐसी बुद्धि में एकाग्रता स्थापित होने से बुद्धिविषयिणी प्रकृष्टा वृत्ति सूर्यादि की प्रभा के सदृश विशेष आकार के साथ विकल्पित होती है। इस प्रकार बुद्धिरूप विषय के ज्योतिर्मयत्व होने के कारण तद्विषयिणि प्रवृत्ति को भी ज्योतिष्मती कहा जाता है।

यह विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है। जैसे :- बुद्धिसाक्षात्कार और विविक्तपुरुषसाक्षात्कार है। अब इस प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाया जा सकता है कि - जब आत्मसाक्षात्कार निष्पन्न हो गया तब उसके बाद चित्तस्थैर्य में क्या प्रयोजन रह जाता है ? क्योंकि आत्मसाक्षात्कार अविद्या निवृत्ति के अनन्तर प्राप्त होता है तथा अविद्या के निवृत्ति होने पर चित्त कृतकृत्य हो जाता है। चित्त की कृतकृत्यता के बाद पुनः चित्तस्थैर्य की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि चित्त तो स्थितिपद को पहले ही प्राप्त कर लिया है।

इस के समाधान में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त प्रश्न निराधार है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी अखिलसंस्कारों का नाश करने वाली असम्प्रज्ञात योग को चाहने वाले के लिए परवैराग्य के प्रयोजन में सम्प्रज्ञात योग की परम्परा अपेक्षित है। और भी जीवात्मसाक्षात्कार के अनन्तर भी परमात्म साक्षात्कार को चाहने वाले के निमित्त परमात्मा योग की अपेक्षा रहती है। अतः वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :-

"कृतात्मसाक्षात्काराणामपि ज्ञाननिष्ठया परवैराग्यार्थमभ्यासा-पेक्षणात्।" (यो0वा0, 1/36)

4. विरक्तचित्तचिन्तनम्

संसारिक विषयों से विरक्त हुआ चित्त का चिन्तन करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"वीतरागविषयं वा चित्तम्" (यो0सू0. 1/37)

अर्थात् रागशून्य नारदादि योगियों के चित्त को आलम्बन करते हुए, जब तद्विषयक धारणा योगी करता है, तब उस तदाकारता को प्राप्त योगी का चित्त भी इस सांसारिक विषयों से विरक्त होता हुआ स्थिति पद को प्राप्त कर जाता है। जिस प्रकार का चित्त नारदादि का है, उनका धारणा से योगी का चित्त भी उसी प्रकार का हो जाता है। जैसे लोक में भी देखा जाता है कि जब मनुष्य किसी विशेष चिन्तन बारम्बार करता है तो वह उसी प्रकार का स्वाभाविक आचरण करने लगता है। जैसे कामुकविषय के चिन्तन से चित्त कामुक हो जाता है।

5. स्वप्ननिद्राज्ञानान्यतरज्ञानचिन्तनम् :–

स्वप्न की अवस्था में ज्ञात विषय अथवा निद्रा की अवस्था में ज्ञात विषय, इन दोनों में से किसी एक विषयक ज्ञान का चिन्तन करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। इसी को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा" (यो0सू0. 1/38)

अर्थात् जब जाग्रत कालिक ज्ञान में ही पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करना और भङ्गुरविषयकत्व होना इन दोनों में साम्य होने से जो स्वप्नकालिक ज्ञान का दर्शन किया जाता है, उसको आलम्बन के रूप से स्वीकार करने सें, वहाँ पर चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। अतः स्मृति और श्रुति दोनों में समस्त जगत् को स्वप्न के सदृश कहा गया है। इसी प्रकार जब जाग्रत पुरुषों में सुषुप्ति के समान ज्ञान किया जाता है, तब उनके व्यवहारों से विरक्त हुआ चित्त स्थिर हो जाता है। क्योंकि दोनों में पदार्थों की वास्तविक स्वरूप आच्छादित कर देता है तथा निद्रा दोष के कारण बीच–बीच में स्वप्नदर्शन की भाँति जगत् का भी दर्शन हो जाता है।

इस प्रसङ्ग पर आरण्यक जी कहते हैं कि – स्वप्न में बाह्यज्ञान रुद्ध होता है, किन्तु मानस भाव–समूह का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था

में बाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषय तमस् से अभिभूत हो जाते हैं और केवल जड़ता का अस्फुट–अनुभव रह जाता है। बाह्य तथा मानस रुद्ध–भाव का आलम्बन करके उसका ध्यान करना निद्राज्ञानालम्बन है।

6. यथाभिमतध्यान

योगी का जो अभीष्ट हो, उस विषय का ध्यान करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। अतः सूत्रकार ने भी कहा है कि :–

"यथाभिमतध्यानाद्वा" (यो0सू0, 1/39)

अर्थात् योगी को जो भी अभिमत हो, उसके ध्यान से चित्तस्थैर्य होता है। अभिप्राय यह है कि चाहे कोई भी स्वरूप हो, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, गुरु, माता, पिता आदि इनमें से जो भी अभीष्ट हो उसका ध्यान करना चाहिए। क्योंकि अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी ध्येय तत्त्व का ध्यान करने से एकाग्रता को प्राप्त हुआ चित्त विवेकज्ञानपर्यन्त अन्य सूक्ष्म पदार्थों में भी अन्य उपाय की अपेक्षा किये बिना ही स्थितिपद को प्राप्त कर जाता है। हमारे मत में यह अन्तिम परिकर्म ही अन्य परिकर्मों से श्रेयस्कर है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। इनके अनुष्ठान में स्वकीय इच्छा ही निमित्त हैं।
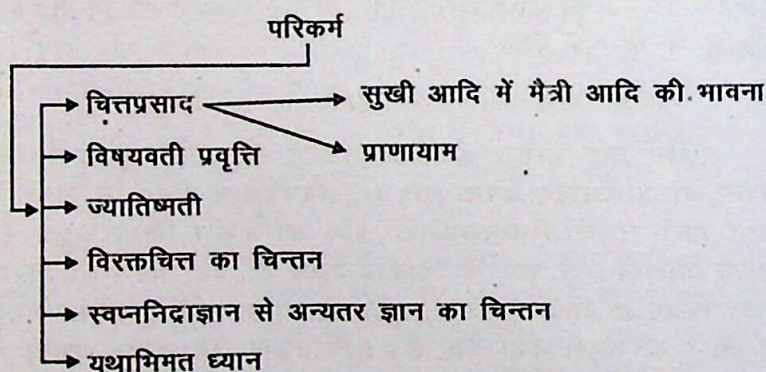
तदेवं योगद्वयसाधारणं साधनमभ्यासवैराग्याख्यमुक्तमभ्यासस्य च साधनं परिकर्मोक्तम्। तत्रायमवान्तरविभागो ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूप–षड्विंशतितत्त्वाभ्यासो वशीकाराख्यमपरं वैराग्यं च सम्प्रज्ञातयोगसाधनम्। अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा। असम्प्रज्ञाते तु परवैराग्यमेव साक्षात्कारणम्। वैराग्यरूपस्यैव ज्ञानस्याभ्यासस्तु वैराग्यनिष्पत्तिद्वारा कारणम्। परवैराग्यं

च निष्पन्नतया विवेकख्यातावपि दुःखात्मिकायामलम्बुद्धिरित्युक्तम्। सालम्बनस्त्वभ्यासो विवेकसाक्षात्कारद्वारैवासम्प्रज्ञातकारणं न साक्षादिति दिक्। इत्युत्तमाधिकारिणो योगसाधननिरुपणम्।

अनुवाद

वह इस प्रकार से दोनों प्रकार के योग के सामान्य साधन, अभ्यास तथा वैराग्य के नाम से कह दिया गया और अभ्यास का साधन परिकर्म को भी बताया गया। इन में अवान्तरविभाग जैसे ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य रूप छब्बीस तत्त्वों का अभ्यास एवं वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य, जो कि सम्प्रज्ञात योग के साधन है, (उनको भी) कहा गया। और भी (इस प्रसङ्ग में) वैराग्य वृत्तिनिरोध का साक्षात् कारण है, परन्तु अभ्यास समाधि रूप अङ्ग के द्वारा कारण (के रूप से स्वीकृत) है। असम्प्रज्ञात योग में तो परवैराग्य ही साक्षात् कारण है। (और) वैराग्य रूपी ज्ञान का अभ्यास ही वैराग्य की निष्पत्ति द्वारा (विवेकख्याति) का कारण है। और परवैरग्य निष्पन्न हो जाने के कारण विवेकख्याति में भी दुःखात्मिका अलं बुद्धि (का उदय होता है) ऐसा कहा गया है, सालम्बन अभ्यास तो विवेकसाक्षात्कार के द्वारा ही असम्प्रज्ञात योग का कारण है, न कि साक्षात्। इस प्रकार से उत्तम अधिकारी के योग साधनों का निरुपण कर दिया गया।

रजनी

यद्यपि सम्प्रज्ञात योग के अनन्तर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है तथापि सम्प्रज्ञात योग असम्प्रज्ञात योग का साक्षात्साधन नहीं है। वस्तुतः सम्प्रज्ञात योग जन्य प्रख्या विवेकख्याति के उदय के पश्चात् परवैराग्य का उदय होता है। तथा परवैराग्य पुरस्सर ही असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग असम्प्रज्ञात योग के साक्षात्साधक न होकर परम्परा से कारण है। इस परवैराग्य में दुःखात्मिका अलं बुद्धि होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि योगशास्त्र में विवेकी के लिए सब कुछ दुःख ही है, ऐसा कहा गया है। जैसे :–

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःख सर्व विवेकिनः।"
(यो0सू0. 1/)

सम्प्रज्ञात योग को सालम्बन योग कहने से, उसमें किसी ध्येय वस्तु का आलम्बन के रूप से स्वीकृत होने से, वहाँ पर वृत्तियों का

व्यापार निष्पन्न होता है। जिससे कि वृत्तियों के व्यापार का पूर्णनिरोध असम्भव हो जाता है। इसके फलस्वरूप कैवल्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न हो जाता है। अतः सम्प्रज्ञात योग जन्य प्रज्ञा रूपी विवेकख्याति से परवैराग्य उत्पन्न होता है। यह दुःखात्मिका अलं प्रत्यय है। असम्प्रज्ञात योग में इस अलं प्रत्यय रूपी प्रज्ञा का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। इस परवैराग्य से असम्प्रज्ञात योग जो कि निरालम्बन निर्बीज योग है, उसका उदय होता है। जिसके समनन्तर योगी को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। अतः असम्प्रज्ञात योग में परवैराग्य ही साक्षात्कारण है।

(क्रियायोग)

अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं योगसाधनं निरुप्यते। तस्य च क्रियायोगो मुख्यतः साधनम्। अभ्यास–वैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्। प्रकृष्टक्रियायोगश्च तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। तत्र तपः शास्त्रोक्तव्रतेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम्। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवादिजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं त्वत्र परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं तत्फलसंन्यासो वा, भाष्यकारैस्तथा व्याख्यातत्वादिति। अर्पणशब्दार्थश्च स्मृतिषूक्तः। यथा :–

"ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्किञ्चित्कुरुते नरः।
तत्सर्वं भगवानेव कुरुते योगमायया।।

नाहं कर्त्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।।"

इत्यादिना कर्मफलार्पणं च कर्मफलानां परमेश्वरो भोक्तेति चिन्तनम्। "ऋतं पिबन्तौ" इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्यापि भोगसिद्धेः, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (बृ0 3) इति श्रुत्या चाभिमानपूर्वकस्य मुख्यभोगस्यैव परमेश्वरे प्रतिषेधात्। यदेव जीवान्कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति, तदेव परमेश्वरस्य कर्मफलभोगः। यथार्थिभ्यो धनान् प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत्। न तु साक्षादेव कर्मफलं स्वर्गनरकादिकमीश्वरो भुङ्क्ते, श्रुतिस्मृतिविरोधात्। यद्यपीश्वरस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव, तथाऽपि जीवानां कर्मफलप्रदानेनाभिव्यक्ततया ह्यैश्वर्यानुगतानन्दभोगस्योत्पत्तिरौपचारिकी सिसृक्षोत्पत्तिवदिति। क्रियायां च योगशब्दो योगसाधनत्वाद्भक्तिज्ञानयोरिव गौणः।

अनुवाद

अब युञ्जान संज्ञक वानप्रस्थादि मध्यम अधिकारी के उत्कृष्ट क्रियायोगरूपक योगसाधन का निरुपण कर रहे हैं। और उस (मध्यम अधिकारी) का क्रियायोग प्रमुख साधन है। परन्तु अभ्यास तथा वैराग्यादि का भी यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिए। और (वह) प्रकृष्ट क्रियायोग – तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान है। उनमें से तपः शास्त्रोक्त व्रत (के अनुष्ठान) से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना है। स्वध्याय मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणवादि जप है। ईश्वरप्रणिधान तो यहाँ पर परमगुरु में समस्त कर्मों को अर्पण कर देना अथवा उन (कर्मों) के फल से अनासक्त होना है, क्योंकि भाष्यकार के द्वारा इस प्रकार से (इसकी) व्याख्या की गयी है और अर्पणशब्द स्मृतियों में कहा गया है कि :–

"मनुष्य जानकर अथवा अनजान से जो कुछ भी करता है, वह सब भगवान् योगमाया के द्वारा करता है। ऋषियों से, तथा तत्त्वदर्शियों के द्वारा, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, यह सब ब्रह्म के द्वारा ही किया गया है, इस प्रकार से यह ब्रह्मार्पण है ऐसा कहा गया है।"

और (कर्म फलार्पण) कर्मों के फलों का भोक्ता परमेश्वर है, इस प्रकार से चिन्तन करना कर्मफल है। "ऋतं पिवन्तौ" इत्यादि श्रुतियों से भी परमेश्वर का भोग सिद्ध होता है। और भी "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इस श्रुति से अभिमानपूर्वक मुख्य भोग का ही परमेश्वर में प्रतिषेध किया गया है। जो जीवों को कर्मफलों का उपभोग कराता हुआ परमेश्वर को प्रसन्न करना है, वही परमेश्वर का कर्मफलभोग है। जिस प्रकार याचकों को दान देता हुआ दाता उस धन का भोक्ता होता है, उसी प्रकार। परन्तु श्रुति तथा स्मृति विरोध होने से साक्षात् ही स्वर्ग, नरक आदि रूप कर्मफलों को ईश्वर नहीं भोगता है। यद्यपि ईश्वर का नित्य आनन्द का भोग नित्य ही है, तथापि जीवों के कर्मफलप्रदान से अभिव्यक्तरूप से जो ऐश्वर्यानुगत आनन्दभोग की उत्पत्ति है, वह सृष्टि करने की इच्छा की उत्पत्ति की तरह औपचारिक ही है। क्रियायोग में जो योग शब्द है वह योग का साधन होने से ज्ञानयोग तथा भक्तियोग आदि की तरह गौण है।

रजनी

युञ्जान संज्ञक मध्यम अधिकारी के लिए उत्कृष्ट क्रियायोग का निर्देश किया गया है। क्रिया चासौ योगश्चेति क्रियायोगः – इस कर्मधारय समास के अनुसार योग के उपाय होने से तपस् आदि क्रियाएँ क्रियायोग कही जाती है। ईश्वरप्रणिधानरूप भक्तियोग भी इसमें गृहीत है। श्रीमद्भागवत् में तीन प्रकार के योग कहे गये हैं। जैसे कि :–

"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता भक्तिज्ञानक्रियाऽत्मका।"

इस प्रकार से भागवत के अनुसार भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा क्रियास्वरूपक योग तीन योग ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने तपस् से क्रिया का, स्वध्याय से ज्ञान का तथा ईश्वरप्रणिधान से भक्ति का ग्रहण कर उनको एक मध्यम अधिकारी हेतु क्रियायोग रूप से निर्देश दिया। यद्यपि यम, नियमादि को भी क्रियायोग के रूप में स्वीकार कर सकते हैं तथापि प्रायशः पतञ्जलि ने मध्यम अधिकारी के रूप में उनका निर्देश नहीं किया है।

अतः वह क्रियायोग तपः, स्वध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान है। इनमें से तपस् प्रथम है।

तपस्

अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि अनादि कर्म, क्लेश तथा वासना से आपूरित तथा विषयजाल को उपस्थित कराने वाली अशुद्धि तपस् के बिना तनुत्व को प्राप्त नहीं होते है। अतः योगी को तपस् का अनुष्ठान करना चाहिए। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि :–

"अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धि–र्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस् उपादानम्।" (व्या0भा0, 2/1)

यह तपस् शास्त्रों में कहे गये व्रतों के अनुष्ठान से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करना है। ये व्रत जैसे चान्द्रायण, सान्तपन आदि है। अनादि अविद्यादि क्लेश, उन क्लेशजन्य शुभाशुभ कर्म तथा शुभाशुभ कर्मजन्य शुभाशुभ फल, उन कर्मफल जन्य संस्कारों से चित्रित होने से पापात्मिका अशुद्धि विषयजाल को सतत प्रसूत कराती है। जिससे योगसिद्धि में प्रतिबन्धक उपस्थित हो जाता है। इस तपस् के अनुष्ठान से यह अशुद्धि तनुत्व को प्राप्त कर जाता है। जिससे योगी योगसिद्ध बन

जाता है। इस तपस् का चैतिक प्रसन्नता को क्षति न पहुँचाते हुए मृदुतापूर्वक शनैः शनैः अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि अपनी सामर्थ्य से अधिक करने से योगी का शरीर रुग्णता को प्राप्त कर सकता है। जिसके कारण योगानुष्ठान में उसको बाधा उपस्थित हो जाएगा।

स्वाध्याय

प्रणव आदि पवित्र पापक्षय हेतुरूपक मन्त्रों का जप तथा मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहा जाता है। प्रणव का जप योगी को करना चाहिए। प्राचीन कौलतन्त्रों से यह भी सूचित होता है कि प्रणव पूर्वक मन्त्रों का उच्चारण ही फलदायी होता है। बिना प्रणव के मन्त्रों में मन्त्रत्व नहीं रहता है। इसलिए प्रायशः मन्त्रों के आदिमें प्रणव को स्वीकार कियाा गया है। प्राणायाम की विधा में जैसे भ्रामरी आदि प्राणायाम में प्रणव जप का विधान किया गया है। जप मुख्यतः तीन प्रकार का होता है। जैसे – वाचिक, उपांशु तथा मानस। हमारे गुरुदेव पाँच प्रकार के जप का कथन करते हैं। जैसे – अन्तःस्थ, बाह्यस्थ, अस्थिगत, शून्यस्थ तथा उपांशु।

यहाँ पर प्रणवादि पद में आदि पद से अन्य मन्त्र स्वीकृत हैं। जैसे भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय तत्तत् उपास्य देवता के मन्त्रजप का विधान करता है। स्वकीय गुरु से प्राप्त मन्त्रजप का विधान भी प्राप्त होता है। कुण्डलिनी साधक के लिए प्रायशः योगसम्प्रदाय में भगवती त्रिपुरा के मन्त्रजप का विधान किया जाता है। इनके जप से चित्त में वृत्तियों का निरोध हो जाना अभिप्रेत है।

ईश्वर प्रणिधान

समस्त कर्मों का तथा उन कर्मजन्य फलों को भी परमगुरु में अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है। यहाँ पर फलसंन्यास पद में आया हुआ सन्यास पद त्याग अर्थ को द्योतित नहीं करता है, ऐसा हमारा अभिमत है। क्योंकि सम्यक् न्यासः सन्यासः – इस व्युत्पत्ति के आधार पर सम्यक् न्यास करना ही सन्यास पद से वाच्य है। न्यास का तात्पर्य सत्त्वपूर्वक रक्षण है। अर्थात् योगी से जो भी कर्म अनुष्ठित होता है चाहे वह शुभकर्म हो अथवा अशुभकर्म हो उनका परमेश्वर के पास यथास्थिति रखना तथा कार्यातिपात में उसका ग्रहण करना है। क्योंकि किसी भी प्रकार के कर्म हो, यदि कर्म

अनुष्ठित हो रहा है, तो फल अवश्य है और फल है तो संस्कार अवश्यम्भावी है। उससे भव-भवान्तर की प्राप्ति होनी ही है। हमें यहाँ पर यह शङ्का होती है कि कर्मों के फलों का भोक्ता ईश्वर तथा हम केवल कर्म करने वाले हैं तो यह कुछ उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि यदि हम कर्म करते हैं तो भोक्ता भी हम ही बनेंगे। और भव-भवान्तर की प्राप्ति हमारे ही होते रहेंगे। उससे बन्धन की प्राप्ति सतत होती रहेगी। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर की प्राप्ति कर्मजन्य फल से होती है। उससे निवृत्ति हेतु कर्म का त्याग आवश्यक है। जिससे कि कैवल्य की प्राप्ति हो सके। तथा पहले भी हमने देखा कि जब पुरुष अपने स्वरूप में रहता है तब कैवल्याधिगम होता है। पुरुष का अपना स्वरूप द्रष्टा, ज्ञ, औदासीन्य तथा केवली आदि होना है। यदि हमें अपने स्वरूप में रहना है तो कर्म का त्याग तो करना ही पड़ेगा। यदि हम यह कहें कि कर्म हम करे तथा उसका भोक्ता ईश्वर हो यह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि कर्म करने वाले को ही फलभोग करना पड़ता है। यदि यह कहा जाए कि इस अकर्मागति से संसार कर्महीनता से ग्रसीत हो जाएगा, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि हमें कैवल्य चाहिए, जो कि केवली भाव है। केवलीभाव तो असङ्ग, अकर्म आदि को प्रदर्शित करता है। यह भी एक अनुभव है कि बुरे कर्म हम करें और उसके फल को भोगने के लिए ईश्वर को अधिगृहीत करें यह बड़ी ही हास्यास्पद लगता है। अतः ईश्वर में समस्त कर्मों का तथा तज्जन्यफलों को अर्पित करना, और ईश्वर के द्वारा उन कर्मफलजन्य भोगों का भोग करते हुए कर्म से रहित हो जाना ही समासतः ईश्वरप्रणिधान से कह सकते हैं। क्योंकि कहा गया है कि:-

"कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्।।" (गीता,)

(क्रियायोग के फल तथा क्लेश)

तस्य च क्रियायोगस्य योगवत्क्लेशतनूकरणमपि फलं भवति, "समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च" इति सूत्रात्। तत्र च समाधि-शब्दोऽङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगद्वयवाची। तत्र योगद्वयं प्रागेव व्याख्यातम्।

क्लेशतनूकरणं तु सफलं व्याख्यायते। तत्र दुःखाख्य-क्लेशनिदानत्वात्क्लेशाः पञ्च अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। आत्मानात्म-

नोर्धर्मतः स्वरूपतश्चात्यन्तमभेदभ्रमोऽस्मिता। अविद्या तु भेदाभेदं सहत इति विशेषः। रागद्वेषौ च प्रसिद्धावेव। अभिनिवेशस्तु मरणादिभयम्। एतेषामुत्तरोत्तरेषु पूर्वं पूर्वं कारणम्। अतोऽविद्या सर्वक्लेशानां मूलत्वात्क्षेत्र–मुच्यते। अविद्यासत्त्व एवैते भवन्ति, अविद्यानाशाच्चैतेषां नाश इति।

एते च क्लेशाः व्याध्यादिवच्चित्तविक्षेपकत्वाद्योगस्यापि विरोधिनः। एतेषां तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता। तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलं भवति क्रियायोगेन हि चित्तशुद्धिः क्रियते। ततश्चाधर्मा–ख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तनुता भवति। तथाऽभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगः स्वनिष्पत्तये क्लेशतानवमपि सम्पादयतीति। एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वारा फलं बोध्यम्। सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्, दृष्टं तु द्वारं चित्तस्य कर्मद्वारा नियामकादिति।

अनुवाद

और उस क्रियायोग का समाधि की तरह क्लेशों को क्षीण करना भी फल है। क्योंकि सूत्र से यह प्राप्त होता है कि – (क्रियायोग) समाधि की सिद्धि के लिए और क्लेशों को क्षीण करने के लिए (प्रयुक्त) है। और यहाँ पर समाधि शब्द अङ्ग तथा अङ्गी में अभेद के कारण दोनों प्रकार के योग का वाचक है। वे दोनों योग पहले ही व्याख्यात है।

अब क्लेशों का फल सहित तनूकरण की व्याख्या की जा रही है। दुःखरूपी क्लेश का कारण होने से इन्हें क्लेश कहा जात हैं। ये पाँच है, जैसे – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःखमय तथा अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्रता, सुखमय तथा आत्मत्व का ज्ञान होना ही अविद्या है। आत्मा एवं अनात्मा में उनके धर्मों में एवं स्वरूप में अत्यन्त अभेद का भ्रम होना अस्मिता है, (परन्तु) अविद्या भेद तथा अभेद उभय है, यही (इन दोनों में) विशेष है। राग और द्वेष दोनों प्रसिद्ध है। अभिनिवेश तो मरण आदि भयरूप है। इनमें से उत्तरोत्तर (क्लेशों) के प्रति पूर्व–पूर्व क्लेश कारण है। इसलिए अविद्या समस्तक्लेशों के मूल होने से क्षेत्र कहा जाता है। अविद्या की सत्ता होने पर अन्य (अस्मितादि) रहते हैं, और अविद्या के नाश होने से इनका भी नाश हो जाता है।

ये सब क्लेश व्याधि आदि (अन्तरायों) की तरह चित्त के विक्षेपक होने से योग का भी विरोधी होते हैं। और इनके तनूकरण करने से

विवेकख्याति को प्रतिबन्ध करने वाले तत्त्वों का भी क्षीणत्व हो जात है। और वह क्रियायोग का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष फल होता है। (क्योंकि) क्रियायोग से ही चित्तशुद्धि किया जाता है। और उससे अधर्मनामक कारण की तनुता हो जाती है, और उसके कारण अविद्यादि का भी तनूकरणत्व हो जाता है। तथा अस्मिता, राग, द्वेष आदि के आधिक्य होने पर क्रियायोग सम्भव नहीं है। यदि सम्भव हो जाए तो वह आंशिक होता है। अतः क्रियायोग स्वनिष्पत्ति हेतु क्लेशों के तनूकरणत्व का भी सम्पादन करता है। इस प्रकार योग भी क्रियायोग का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष – दोनों प्रकार से फल जानना चाहिए। सत्त्वशुद्धि अदृष्ट कारण है तथा चित्त का कर्म द्वारा नियन्त्रित होना दृष्ट कारण है।

रजनी

जिस प्रकार समाधि की भावना क्रियायोग का फल है, उसी प्रकार क्लेशों का तनूकरण भी फल है। अर्थात् क्रियायोग से समाधि की सिद्धि तथा क्लेशों का तनूकरण हो जाता है। यहाँ मन में एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की सिद्धि होती है तो फिर क्लेशों के तनूकरणरूप फल को अलग से कहने का क्या अभिप्राय है। क्योंकि समाधि की सिद्धि क्लेशों के तनूकरण पूर्वक होती है। समाधिसिद्धि कहने का यह तात्पर्य होता है कि उस योगी का क्लेश नष्ट हो गये हैं। इसका इस प्रकार के समाधान श्री उदयवीर शास्त्री जी ने दिया है कि क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि के प्रति योगी के चित्त में भावना जागृत हो जाती है। इसलिए उन्होंने कहा है कि :–

"क्रियायोग के निरन्तर अनुष्ठान से समाधिप्राप्ति के लिये एक भावना जागृत हो जाती है। साधक का विचार व चिन्तन उस अवस्था के लिए दृढ़ व आस्थापूर्ण हो उठता है, जो समाधि का पूर्णरूप है। निरन्तर प्रयास करता हुआ तब वह कालान्तर में उसको प्राप्त कर लेता है। समाधि भावना को दृढ़ करना व जागृत रखना क्रियायोग का पहला प्रयोजन है।"

अतः क्रियायोग से समाधि की प्रति उन्मुखता, उससे क्लेशों का नाश तथा क्लेश तनूकरण पूर्वक समाधि की सिद्धि होती है। इसी को मणिप्रभाकार ने भी समर्थन किया है। जैसे :–

"निबिड़ेषु क्लेशेषु सत्सु समाधिर्न सिद्ध्यति। तस्मात् क्रियायोगः क्लेशान् तनूकृत्य समाधिं भावयति।" (यो0सू0 मणिप्रभा, 2/2)

अब यह प्रश्न उठता है कि क्लेश क्या है ? क्लेश का स्वरूप क्या है ? क्लेश कितने हैं ? इसके समाधान में यह कहा जाता है कि – क्लिश्नान्ति इति क्लेशाः। अर्थात् जो कष्ट अथवा दुःख प्रदान करते हैं, वे क्लेश कहे जाते हैं। ये क्लेश पाँच प्रकार के कहे गये हैं। जैसे– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। पतञ्जलि ने सूत्र में इसको कहा है कि :–

"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः" (यो0सू0, 2/3)

अविद्या

अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मत्व का ज्ञान करना अविद्या कहलाता है। कथञ्चित् यह अविद्या विपर्ययात्मक ज्ञान भी कहलाता है। अतः व्यास ने कहा है कि :–

"क्लेशाः इति पञ्चविपर्ययाः इत्यर्थः।" (व्या0भा0, 2/3)

इस अविद्या के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने कहा है कि :–

"अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"
(यो0सू0, 2/5)

अतः अविद्या चार प्रकार के ज्ञानों को उपस्थित करता है। जैसे –

क0 अनित्य पदार्थों में नित्य का ज्ञान।
ख0 अपवित्र वस्तु में पवित्रता का बोध।
ग0 दुःख में सुख की अनुभूति।
घ0 अनात्मा में आत्मत्व का ज्ञान।

क0 अनित्य पदार्थों में नित्य का ज्ञान :–

अनित्य पदार्थों में नित्य का ज्ञान होना अविद्या कहलाता है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार अनित्य कालनिष्ठ अभाव के प्रतियोगित्वरूप असत्त्व है। जैसे कि वार्त्तिक में कहा गया है कि :–

"अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति।" (यो0वा0 2/5)

इस संसार में पृथिव्यादि समस्त प्रपञ्च कालनिष्ठ अभाव का प्रतियोगी स्वरूप है। अतः यह समग्र प्रपञ्च अनित्य है। इन अनित्य पदार्थों में जो विपर्ययरूप नित्यत्वबोध है, वह अविद्या ही कहलाती है। जैसे – पृथिवी नित्य है। चन्द्र तथा तारों सहित द्युलोक नित्य है, देवगण अमर हैं आदि। क्योंकि इनकी अनित्यता श्रुतिसिद्ध है। जैसे कहा गया है–

"वाचाऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्।"
(छा0उप0, 6/1/1)

खo अपवित्र वस्तु में पवित्रता का बोध

अपवित्र वस्तु में पवित्रता का ज्ञान करना अविद्या है। जैसे इस शरीर को अपवित्र मानकर उसमें स्नानादि से पवित्रता का ज्ञान करना। भगवान व्यास ने इस शरीर को अपवित्र माना है। उन्होंने भाष्य में एक कारिका का अवतारण करते हुए शरीर की अपवित्रता का प्रमाण प्रस्तुत किया है। जैसे :–

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।।" (व्या0भा0, 2/5)

अर्थात् अत्यन्त अपवित्र माता की उदररूप स्थान से उत्पन्न होने के कारण, रजोवीर्यरूप दूषित उपादान के कारण, रक्तमांसादि आश्रय के कारण, मल–मूत्रादि प्रवाह के कारण, मृत्यु के भी कारण तथा बाह्य जलादि से पवित्रता का आरोप करने से विद्वान् शरीर को अपवित्र मानते हैं।

श्रीविज्ञानभिक्षु ने इस अशुचितापूर्ण शरीर में होने वाला शुचित्वबोध को अविद्या कहा है। जैसे अतितुच्छ किसी स्त्रीशरीर और अतिधवल चन्द्रमा के मध्य कोई समानता नहीं है। परन्तु यह कल्पित होता है कि जैसे यह मनोहारिणी नायिका नूतन चन्द्रमा की भाँति अमृत के अंशों से निर्मित हुई है। वस्तुतः इन दोनों में कोई साधर्म्य नहीं है। यह केवल भ्रम ही है। अतः नायिका के अपवित्र शरीर में जो पवित्रता का बोध होता है, वह विपर्यय है। और यह विपर्ययात्मक ज्ञान ही अविद्या कहलाता है।

गo दुःख में सुख की अनुभूति

दुःखपूर्ण पदार्थों की प्रतीति सुखस्वरूप से बोध होना तृतीय प्रकार की अविद्या है। यह समग्र प्रपञ्च दुःखात्मक है। परन्तु सामान्य जन

के प्रति पुण्यजन्य ह्लादफल तथा पापजन्य परितापफल प्राप्त होता है। परन्तु योगी के प्रति दोनों ही दुःखात्मक परितापफल ही है। क्योंकि चाहे पुण्य हो अथवा पाप हो, उन कर्मफलजन्य विपाक से भव–भवान्तर की प्राप्ति होती रहेगी। क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि :–

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"
(यो0सू0, 2/15)

अतः यह समग्र प्रपञ्च दुःखपूर्ण ही है। उसके हान में ही साधक सतत प्रयासरत रहता है। अतः इस दुःखपूर्ण संसार में जो सुखबोध होता है वह अविद्या है।

घ0 अनात्मा में आत्मत्व का ज्ञान

अनात्म पदार्थों में आत्मख्याति अविद्या कहलाता है। बाह्य शरीर के साधनभूत पुत्रादि में अहं बुद्धि करने से विषयभोगों के अवच्छेदक रूप से अन्तःकरण के साधनभूत शरीर में होने वाली अहं बुद्धि तथा भोग्य होने से पुरुष के साक्षात् उपकरणभूत अन्तःकरण में होने वाली अहं प्रत्यय अनात्मारूप में आत्मबुद्धि अविद्या कहलाता है। इस अनात्मतत्त्व में आत्मख्याति रूप अविद्या पर्यवसित यह समग्र प्रपञ्च है। क्योंकि "अहं कर्त्ता" इत्याकारक अभिमान धर्माधर्म की उत्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् का कारण है। पञ्चशिखाचार्य भी इसी बात का समर्थन किया है। जैसे :–

"तथैतदत्रोक्तम्–व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति।"

न विद्या अविद्या – यह नञ् तत्पुरुष समास निष्पन्न अविद्या यहाँ पर ग्रहणीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार से समासित पद को ग्रहण करने पर विद्या भी किसी के प्रतियोगिक ज्ञान से बोधित होगा। और योगदर्शन में अभाव का अङ्गीकार भी नहीं किया गया है। यह तो अधिकरण स्वरूपक ही है। यदि वा हम इस प्रकारक नञ् समासान्त अविद्या का स्वीकार कर लेते हैं तो अविद्या अस्मितादि क्लेशों का विनाश करने वाली सिद्ध हो जाएगी, न कि उनका कारण के रूप से।

पुनः अविद्यमाना विद्या यस्यामिति अविद्या – इस विग्रहजन्य अविद्या का भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इससे अविद्या का

विद्यारहितत्व तो सिद्ध हो जाएगा किन्तु उसकी भावात्मकता की सिद्धि नहीं हो पाएगी। जिससे कि क्लेशादि के कारण इसमें घटित नहीं हो पाएगी।

वस्तुतः निषेध की दो विधा शास्त्रों में गृहीत है। जैसे – प्रसज्य प्रतिषेध और पर्युदास। इन दोनों में से प्रसज्य प्रतिषेध का ग्रहण हम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इससे विद्या के सदृश किसी भावपदार्थ की सिद्धि नहीं हो पाएगी। तथा अविद्या से क्लेशों की उत्पत्ति भी अनुपपन्न हो जाएगी। वाचस्पति ने भी कहा है कि :–

"तत्र पूर्वपदार्थप्रधानत्वे विद्यायाः प्रसज्यप्रतिषेधो गम्येत, न चास्याः क्लेशादिकारणत्वम्।" (त०वै०, 2/5)

परन्तु पर्युदास समासान्त में भावात्मक पदार्थ की प्रधानता विद्यमान रहती है। क्योंकि जैसे अमित्र पद का तात्पर्य मित्र का अभाव अथवा मित्रमात्र नहीं है, तथा अगोष्पद का तात्पर्य गोष्पद का अभाव अथवा गोष्पदमात्र नहीं है, उसी प्रकार अविद्या भी प्रमाण का अभाव अथवा प्रमाणमात्र नहीं है। अपितु विद्याविपरीत भावरूप वस्त्वन्तर ही है। वस्त्वन्तर के कारण इसकी क्लेशादि कारणता भी रहती है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने वार्त्तिक में कहा है कि :–

"दृष्टान्तं विभजते – यथा नामित्र इति। न मित्राभाव इति। अत्राभावशब्देन संसर्गोन्याभावौ ग्राह्यौ। न मित्रमात्रमिति। नास्ति मित्रं यस्मादिति व्युत्पत्त्या केवलमित्रमित्यर्थः। किंतु तद्विरुद्धौ मित्रविरुद्ध इत्यर्थः। तथा च निरुढ़लक्षणेति भावः। किन्तु देश एवेति। विपुलो देशविशेषोऽगोष्पद इति परिभाषितः। प्रमाणं विद्या ज्ञानान्तरमिति। एतेनाविद्याशब्दस्य ज्ञानविशेषे रुढ़त्वावधारणादाधुनिकवेदान्तिनामन्यार्थत्वोपवर्णनं स्वतन्त्र्यमात्रमवधेयम्।"

(यो०वा०, 2/5)

इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए कह गया है कि :–

"वस्तुतो अयथार्थे यथार्थबुद्धिः, यथार्थेऽयथार्थबुद्धिः तदभाववत्सु तद्वत्ताबुद्धिः, तद्वत्सु तदभाववत्ताबुद्धिः, भिन्नयोरभेदबुद्धिः, अभिन्नस्य भेदबुद्धि–रित्यादिकमविद्यास्वरूपं बोध्यमिति।" (स्वमिनारायणभाष्यम्, 2/5)

अविद्या के नष्ट होने पर अस्मितादि का भी नाश हो जाता है। यह अविद्या आगे कहे जाने वाले अस्मितादि क्लेशों की प्रसवभूमि है।

अस्मिता में बुद्धि और पुरुष में अत्यन्ताभेद के कारण भ्रमात्मक ज्ञान, राग के कारण निर्लिप्त आत्मा में अनात्मभूत सुखसंस्कार का संगज्ञान, द्वेष के कारण निर्लिप्त आत्मा में अनात्मभूत दुःखसंस्कार का संगज्ञान तथा अकर्त्ता आत्मा में कर्त्तृत्वाभिमान है।

अस्मिता

आत्मा एवं अनात्मा में जो अभेदभ्रम प्राप्त होता है उसे अस्मिता कहा जाता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।" (यो0सू0, 2/6)

बुद्धि और पुरुष दोनों अत्यन्त विप्रकृष्ट धर्मवाले हैं। इन दोनों का भोग्यत्व तथा भोक्तृत्वरूप वैधर्म्य भी अत्यन्त स्फुट है। यदि दोनों में भिन्नधर्मता का ज्ञान हम नहीं स्वीकार करेंगे तो कर्मकर्त्तृविरोध उपस्थित होगा। इस प्रकार परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले भोग्य बुद्धि और भोक्ता पुरुष का जब अविभागात्मक ज्ञान उत्पन्न होने लगता है तब अस्मिता क्लेश प्राप्त हो जाता है। और भी "योऽहं सुखी सोऽहं तदनुभविता" इस प्रकार की एकाकारता बुद्धि तथा पुरुष के अभेदापन्न होने पर ही लोक में भोगव्यवहार होता है।

अविद्या और अस्मिता के मध्य सूक्ष्म अन्तर को दर्शाते हुए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि – अविद्या की अवस्था में होने वाला अभेदभ्रम भेदाभेदघटित होता है। जब कि अस्मिता में यह अभेदभ्रम आत्यन्तिकरूप से अभेदघटित होता है, न कि भेदाभेदघटित। क्योंकि अविद्या बुद्ध्यादि जड़ पदार्थों में सामान्यरूप से होने वाली अहं प्रतीति है। तथा यह अहं प्रतीति बुद्धि और पुरुष के भेदाभेदज्ञान से उपपन्न होता है क्योंकि अविद्या में बुद्धि तथा पुरुष के अत्यन्त अभेद का ग्रहण नहीं किया जाता है। जैसे दूरस्थ दो वनस्पतियों के अत्यन्त अभेदभ्रम की भाँति बुद्धि एवं पुरुष में अत्यन्त अभेद प्रतीति नहीं होती है। यह स्वस्वामिभाव से बुद्धि एवं पुरुष में संयोग स्थापित करते हुए सर्ग का कारण बनती है।

राग

सुख का अनुभव करने वाले को सुखानुभव की स्मृतिपूर्वक सुख अथवा सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो अभिलाषा अथवा तृष्णा

होती है, वह राग क्लेश कहलाता है। अतः सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"सुखानुशयी रागः।" (यो0सू0, 2/7)

अर्थात् सुख तथा सुख के साधनमात्र को विषय बनाने वाला क्लेश ही राग है। अतः वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"सुखानुशयी सुखतत्साधनमात्रविषयको यः क्लेशः स राग इत्यर्थः।" (यो0वा0, 2/7)

इस प्रकार सुख का साक्षात्कार होने से तथा सुख का स्मरण होने से राग का उदय होता है। अतः सुखभोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहने वाला इच्छा विशेष ही राग है। पदार्थविषयक सुखानुभूति इसकी उत्पत्ति में हेतु है। जो विषय सुख प्रदान करता है, उस पदार्थ के प्रति रागानुबिद्ध होकर मनुष्य की आशा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। विषयभोगविषयक यह आसक्ति प्राणी को निरतिशय यथार्थ अनुभव से दूर रखता है। इसलिए यह राग क्लेश के रूप से स्वीकृत है।

द्वेष

दुःख का अनुभव करने वाले को दुःखानुभव की स्मृतिपूर्वक दुःख अथवा दुःख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो अभिलाषा अथवा तृष्णा होती है, वह द्वेष नामक क्लेश कहलाता है। अतः सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"दुःखानुशयी द्वेषः।" (यो0सू0, 2/8)

यह क्लेश पूर्वोक्त क्लेश का विपरीत अर्थ को दिखाने पर भी तात्पर्य यह नहीं है। वस्तुतः द्वेष रागाख्यक्लेश के विरोधी भावात्मक क्लेश है। न कि राग के अभाव मात्र। अभाव के स्वीकार में अन्योऽन्याश्रयदोष की आपत्ति हो जाएगी और सांख्य–योगशास्त्र में जो अभाव की अधिकरणस्वरूपता है, उसकी हानि होगी। यह द्वेष द्रोह, हिंसा आदि को भी उपलक्षित करता है। राग के प्रतिघात होने पर यह क्लेश उत्पन्न होता है। रागाख्य क्लेश के सदृश यह द्वेष भी दुःख तथा दुःख के साधनमात्र को विषय बनाता है। अतः दुःख की अनुभूति के पश्चात् किसी विशेष विषय के प्रति जिस विरुद्ध भाव का उदय होता है, उसे हम द्वेष कह सकते हैं। इस द्वेष निमित्तक जो भी क्रियाएँ होती है, वह हिंसा के रूप में स्वीकृत है। यह हिंसा कायिक,

वाचिक तथा मानसिक होती हैं। राग सदृश द्वेष के कारण निर्लिप्त आत्मा के साथ अनात्मभूत दुःखसंस्कार का सङ्ज्ञान और अकर्त्ता आत्मा में कर्त्तृत्वाभिमान होता है।

अभिनिवेश

सामान्य लोगों की भाँति किसी विद्वान् का जो स्वभाव सिद्ध भय उत्पन्न होता है, उसे अभिनिवेश कहते हैं। जैसे मरणनिमित्तकभय। क्योंकि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि जन्म होने के उपरान्त मृत्यु अनिवार्य है। जैसे कि गीता में कहा गया है कि :—

"जातस्य हि ध्रुवं मृत्युं ....।" (गीता)

अथवा "उत्पन्नं सत् विनश्यते'।" इस प्रकारक प्रतीति सामान्य लोगों को होता है। परन्तु जिस प्राणी को ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे भी मरणभय प्राप्त होता है। अतः पतञ्जलि ने कहा है कि :—

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढ़ोऽभिनिवेशः।" (यो0सू0, 2/9)

अतः विद्वान् तथा मूर्ख दोनों में आत्मविषयिकी इच्छा सदा बलवती है। जैसे :—

"माऽहमभावी, भूवं, भूयासं जीव्यासम्।"

इस प्रकारक अभिलाष को मरणभय कहते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे धनादि ऐश्वर्य के नाश से उत्पन्न दुःख का अनुभव करने वाले व्यक्ति में भी धनादि विभवता के प्रति अभिलाषा देखी जाती है कि — मेरा धन नष्ट न हो अपितु सदा अक्षुण्ण रहे। इस प्रकारक आत्मविषयिणी आशीः के द्वारा पूर्वजन्म में अनुभूत मरणदुःखानुभव उसके हेतु रूप से अनुमित होता है।

अब एक प्रश्न उपस्थित हांता है कि जब ज्ञानी व्यक्ति को आत्मा की नित्यता सुविदित है, तब इस प्रकारक अनुभव होना असङ्गत प्रतीत होता है। परन्तु इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि आत्मा की नित्यता के विषय में विद्वान् व्यक्ति को निश्चयात्मक ज्ञान होने पर भी मरणभय जन्य प्रार्थना देखी जाती है। अतः फलबल के आधार पर इस प्रकार की इच्छा के प्रति तादृश संस्कार को उत्तेजक मानना पड़ता है।

अविद्यादि ये पाँचों क्लेश व्याधि आदि की तरह योग में प्रतिबन्ध सृष्टि करते हैं। इनसे चित्त विक्षिप्त अवस्था को प्राप्त कर जाता है।

अतः ये योग में विरोधी तत्त्व है। इनके तनुत्व होने पर ही विवेकख्याति उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रियायोग के दृष्ट एवं अदृष्ट फल के प्रत्यायक होता है। क्रियायोग के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि योगी का होता है। और इसके फलस्वरूप अधर्मादि के कारणों की तनुता हो जाने से अविद्यादि भी क्षीणीभाव हो प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि अस्मिता, राग, द्वेष आदि के प्राबल्य अवस्था में क्रियायोग सम्भव नहीं हो सकता है। यदि वा कथञ्चित् किसी कारणवश होता भी है तो वह आंशिकमात्र होता है। अतः क्रियायोग अपनी सिद्धि में क्लेशों के तनूकरण का सम्पादन करता है। इस प्रकार क्रियायोग के दो प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। जैसे – दृष्टफल चित्त का कर्म द्वारा नियन्त्रित होना एवं अदृष्टफल सत्त्वशुद्धि है।
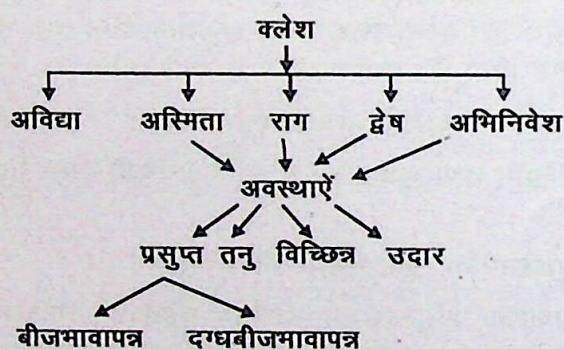
इदानीं क्लेशतानवस्य मोक्षपर्यन्तं फलं सूत्रगणोक्तं सङ्कलय्य कथ्यते। क्रियायोगेन क्लेशतानवे सति, अन्तराऽन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेक–ख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति। ततश्चाविद्यादिक्लेशाः प्रसंख्यानाख्येन विवेकसाक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः प्ररोहसमर्थाः न भवन्ति। इयं जीवन्मुक्तावस्था। ततश्च प्रारब्धसमाप्तौ चित्ते प्रलीयमाने ते दग्धबीजकल्पा अप्यनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशाः अत्यन्तं प्रलीयन्ते। तन्निवृत्तौ पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्त इति परममुक्तिरिति।

ननु अनागतवस्थानामपि क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमेव युक्तम्, किमिति कार्याक्षमतारूपदाहः कल्प्यत इति चेत्। उच्यते, कार्याणाम–नागतावस्थैव कारणस्य शक्तिरुच्यते। तां च विहाय कारणं न तिष्ठति, अग्न्यादौ दाहादिशक्तेर्यावद्द्रव्यभावित्वात्। अतः क्लेशकर्मसंस्कारा–दीनामनागतावस्थानां बीजशक्तिदाहः एव ज्ञानादिभिः क्रियते, न

त्वतीतावस्थानाम्। तासां तु नाशश्चित्तनाशादेव भवति, धर्मिनाशस्य धर्मनाशकत्वादिति।

अनुवाद

अब क्लेशों के तनूकरण का मोक्षपर्यन्त फल को (योग)सूत्र में जैसा कहा गया है (उसी प्रकार) सङ्कलन करके कहा जा रहा है। क्रियायोग से क्लेशों का तनूकरण हो जाने पर बीच–बीच में क्लेशों के द्वारा अप्रतिबन्धित विवेकख्याति का प्रबाह (विवेक) साक्षात्कार पर्यन्त होता है। उसके बाद अविद्यादि क्लेश प्रसंख्यान नामक विवेकसाक्षात्कार–रूपक अग्नि से दग्धबीजभाव (को प्राप्त) होकर (पुनः) अङ्कुरोत्पादन में समर्थ नहीं होते हैं। यही जीवन्मुक्त अवस्था है। तत्पश्चात् प्रारब्ध कर्मों के समाप्त हो जाने पर चित्त के (अपने कारण में) लीन हो जाने पर, वे दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए अनागतावस्था में विद्यमान सूक्ष्मक्लेश अत्यन्तरूप से लीन हो जाते हैं। उसके निवृत्त हो जोने पर पुनर्जन्म के कारण का अभाव हो जाने से पुनः इस दुःख को नहीं भोगता यही परम मुक्ति है।

अब (यह शङ्का उत्पन्न होती है कि) अनागत अवस्था में विद्यमान क्लेशों का ज्ञान के द्वारा नाश योग्य है यदि यह युक्तियुक्त है, तो फिर किसलिए कार्य में अक्षमता प्रदान करने वाले दाह की कल्पना की गयी है।

अब (इसके समाधान में) कहते हैं कि कार्यों की अनागत अवस्था ही कारण की शक्ति कही जाती है और उसको छोड़कर कारण नहीं रह सकता है। क्योंकि जैसे अग्नि आदि में दाहकता आदि शक्ति यावत् द्रव्यभावी होती है। अतः क्लेश, कर्म तथा संस्कार आदि की अनागत अवस्था में ही विद्यमान बीजशक्ति का दाह ज्ञान आदि से किया जाता है, न कि अतीत अवस्था में विद्यमान क्लेश, कर्म तथा संस्कार आदि का। उनका नाश तो चित्त के नाश के साथ होता है, क्योंकि धर्मी के नष्ट होने पर धर्म का नाश हो जाता है।

रजनी

क्रियायोग से क्लेशों का तनूकरण हो जाता है। जिसके कारण विवेकख्याति का अप्रतिबन्धित प्रवाह विवेकसाक्षात्कार पर्यन्त होता है। ये समस्त क्लेश उस प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं। और इसके फलस्वरूप पुनः विषयभोगनिमित्तक अंकुरोत्पादन में

अविद्यादि क्लेश समर्थ नहीं हो पाते। यह जीव की जीवन्मुक्त अवस्था है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के अनन्तर चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। इसके फलस्वरूप जो अविद्यादि अनागतावस्था में विद्यमान सूक्ष्मक्लेश दग्धबीजभाव को क्रियायोग के अनुष्ठान से प्राप्त किये हुए हैं वे अत्यन्तरूप से लीन हो जाते हैं। उसके निवृत्त हो जाने पर पुनर्जन्म के कारण का अभाव हो जाता है। जिसके फलस्वरूप जीव पुनः इस दुःख का भोग नहीं करता है।

अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि केवल अनागत अवस्था में विद्यमान सूक्ष्मक्लेशों का तनूकरण क्यों कहा गया ? इसके समाधान में कहा जाता है कि अतीत तथा वर्त्तमान कालिक क्लेशों का प्रकृत स्थल में कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि अतीतकालिक क्लेशजन्य फल को भोग चुके हैं तथा वर्त्तमानकालिक क्लेशजन्यफल को भोग रहे हैं। केवल शेष अनागतकालिक सूक्ष्मक्लेश ही प्रयुज्य है। जिसके कारण मनुष्य दुःख, कष्ट पुनर्जन्म आदि प्राप्त करता है। क्रियायोग के अनुष्ठान से यह अनागतकालिक सूक्ष्मक्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार जले हुए धान्य बीज पुनः अंकुरोत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार दग्धबीजभाव को प्राप्त किये हुए ये क्लेश पुनर्जन्म आदि के उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं। क्योंकि पुनर्जन्म आदि के जो निमित्त क्लेश आदि हैं, वे सब विवेकख्याति रूपक प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीज हो गये हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त को प्राप्त करता है।

(बन्ध तथा उसकी निवृत्ति)

अथ कथमविद्यादिक्लेशाद् बन्धः कथं वा तन्निवृत्त्यां मोक्ष इति तयोः प्रकारः कथ्यते। अविद्यादिक्लेशेभ्यः एव धर्माधर्मौ जायेते।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।" (गीता, 18/17)

इत्यादिस्मृतेः। धर्माधर्माभ्यां च जन्मायुर्भोगरूपा विपाकाः जायन्ते। तेभ्यश्च सुखदुःखे। ततश्च पुरुषस्य तद्भोगरूपो बन्ध इति। विपाकमध्ये च भोगः शब्दाद्याकारा वृत्तिरिति भेदः।

ननु क्लेशानां दुःखाख्यहेयहेतुत्ववत्स्वर्गादिसुखहेतुत्वमपि धर्मादिद्वाराऽस्ति, तत्कथं क्लेशा उन्मूलनीया इति। उच्यते, स्वर्गादिसुखमपि

दुःखप्रचुरत्वाद् दुःखानुबन्धित्वाच्च दुःखमेव विवेकिना मन्तव्यम्। तथा च सांख्यसूत्राण्यपि –"यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः", "कुत्रापि कोऽपि सुखीति", "तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः" (सां0सू0, 6/6,7,8) इति। सोऽयमविद्यातो बन्धप्रकारः कौर्मेऽप्युक्तः–

"रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमितिश्रुतिः।।

तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भव।।" इति।

क्लेशेभ्यो बन्धप्रकारः उक्तः।

अनुवाद

अब किस प्रकार अविद्यादि क्लेशों से बन्ध तथा किस प्रकार उनकी निवृत्ति से मोक्ष प्राप्त होता है ? इन दोनों प्रकारों को कहा जा रहा है। अविद्या आदि क्लेशों से ही धर्म एवं अधर्म उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है :–

"जिस पुरुष का (अन्तःकरण में) "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (सांसारिक विषयों के साथ) लिप्त नहीं होती है, वह (पुरुष) इन लोकों को मारकर भी न तो मरता है और न पाप के कारण बन्धन में बँधता है।"

धर्म और अधर्म से जन्म, आयु और भोग स्वरूपक विपाक उत्पन्न होते हैं। और उनसे सुख एवं दुःख (उत्पन्न होते हैं)। और उसके बाद पुरुष का वह भोग रूपी बन्धन (का प्रारम्भ) हो जाता है। और विपाक में जो भोग पद प्रयुक्त है वह शब्द आदि के आकार में चित्त का परिणत हो जाना (अभिपेत) है।

अब प्रश्न यह है कि क्लेशों का दुःख नामक हेय हेतु के समान धर्म आदि द्वारा स्वर्ग आदि सुख के हेतुत्व भी (सिद्ध होती) है। तो फिर किस प्रकार उन्मूलनीय है ?

इस के समाधान में कहते हैं कि स्वर्ग आदि सुख भी दुःखबहुल होने से और दुःख से अनुबन्धित्व होने से विवेकी (पुरुष) के द्वारा दुःख ही मानना चाहिए। और भी सांख्यसूत्र जैसे :–

"जिस प्रकार पुरुष का दुःख से क्लेश होता है, उसी प्रकार सुख से अभिलाषा नहीं होती है।" "क्योंकि कहीं कोई दुर्लभ व्यक्ति ही सुखी दिखाई देता है।" "वह (स्वर्गादि सुख) भी दुःखों से युक्त होने से विवेचक (उस स्वर्गादि सुख को) दुःख की कोटि में रखते हैं। यह जो अविद्या से बन्ध का वर्णन है, वह कूर्मपूराण में भी कहा गया है :–

"राग, द्वेष आदि समस्त दोष भ्रान्ति के कारण ही होते हैं। तथा इसी का कार्य पाप पुण्य रूप दोष है ऐसा श्रुति कहती है। और उस (पाप और पुण्य) के अधीन ही सब (जीवों) के सब प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं।"

(इस प्रकार अविद्यादि) क्लेशों से बन्ध की प्रक्रिया कह दी गयी है।

रजनी

समाधि की सिद्धि हेतु क्लेशों के तनूकरण अपेक्षित है। क्योंकि जो भी बन्ध जीव प्राप्त करता है वह केवल अविद्या निमित्तक ही है। उत्तर राग, द्वेष, अस्मिता, अभिनिवेशादि क्लेश भी अविद्या के क्षेत्र पर ही प्रतिष्ठित है। क्योंकि कहा गया है :–

"अविद्याक्षेत्रं प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।" (यो0सू0, 2/4)

इन अविद्यादि क्लेशों से शुभ तथा अशुभ कर्म की उत्पत्ति होती है। इन कर्मों से विपाक की प्राप्ति जीव करता है। यह विपाक जाति, आयु तथा भोग रूपक ही होता है। उस प्रकृत जन्म में भुक्त न होने पर यह संस्कार के रूप में जन्म–जन्मान्तर को प्राप्त कराता है। इस प्रकार इन क्लेशों के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है। अतः निश्चित ही यह कहा जा सकता है कि इन क्लेशों के निवृत्त हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि न क्लेश रहेंगे, और क्लेशों की अनुपस्थिति में विपाक तथा विपाकजन्य संस्कार भी नहीं होंगे। जिससे जीव कर्मबन्धन अथवा भोगबन्धन में नहीं पड़ सकेगा।

पुरुष जो भोग का ज्ञान प्राप्त करता है कि अहं भोक्ता यह केवल उपचरित ज्ञान है। क्योंकि बुद्धि कृत जो अविद्यानिमित्तक कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान होता है वह पुरुष पर आरोपित हो जाता है। इसके कारण ही पुरुष में उसके फलरूप सुख–दुःख की प्राप्तिरूप है। और जो जाति, आयु और भोग में कहा गया भोग है वह चित्त का वास्तव में शब्दादि आकार में परिणत होना है।

अब प्रश्न उठाया जाता है कि जैसे धर्म आदि द्वारा क्लेशों का दुःख नामक हेयहेतुत्व स्वीकृत है उसी प्रकार धर्म आदि के द्वारा भी स्वर्ग सुख आदि सुखहेतुत्व स्वीकृत है, तो क्लेश ही उच्छेतव्य है ऐसा क्यों कहा गया ?

इसके समाधान में कहा गया है कि – यहाँ पर स्वर्गादि सुख भी दुःखबहुल होने से तथा दुःख से अनुबन्ध होने से विवेकी जन उस स्वर्गादि सुख को भी दुःख कोटि में ग्रहण करते हैं। क्योंकि पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"
(यो0सू0, 2/15)

सांख्यसूत्र में भी कहा गया है कि :–

"यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः।"

"कुत्रापि कोऽपि सुखीति।"

"तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः।"
(सां0सू0, 6/6,7,8)

अर्थात् जैसे पुरुष को दुःख से सम्बन्ध के कारण द्वेष नामक क्लेश की भावना हाती है, वैसे सुख के विषय में अभिलाषा उत्पन्न नहीं होता है। अतः सुख की अपेक्षा दुःख की बहुलता होने पर भी दुःखनिवृत्ति ही पुरुषार्थ है। क्योंकि कहीं कोई दुर्लभ व्यक्ति ही सुखी दिखाई देता है। जैसे असंख्य तृण, वृक्ष, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि के मध्य में कम ही मनुष्य, देवता आदि सुखी होते हैं, सब नहीं। अतः कभी–कभी और कहीं–कहीं होने वाला सुख अमृत और विष से मिले हुए भोजन की तरह ज्ञानी पुरुषों को त्याज्य है।

(मोक्ष के प्रकार तथा चतुर्व्यूह)

क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते। आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारा–दविद्यानिवृत्त्या तन्मूलकानां क्लेशान्तराणामपि निवृत्तिः। ततश्च कारणाभावाद्धर्माधर्मानुत्पत्तिः। अनारब्धफलकानां चोत्पन्नकर्मणां फलानुत्पादः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात् आरब्धफलकर्मणां च भोगेनैव नाशः। ततः प्रारब्धसमाप्त्या देहपाते कारणाभावान्न पुनर्जन्म तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति।

तदेवं चिकित्साशास्त्रवदेव चतुर्व्यूहप्रतिपादकं सांख्ययोगादि मोक्षशास्त्रम्। यथा हि रोगो रोगनिदानमारोग्यं भैषज्यमिति चत्वारो व्यूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्याः भवन्ति, एवमत्रापि हेयं हेयहेतुर्हानं होनोपाय इति चत्वारो व्यूहाः प्रतिपाद्याः। तत्र हेयं दुःखम्, हेयहेतुरविद्या, हानं दुःखात्यन्तनिवृत्तिः। होनोपायो विवेकसाक्षात्कार इति। उपकरणानां ग्रहणाय सर्वत्र व्यूहपदमावश्यकम्।

ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं दुःखहानिः पुरुषार्थ इति चेन्न। भोग्यत्वरूपस्वसम्बन्धेनैव दुःखहानस्य सांख्यादिमते पुरुषार्थत्वात्। यद्यपि भोगः साक्षात्काररूपतया स्वरूपतो नित्य एव, तथापि घटाकाशवद् दुःखभोगस्यानित्यतया तन्निवृत्तिः पुरुषार्थः स्यादेव, दुःखभोगस्य दुःखप्रतिबिम्बावच्छिन्नचित्स्वरूपत्वादिति।

अत्राविद्याया हेयहेतुतायां द्वारतया द्रष्टृदृश्यसंयोगरूपं जन्म व्याख्याय सूत्रभाष्याभ्यामनेनैव प्रसङ्गेन द्रष्टृदृश्ययोः पुंप्रकृत्योः स्वरूपं प्रपञ्चितम्। मयाऽपि वार्त्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम्। सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिर्विस्तरतः प्रकृतिपुरुषौ विवेचितौ। अतो विस्तरभयान्नेह प्रकरणे प्रस्तूयते।

इति मध्यमाधिकारिणां योगसाधननिरुपणं तत्प्रसङ्गेन क्रियायोगस्य क्लेशतानवद्वारा मोक्षहेतुतायाः निरुपणं च।

अनुवाद

(अब) क्लशों के निवृत्त हो जाने पर मोक्ष की प्रक्रिया कही जा रही है। आत्म और अनात्म में विवेकसाक्षात्कार होने के कारण अविद्या की निवृत्ति हो जाने से तन्मूलक (उस अविद्या से उत्पन्न होने वाले अस्मितादि) अन्य क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं। और उसके बाद कारणों का अभाव हो जाने से धर्म तथा अधर्म का भाव उत्पन्न नहीं होता है। क्लेश नामक सहकारी (कारण) के उच्छेद हो जाने से वे कर्म जो अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किये हैं तथा वर्त्तमान कर्मों के (जो आगामी) फल हैं, (उनको) उत्पन्न नहीं करता है। तदनन्तर प्रारब्ध की समाप्ति होने से देह के नष्ट हो जाने पर कारण के अभाव से पुनर्जन्म नहीं होता है और वही दुःखनिवृत्तिरूपक मोक्ष है।

चिकित्साशास्त्र के सदृश सांख्य–योग शास्त्र भी चतुर्व्यूह को प्रतिपादन करने वाला मोक्षशास्त्र है। जैसे रोग, रोगनिदान, आरोग्य

और भैषज्य यह चार व्यूह चिकित्साशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय होते हैं, उसी प्रकार यहाँ (सांख्य–योग शास्त्र में) पर भी हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय यह चार व्यूह प्रतिपाद्य विषय होते हैं। यहाँ हेय दुःख, उस हेय–दुःख के हेतु–कारण अविद्या, हान–दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति, और उस हान के उपाय विवेकसाक्षात्कार है। उपकरणों के ग्रहण के लिए सर्वत्र व्यूहपद का प्रयोग आवश्यक है।

अब यदि प्रश्न किया जाए कि किस प्रकार पुरुष का नित्य दुःखरहितत्व होने से दुःखों के निवृत्ति होने पर पुरुषार्थ प्राप्त हो ? तो यह उचित नहीं है। क्योंकि भोग्यत्वरूप स्वसम्बन्ध से ही दुःखनिवृत्ति का सांख्य आदि शास्त्र मत में पुरुषार्थत्व स्वीकृत है। यद्यपि भोग साक्षात्कार विषयक होने से स्वरूप से नित्य ही है तथापि घटाकाश के सदृश दुःखभोग का अनित्यत्व होने के कारण उसकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ होना चाहिए। क्योंकि दुःखभोग का दुःखप्रतिबिम्ब से अवच्छिन्न चित्स्वरूपत्व है।

यहाँ पर अविद्या का हेय के हेतु में द्वार के कारण द्रष्टा और दृश्य के संयोगरूप उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए सूत्र एवं भाष्य के द्वारा इसी प्रसङ्ग में ही द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को बताया गया है। श्रीविज्ञानभिक्षु से भी वार्तिक और संख्यप्रवचनभाष्य में अच्छी तरह से कहा गया है। सांख्यसार नामक सांख्य के प्रकरण में हमारे द्वारा विस्तार पूर्वक प्रकृति एवं पुरुष का विवेचन कर दिया गया है। अतः विस्तार के भय से यहाँ इस प्रकरण में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

इस प्रकार मध्यम अधिकारियों के लिए योग के साधनों का वर्णन कर दिया गया है, उसमें प्रसङ्गवश ही क्रियायोग की क्लेशों के तनूकरण द्वारा मोक्ष के प्रति कारणता का भी वर्णन किया गया है।

रजनी

यह योगशास्त्र चिकित्साशास्त्र की तरह चतुर्व्यूह परक है। जैसे चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य ये चार व्यूह है वैसे ही सांख्य–योग शास्त्र में भी चारव्यूह स्वीकृत है। यथा – हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। अब प्रश्न उठता है कि यह व्यूह है क्या ? इसके उत्तर में हलायुध कोश में कहा गया है कि – समूह, निकर, उत्कर, निर्माण, रचना, तर्क, देह, परिमाण तथा लिङ्ग आदि। जैंसे :–

"व्यूहः – वि + ऊह् + घञ्, समूहः, निकरः, उत्करः, निर्माणं, रचना, तर्कः, देहः, सैन्यम्, परिमाणः, लिङ्गम्।"

इनमें से व्यूह शब्द का तात्पर्यसमूह अथवा लिङ्ग से युक्तियुक्त बैठता है। क्योंकि हेय आदि चार का समूह अथवा सांख्ययोगशास्त्र के प्रतिपाद्यविषय के चार चिह्न है। यहाँ पर व्यूह पद पारिभाषिक शब्द है।

हेय

हेय का तात्पर्य त्याज्य के अर्थ में है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख नहीं है। और योगी के लिए स्वर्गादि सुख भी दुःखानुबन्धित्व होने से दुःखरूपक ही है। अतः विवेकी प्रायशः सबको दुःख कोटि में स्वीकार करता है। अतः यह दुःख ही हेय पद से अभिप्रेत है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने दुःख की तरह संसार की भी हेयता बताया है। जैसे :–

"दुःखबहुलत्वात् संसार एव दुःखमित्यर्थः।" (यो0वा0 2/15)

यह दोनों ही समरूप है। दुःख और संसार पर्याय के रूप से स्वीकृत है। अतः दुःखबहुल संसार को हेय कहने से दुःख की हेयता स्वतः आ जाती है। इस प्रसङ्ग में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि यद्यपि पुरुष में दुःखाभाव सदैव स्वतःसिद्ध है तथापि योग्यतारूप स्वत्वसम्बन्ध से, धनादि की तरह दुःख का नाश पुरुष में नित्यसिद्ध नहीं है। क्योंकि पुरुष बुद्धिगत सुख, दुःख आदि का अपने उपर उपचरित होने के कारण अपने आपको भोक्ता समझ कर अहं सुखी तथा अहं दुःखी होता है। अतः भोक्तृभोगसम्बन्ध से होने वाला जो दुःख है उस दुःख के नाश को पुरुषार्थ कहा गया है। योगवार्त्तिक में जैसे कहा गया है :–

"तद्धानं च समवायसम्बन्धेन यद्यपि पुरुषे नित्यसिद्धं तथाऽपि भोग्यतारूपस्वत्वसम्बन्धेन धनादीनामिव तद्धानं न नित्यसिद्धमिति तेन सम्बन्धेन तद्धानं पुरुषार्थ इत्याशयः।" (यो0वा0, 2/16)

अब प्रश्न यह है कि दुःख त्रैकालिक है। तो इनमें से क्या एककालिक दुःख त्याज्य है अथवा त्रैकालिक दुःख। इसके उत्तर में कहते हैं कि अनागतकालिक दुःख ही त्याज्य है। क्योंकि अतीत कालिक दुःख का भोग हो जाने से स्वतः ही विनाश को प्राप्त कर चुका है और वर्त्तमानकालिक दुःख का भोग होने से तथा द्वितीय क्षण में

विनाश को प्राप्त कर लेता है। इसलिए शेष भविष्यत् कालिक दुःख ही हेय है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"हेयं दुःखमनागतम्।" (यो0सू0, 2/16)

हेयहेतु

उस त्याज्य दुःख का कारण अविद्या है। क्योंकि अविद्यानिमित्तक ही जीव दुःख को पाता है। इस दुःखाख्य हेय का कारण क्या है ? इसके समाधान में सूत्रकार ने कहा है कि :–

"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।" (यो0सू0, 2/17)

अर्थात् द्रष्टा पुरुष तथा दृश्य प्रकृति का जो संयोग है, वह हेय का कारण कहलाता है। क्योंकि पुरुष के दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थपित करने के उपरान्त ही उसे दुःख का अनुभव होता है। अतः इन दोनों के संयोग को ही हेय का हेतु कहा गया है। इस द्रष्टा पुरुष एवं दृश्यभावापन्न बुद्धि के संयोग का हेतु अविद्या है। यहाँ पर अविद्या का तात्पय अदर्शन से है। अर्थात् दर्शनाभाव है।

पुरुष तथा प्रकृति के विलक्षण संयोग की तरह उसका हेतुभूत अदर्शन भी विलक्षण है। अतः आचार्य श्रीविज्ञानभिक्षु ने अदर्शन विशेष का स्वरूप बतलाने के लिए अदर्शन को आठ विकल्पों से योगवार्त्तिक में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः वासनात्मक अदर्शन ही पुरुष तथा बुद्धि के संयोग के हेतुरूप से यहाँ ग्राह्य है। यह अदर्शन तत् तत् पुरुष के साथ तत् तत् बुद्धि के संयोग का हेतु है। इससे प्रत्येक पुरुष का भोग–वैचित्र्य उपपन्न हो जाता है।

यहाँ पर शङ्का उपस्थित होती है कि जिस अदर्शन को द्रष्टृदृश्यसंयोग का हेतु कहा जा रहा है, वह स्वयं द्रष्टृदृश्य संयोग के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि पुरुष के साथ असंयुक्त बुद्धि में विपर्यय नहीं रह सकता है। इस प्रकार द्रष्टृदृश्यसंयोग होने पर विपर्यय ज्ञान तथा विपर्यय ज्ञान होने पर संयोग – इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उपपन्न हो जाता है। अतः अविद्या पुरुष तथा बुद्धि के संयोग का हेतु किस प्रकार हो सकता है ? इसके समाधान में कहा जाता है कि – यदि अदर्शन (अविद्या) मात्र को द्रष्टृदृश्यसंयोग का हेतु कहा जाए तो उक्त दोष उपपन्न हो सकता था। परन्तु योगदर्शन में अदर्शनमात्र

को संयोग के हेतु के रूप से स्वीकारा नहीं गया है। अपितु विपर्यय ज्ञान जनित वासना उक्त संयोग के हेतु के रूप में स्वीकृत है। अपने आश्रयभूत चित्त के साथ निरुद्ध हुई सर्गान्तरीय अविद्यावासना प्रकृति में विद्यमान रहती है। अतः उस अविद्यावासना से वासित प्रकृति तत्–तत् पुरुष के साथ संयुक्त होकर उसी प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करता है। अतएव प्रलयकाल में वासनारूप से अविद्या विद्यमान रहने से पुरुष मुक्त नहीं हो पाता है। किन्तु जब उसका शुभाशुभ कर्म भोगोन्मुख होता है, तब बुद्धि आविर्भूत होकर पुनः भोग का सम्पादन करने लगती है। इस प्रकार द्रष्टृदृश्यसंयोग का हेतुभूत अदर्शन विशेष वासनारूप ही है। अतः वार्त्तिक में कहा है कि :–

"यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य तच्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगो हेयहेतुः स्वस्वामी–त्यादिप्रकृतसूत्रेणोक्तः तस्य हेतुरविद्या चतुर्थविकल्परूपमदर्शनमेवेति सूत्रेण सहान्वयः।" (यो0वा0, 2/24)

हान

कोशशास्त्रों में हान पद का अर्थ त्याग है। परन्तु सांख्य–योग शास्त्र में हान पद मोक्ष अर्थ में परिभाषित है। कार्य तथा कारण में अभेद विवक्षित होने से दुःख के कारण अविद्यामूलक संयोग का अभाव होने से दुःखरूप कार्य का अभाव है, वह हान है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।"

(यो0सू0, 2/25)

अर्थात् हेय के हेतु जो अविद्या है उसके नष्ट हो जाने से संयोग का नाश हो जाता है। यही संयोग नाश ही हान है। और हान ही कैवल्य है।

हानोपाय

अविप्लवा विवेकख्याति हानोपाय है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।" (यो0सू0, 2/26)

विवेक का तात्पर्य पुरुष और प्रकृति का भेदविषयक ज्ञान अथवा ख्याति ही विवेकख्याति कहलाता है। योगशास्त्रानुसार अविप्लवा का तात्पर्य मिथ्याज्ञानादि की बाधाओं से रहित। अर्थात् मिथ्याज्ञानादि की

बाधाओं से रहित पुरुष और प्रकृति का भेदविषयक अपरोक्षात्मक ज्ञान ही अविप्लवा विवेकख्याति है। यद्यपि आगम तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा भी पुरुष और प्रकृति का भेदज्ञान सम्भव है तथापि उससे व्युत्थानात्मक प्रत्यय एवं तज्जन्य संस्कारों का नाश नहीं हुआ करता है। अपितु पुरुष और प्रकृति का अभेदात्मक ज्ञान की प्रतीति हो जाती है। अतः योगाङ्गों के अनुष्ठान से प्राप्त अविप्लवा विवेकख्याति ही हानोपाय है।

यहाँ पर अविप्लवा का तात्पर्य यह है कि जिसमें विप्लव अथवा विक्षिप्तता न हो, अर्थात् मिथ्याज्ञान रहित विवेकख्याति। तथा निरन्तर विवेकख्याति का होना ही अविप्लवा विवेकख्याति है। विवेकख्याति से सभी मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाता है तथा चित्त परवैशारद्य स्थिति को प्राप्त करता है। यह विवेकख्याति जब किसी भी परिस्थिति में खण्डित न होकर निरन्तर होता रहता है तब उसे अविप्लवा विवेकख्याति कहते हैं। कैवल्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक ही है।

यहाँ पर अविप्लवा विवेकख्याति हान का साक्षात् उपाय नहीं है अपितु वह अविद्याक्षय के द्वारा परम्परया हेतु है। इस विवेकख्याति का उदय अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान से होता है। अष्टाङ्गयोग अविद्या आदि अशुद्धि का क्षय करता हुआ ही विवेकज्ञान को उदय करता है।
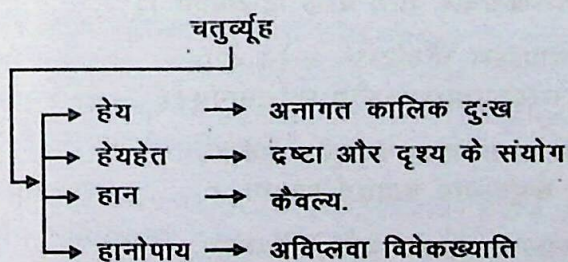
अथ मन्दाधिकारिणो योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते। तानि च यथोक्तस्य ज्ञानस्यापि साधनानीत्याशयेन सूत्रभाष्याभ्यां विवेकख्याति-साधनविधयैव निर्दिष्टानि तानि च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधय इति एतान्यष्टौ योगाङ्गानि भवन्ति। मन्दाधिकारिभिर्धारणा-दिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपः समग्रक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय-मित्याशयेन पिण्डीकृत्य सर्वमेव मन्दाधिकारिभ्यः उपदिश्यते। तत्रादौ यमनियमाद्यनुष्ठानं केवलं कर्मयोग उच्यते। उत्तममध्यमयोश्च

केवलज्ञानसमुच्चितकर्मणी प्रागेवोक्ते। तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्रत्येकं समुच्चयानुष्ठाने प्रमाणं विष्णुपुराणम्। यथा :–

"सनकसनन्दनादयो ब्रह्मभावनया युता।
कर्मभावनयाऽन्य च देवाद्याः स्थावराश्चराः।।

हिरण्यगर्भादिषु च कर्मब्रह्मोभयात्मिका।। इति।

तत्र यमनियमौ सूत्रभाष्याभ्यां प्रदर्शितौ, ईश्वरगीतावाक्यैरेवात्र प्रदर्श्यते। यथा :–

(यमाः)

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्।।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः।।

अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम्।
विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसैव कीर्त्तिता।।

सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः।।

परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथ बलेन वा।
स्तेयं तस्यानाचारणादस्तेयं धर्मसाधनम्।।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।।

द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया।
अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत्।।"

(नियमाः)

"तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम्।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः।।

उपवासपरकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्।।

वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजप बुधाः।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते।।

स्वाध्यायस्य त्रयो भेदाः वाचिकोपांशुमानसाः।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवादिनः।।

यः शाब्दबोधजननः परेषां श्रृण्वतां स्फुटम्।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम्।।

ओष्ठ्योः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः।
उपांशुरेष निर्दिष्ट साहस्रो वाचिकाज्जपः।।

यत्पदाक्षरसङ्गत्या परिस्पन्दविवर्जितम्।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः।।

यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति।
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम्।।

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम्।।

स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम्।।" इति।

अत्र यद्वैधहिंसायाः अहिंसात्वमुक्तं तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृहस्थादिकर्त्तव्यहिंसापरं वा। भाष्यकारैर्यज्ञादिषु हिंसाया अपि त्यागस्तु महाव्रतत्वेन विहितः। भाष्यकारोक्तं चेश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मार्पणरूपमीश्वरगीतोक्तपूजनादीनामुपलक्षणमिति।

अनयोर्यमनियमयोर्मध्ये यमानां निवृत्तिमात्रतया देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वसम्भवेन तन्निमित्तका महाव्रतसंज्ञा सूत्रकारेणोक्ता। नियमानां तु प्रवृत्तिरूपतया देशकालादियन्त्रिततत्वेन नास्ति महाव्रतत्वरूपोऽवान्तरविशेषः। इति यमनियमौ व्याख्यातौ।

आसनं व्याख्यायते। तत्र यावत्यो जीवजातयस्तासामुपवेशनेषु संस्थानविशेषाः सर्व एवासनानि भवन्ति। तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानीश्वरगीतादिषूक्तानि। यथा :-

"आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्मम‍र्धासनं तथा।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम्।।

ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे।
समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम्।।

एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि सत्तमाः।
आसीतार्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम्।।

उभे कृत्वा पादतले जानूर्वोरन्तरेण हि।
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम्।।" इति।

आसनस्य प्रपञ्चस्त्वत्र राजयोगप्रकरणत्वान्न क्रियते। आसननाड़ी–शुद्ध्यादयस्तु हठयोगादिग्रन्थेष्वशेषतो द्रष्टव्याः। आसनं व्याख्यातम्।

अनुवाद

अब मन्द/अधम अधिकारियों के लिए जो कि योग के मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुक (आरुरुक्षु) गृहस्थ आदि है, (उनके लिए) योग तथा योग के साधनों का वर्णन किया जा रहा है। वे साधन यथोक्त (विवेक) ज्ञान का भी साधन है इस आशय से सूत्र एवं भाष्य के द्वारा विवेकख्याति के साधन के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है। वे साधन जैसे – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। ये आठों योग के अङ्ग कहे जाते हैं। मन्द अधिकारियों के द्वारा धारणादि रूप अभ्यास और यम, नियम आदि रूप समग्र क्रिया (अष्टाङ्ग) योग को क्रमानुसार अनुष्ठान किया जाना चाहिए – इस आशय से एकत्रित करके ही समस्त मन्द अर्थात् अधम अधिकारियों के लिए (अष्टाङ्ग योग मार्ग का) उपदेश दिया जा रहा है। उनमें से सबसे पहले यम, नियम आदि का अनुष्ठान केवल कर्मयोग कहा जाता है। उत्तम और मध्यम (अधिकारियों) के हेतु केवल ज्ञान तथा उससे समुचित कर्म का वर्णन पहले कहा गया है। और वहाँ ज्ञान एवं कर्म का प्रत्येक समुच्चय के अनुष्ठान मे विष्णुपुराण प्रमाण है। जैसेः–

"सनक, सनन्दन आदि ब्रह्मभाव से युक्त है। अन्य देवता आदि, स्थावर तथा चर जाति कर्मभावना से युक्त है। और हिरण्यगर्भ आदि में ब्रह्मभाव तथा कर्मभाव उभयस्वरूप विद्यमान है।"

उन (अष्टाङ्गों) में से यम एवं नियम दोनों सूत्र एवं भाष्य के द्वारा दिखा दिए गये हैं। यहाँ पर ईश्वरगीता के वाक्यों के द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है।

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये सब संक्षेप से मनुष्यों की चित्तशुद्धि प्रदान करने वाले यम कहलाते हैं। कर्म, मन तथा वचन से सर्वदा समस्त प्राणी के प्रति क्लेश उत्पन्न न करना, यह श्रेष्ठ महर्षियों के द्वारा तो अहिंसा कहा गया है। अहिंसा से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है तथा अहिंसा ही परम सुख है। शास्त्रविधि से होने वाला हिंसा तो अहिंसा के रूप से कीर्त्तित है। सत्य के द्वारा सब कुछ पाया जा सकता है तथा सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। ब्राह्मणों ने यथार्थ कथन तथा यथार्थ आचरण को ही सत्य कहा है। चौर्य से अथवा बलपूर्वक हो दूसरे के द्रव्य का अपहरण करता स्तेय कहा जाता है तथा उसका आचरण न करना धर्म का साधन रूपक अस्तेय है। कर्म से, मन से तथा वाणी से भी सर्वदा तथा सर्वत्र मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। आपत्काल में भी द्रव्य का ग्रहण न करना अपरिग्रह कहा गया है और इसका पालन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।"

"तपः, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वरपूजन – ये संक्षेप से योगसिद्धि को प्रदान करने वाले नियम कहे गये हैं। उपवासपरक समस्त (व्रत) तथा अतिकष्ट कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों से शरीर के शोषण को योगियों के द्वारा उत्तम तप कहा गया है। पुरुषों के सत्त्व को शुद्ध करने वाले वेदान्त, शतरुद्रीय तथा प्रणव आदि के जप को पण्डित लोग स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय (प्रणव के जप) के तीन भेद हैं, जैसे :– वाचिक, उपांशु और मानसिक। वेद के अर्थ को जानने वालों ने इनमें उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य (श्रेष्ठ) को कहा है। जो (जो प्रणव जप रूप) स्वाध्याय दूसरे सुनने वालों को स्पष्टतया शाब्दबोध कराने वाला हो वह वाचिक कहलाता है। अब उपांशु का लक्षण यह है कि (जो प्रणव जप रूप स्वाध्याय) दूसरों को शाब्दबोध न कराये अपितु दोनों होठों में स्पन्दनमात्र हो वह उपांशु के रूप से निर्दिष्ट है। यह वाचिक जप से सहस्र गुण श्रेष्ठ है। जो (जो प्रणव जप रूप) स्वाध्याय पद और अक्षरों की सङ्गति के अनुसार बिना किसी प्रकार के परिस्पद के जो सभी (मन्त्र में आये हुए) शब्दों का चिन्तन करना है, उसे विद्वान् लोग मानस कहते हैं। पुरुषों का जो यदृच्छा से प्राप्त हुए पदार्थों में अलं बुद्धि होता है, उसे ऋषियों ने सुखलक्षणक सन्तोष कहा है। श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का शौच बतलाया है। मृत्तिका और जल से होने वाला बाह्य और मन कीं शुद्धि आभ्यन्तर शौच है। वाणी, मन, कर्म और शरीर से स्तुति, स्मरण, पूजा आदि के द्वारा भगवान् शिव में जो एकनिष्ठ भक्ति होती है वह ईश्वरपूजन है।

यहाँ पर जो वैध हिंसा का अहिंसात्व कहा गया है वह शौच, आचमन आदि त्याग न करने योग्य हिंसा पर है अथवा वह गृहस्थ आदि के कर्त्तव्य रूप हिंसा पर है। भाष्यकार से भी यज्ञादि में होने वाला हिंसा का त्याग को भी महाव्रत के रूप से बताया गया है। और भाष्यकार के द्वारा कहा गया जो ईश्वरप्रणिधान वह समस्त कर्मों का समर्पण रूप ईश्वरगीता में कहे गये पूजन आदि का उपलक्षण है।

इन दोनों यम और नियमों के बीच में यमों के निवृत्तिमात्र स्वरूपक होने से देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न हो जाते हैं तथा तन्निमित्तक हो जाने से सूत्रकार ने इनकी महाव्रत संज्ञा बताया है। नियमों का तो प्रवृत्तिरूपक होने से देश, काल आदि से परिच्छिन्न हो जाने से महाव्रत रूप अवान्तर विशेष नहीं है। इस प्रकार यम और नियम व्याख्यात हैं।

(अब) आसन की व्याख्या की जा रही है। उनमें जितने जीवों की जातियाँ हैं, उनके उपवेशन में जो आकार विशेष हैं, वे सब आसन होते हैं। उनमें से मुख्यरूप से तीन आसन ईश्वरगीता आदि में कहा गया है। जैसे :-

"स्वस्तिकासन, पद्मासन और अर्धासन – जो ये आसन कहे गए हैं वे सभी आसनों में श्रेष्ठ है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपना उभय पादतल को, दोनों जंघाओं के ऊपर रखकर बैठना ही उत्तम पद्मासन है। हे श्रेष्ठ, जब अपना एक पैर अन्य जंघा पर रखकर बैठे तब यह योगसाधनों में उत्तम अर्धासन कहा जाता है। जब दोनों पैरों के तलुओं को दोनों जाँघों में दबाकर बैठे तब उसे श्रेष्ठ स्वस्तिक आसन कहा जाता है।"

इस प्रसङ्ग में आसन की विस्तृत व्याख्या नहीं की जा रही है, क्योंकि यह पुस्तक राजयोग के प्रकरण की है। आसन, नाड़ीशोधन आदि तो हठयोग के प्रतिपादक ग्रन्थों में विशेषरूप से देखना चाहिए। (इस प्रकार) आसन (तृतीय अङ्ग) की व्याख्या कर दीं गई है।

रजनी

पहले भी कहा गया है कि योग की प्राप्ति तीन प्रकार के साधक ही कर सकते हैं। अतः साधकों के तीन कोटि हो जाने से योग के साधनों का तीन प्रकारत्व अभीष्ट हो जाता है। इनमें से उत्तम अधिकारियों के लिए अभ्यास और वैराग्य का अथवा ईश्वर प्रणिधान का और मध्यम

अधिकारी के लिए तपः, स्वध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूपक क्रियायोग का निर्देश दिया गया है। अब जो अधम अधिकारी है उनके लिए योग के साधन का उपदेश दिया जा रहा है। यह योगसाधन अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान है। जैसे -- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम

इन अष्टाङ्गिक साधनों में से सब से पहले यम का वर्णन किया जा रहा है। यह यम चित्त को शुद्ध कर देता है। अन्तःकरण के निर्मल होने पर साधक स्वकीय ध्येय के आकार में आकारित हो जाता है। इस यम को परिभाषित करते हुए सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि :-

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।" (यो0सू0, 2/30)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह -- ये पाँच यम कहलाते हैं।

अहिंसा

सब प्रकार से सर्वदा किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। अतः भाष्यकार ने भाष्य में कहा है कि :-

"तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।" (व्या0भा0, 2/30)

यहाँ पर वैदिक हिंसा का जो अहिंसात्व कहा गया है वह शायद सांख्य-योगाचार्यों को अभिमत नहीं है। क्योंकि यदि वैदिक हिंसा को अहिंसा कहना उनका अभिमत होता तो उन्होंने कथमपि आनुश्रविक विषयों को "अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त" नहीं कहा होता। जैसे कि सांख्यकारिका के द्वितीय कारिका में कहा गया है कि :-

"दृष्टवदानुश्रविकः स हि अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।" (सां0का0 2)

इसलिए भाष्यकार से भी यज्ञादि में होने वाली हिंसा के त्याग को भी महाव्रत के रूप से बताया गया है। अतः यहाँ पर जो वैध हिंसा का अहिंसात्व कहा गया है वह शौच, आचमन आदि त्याग न करने योग्य हिंसा पर है अथवा वह गृहस्थ आदि के कर्त्तव्य रूप हिंसा पर है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी इसी का समर्थन किया है, जैसे :-

"आश्रमविहितनित्यकर्माविरोधेनेति विशेषणीया, शौचादिषु क्षुद्रजन्तुहिंसाया अपरिहार्यत्वात्। अत एव योगिनां प्राणायामादिकं तत्पाप–क्षालनाय नित्यतया शास्त्रे विहितत्वात्।" (यो0वा0, 2/30)

सत्य

जो पदार्थ जिस स्वरूपक हो, उसके सम्बन्ध में उसी प्रकारक वाणी और मन का होना सत्य है। यदि अन्य व्यक्ति के प्रति कही हुई बात मिथ्या का अवबोध नहीं कराता है तो वह सत्य कहा जाता है। यह सर्वदा प्राणियों के उपकार के प्रति ही प्रयुक्त होता है। यदि यह कहा हुआ प्राणियों का अहित करे तो वह सत्य नहीं है अपितु असत्य ही है। वह पाप को देने वाला ही होगा। इस प्रकार यदि पुण्य का रूप धारण किये हुए इस पुण्याभास से नरक ही प्राप्त होता है। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि :–

"एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभि–धीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्।"

(व्या0भा0, 2/30)

वार्तिककार ने भी उदाहरण के द्वारा इसी को दिखाया है कि :–

"एषा वाक् प्रवृत्ता ब्रह्मणा निर्मिता, अतो यदि च, एवमपि यथाऽर्थाऽपि, अभिधीयमानोच्चार्यमाणेत्यादिरर्थः। सा च वाक् यथा दस्युभिः सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानम्, इत्यादिरूपा, पुण्याभासेन पुण्यवत्प्रतीयमानेन।"

(यो0वा0, 2/30)

वस्तुतः यहाँ पर सत्य शब्द से असत्य की निवृत्तिमात्र अभिप्रेत है। क्योंकि असत्य की निवृत्तिमात्र से ही सत्य की स्थापना होती है। अन्यथा असत्य भी यम के अन्दर अन्तर्भूत हो जाएगा।

अस्तेय

शास्त्रविहित कर्म का जो आचरण करें तथा जिसके मन में भी दूसरे की सम्पत्ति को लेने की इच्छा न हो उसे अस्तेय कहा जाता है। भाष्यकार के अनुसार –

"स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।" (व्या0भा0, 2/30)

ब्रह्मचर्य

उपस्थ संज्ञक गुप्तेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। अर्थात् मन, वचन और कर्म से भी सर्वदा तथा सर्वत्र मैथुन का त्याग करना अभिप्रेत है। यहाँ पर मैथुन – मिथुनस्य सहचरस्य संसक्तस्य भावः मैथुनम् – यह स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् किसी वस्तु के साथ राग प्राप्त न होना तथा ब्रह्म विषयक आचरण करना ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है। ब्रह्मवत् आत्मवद्वाऽऽचरणं यः करोति सः ब्रह्मचारी, तस्य भावः ब्रह्मचर्यम्– यह अर्थ हमारे मत में है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप द्रष्टा, ज्ञ, साक्षी आदि भाव को प्राप्त होना है। भाष्यकार ने भाष्य में इसके स्पष्टीकरण में कहा है कि :–

"गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।" (व्या0भा0, 2/30)

संसार में प्रायशः समस्त विद्वान् इसी तथ्य को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु हमे यह कुछ उचित प्रतीति नहीं होता है। क्योंकि बीर्य एक शारीरिक विकृति है। रस से रक्त, रक्त से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से बीर्य इस प्रकारक एक कड़ी आयुर्वेद शास्त्र में प्राप्त होता है। उस बीर्य का तो क्षरण होना ही है। चाहे वह ज्ञात में हो अथवा अज्ञात में हो। विज्ञान के अनुसार वह एक थैला जैसा है। उसके पूर्णता होने पर बाहर निकलना स्वाभाविक है। हाँ यह कहा जा सकता है कि उसका विनियोग मानसिक विकास में करना चाहिए। उसके संयम के विषय में दक्षसंहिता में कहा गया है कि :–

"ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।।

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।"

अर्थात् कामक्रियाओं का स्मरण करना, उनके विषय में बात करना, स्त्री के साथ काम–क्रीड़ा करना, स्त्री के अङ्गों को देखना, उसके साथ गुप्त बातचीत करना, भोगेच्छा, सम्भोगनिश्चय तथा सम्भोगक्रिया की निष्पत्ति – ये आठ प्रकार के मैथुन है। इस काल में इसका वर्जन करने के लिए कहना क्या युक्तियुक्त प्रतीत होता है। (इस विषय पर हमारा लेख "ब्रह्मचर्य" पठनीय है। ग्रन्थविस्तार के भय से इसका यहाँ पर विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।)

अपरिग्रह

विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग तथा हिंसा आदि दोषों के दर्शन के कारण उन विषयों का जो परित्याग है, उसे अपरिग्रह कहते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि आपत्काल में भी अन्य द्रव्य का ग्रहण न करना अपरिग्रह कहा जाता है।

ये अहिंसादि यम जब जाति, देश, काल तथा समय से अवच्छिन्न नहीं होते हैं तब ये सार्वभौम महाव्रत वाले कहे जाते हैं। जैसे सूत्रकार ने कहा है कि :-

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।"

(यो0सू0, 2/31)

अर्थात् एक मछली को पकड़ने वाला जब मछली से अतिरिक्त प्राणियों की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा करता है तो उसका यह अहिंसाव्रत सार्वभौम न होकर जात्यवच्छिन्न होता है। वह व्यक्ति जब यह कहता है कि तीर्थस्थल पर हिंसा नहीं करूँगा तो यह अहिंसाव्रत सार्वभौम न होकर देशावच्छिन्न होता है। जब वह यह कहता है कि चतुर्दशी के पुण्य दिवस पर हिंसा नहीं करूँगा तो यह अहिंसाव्रत सार्वभौम न होकर कालावच्छिन्न होता है। जब वह यह कहता है कि देव और ब्राह्मण के लिए हिंसा करूँगा किसी अन्य के लिए नहीं यह अहिंसाव्रत समयावच्छिन्न होता है। परन्तु योगी को इन जाति, देश, काल तथा समय से अनवच्छिन्न अहिंसादि यमों का ही सर्वथा पालन करना चाहिए। इस प्रकार के आचरण से वह सार्वभौम महाव्रत संज्ञा को प्राप्त करता है। अतः भाष्यकार ने कहा है कि :-

"मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना – न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना – देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदित-व्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते।" (व्या0भा0, 2/31)

चित्र
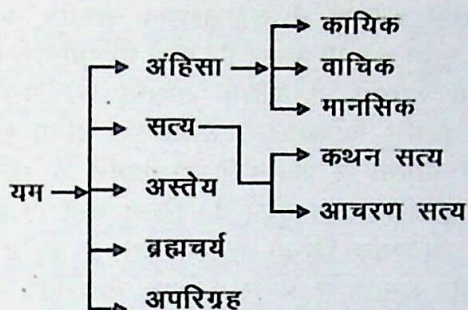
नियम

शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर का प्रणिधान – ये नियम कहे जाते हैं। इसलिए पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" (यो0सू0 2/32)

शौच

शुचेः शुचितायाः वा भावः शौचम्। स्थूल शरीर के दो प्रकार के शौच कहे गये हैं। जैसे – बाह्य शौच और आभ्यन्तर शौच। इनमें से मिट्टी, जल आदि से होने वाली तथा मेध्य भोजन से होने वाली शुचिता को बाह्य शौच कहा जाता है। चित्त मलों के प्रक्षालन को आभ्यन्तर शौच कहते हैं। इसीके स्पष्टीकरण में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"स्थूलशरीरस्यैव बाह्यान्तररूपेणादौ द्विविधं बाह्यशौचं दर्शयति– मृज्जलेति। मेध्यं गोमूत्रवाग्वादि, तेषां भक्षणं मेध्याभ्यवहरणम्। आदि शब्दादुपवासादयो ग्राह्याः। मानसमपि शौचमाह–आभ्यन्तरमिति। सत्त्वस्वभावस्य चित्तस्य मला रागद्वेषादयस्तेषां मैत्र्यादिना प्राक्षालनं प्रसाद इति प्रागुक्तमित्यर्थः।" (यो0वा0, 2/32)

अर्थात् गोमूत्र, यवागूभक्षण तथा उपवासादि से बाह्यशौच किया जाता है। और सत्त्वगुणप्रधान चित्त के राग, द्वेष आदि मलों का मैत्र्यादि की भावना से अपसारण प्रसादन कहलाता है। यह परिकर्म के चित्तप्रसाद के प्रसङ्ग में कहा गया हुआ है।

सन्तोष

प्राप्तसाधनों से अधिक साधनों के संग्रह की अनिच्छा होनां सन्तोष

कहा जाता है। यह पुरुषों का जो यदृच्छा से प्राप्त हुए पदार्थों में अलं बुद्धि होता है, उसे ऋषियों ने सुखलक्षणक सन्तोष कहा है। सन्तोष और अपरिग्रह में बहुत कम ही अन्तर है। जैसे प्राणयात्रारूप जीवन–निर्वाह के लिए अपेक्षित साधनों से अधिक साधनों को संगृहीत करने की भावना न होना अर्थात् यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट रहना सन्तोष है। और अपरिग्रह व्रत में विषयों में अर्जनादि दोषदर्शन से विषयस्वीकृति का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। किन्तु यहाँ मात्र जीवन–निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक किन्तु अत्यल्प साधनों का ग्रहण विहित है। यही अपरिग्रह और सन्तोष में अन्तर है। अतः वाचस्पति ने कहा है किः–

"प्राणयात्रामात्रहेतोरभ्यधिकस्यानुपादित्सा सन्तोषः। प्रागेव स्वीकरण–परित्यागादिति विशेषः।" (त0वै0, 2/32)

तपः

भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी, खड़े ही रहना–बैठे ही रहना, आकारमौन–काष्ठमौन आदि द्वन्द्वों को सह लेना तपः कहलाता है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने वार्तिक में कहा है कि शास्त्रानुमोदित पद्धति से अत्यधिक आनन्दपूर्वक अर्थात् द्वेषशून्य होकर द्वन्द्वों का सेवन करना तपः है। अतः उन्होंने कहा है कि :–

"शास्त्रोक्तरीत्या निर्द्वेषं द्वन्द्वसेवनमित्यर्थः।" (यो0वा0 2/32)

तप और व्रत में भी सामान्य अन्तर है। जैसे द्वन्द्वों को सह लेना तपः है। और शरीर की अनुकूलता के अनुसार कृच्छ्र चान्द्रायण तथा सान्तपन आदि द्वन्द्वों को सहना व्रत कहलाता है। यही इन दोनों में भेद है।

स्वाध्याय

मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन करना अथवा प्रणव का जप करना स्वाध्याय है। प्रणव का जप किस प्रकार होना चाहिए इस विषय में ईश्वरगीता में तीन प्रकार का जप कहा गया है। जैसे – वाचिक, उपांशु और मानसिक।

वाचिक

जो जो प्रणव जप रूप स्वाध्याय दूसरे सुनने वालों को स्पष्टतया शाब्दबोध कराने वाला हो वह वाचिक कहलाता है।

उपांशु

जो प्रणव जप रूप स्वाध्याय दूसरों को शाब्दबोध न कराये अपितु दोनों होठों में स्पन्दनमात्र हो वह उपांशु है। यह वाचिक जप से सहस्र गुण श्रेष्ठ है।

मानस

जो प्रणव जप रूप स्वाध्याय पद और अक्षरों की सङ्गति के अनुसार बिना किसी प्रकार के परिस्पद के जो सभी (मन्त्र में आये हुए) शब्दों का चिन्तन करना है, उसे विद्वान् लोग मानस कहते हैं। यह उपांशु जप से श्रेष्ठतर है।

वेद के अर्थ को जानने वाले इनमें उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य (श्रेष्ठ) को कहा है। यहाँ पर मोक्षप्रतिपादक शास्त्र जैसे गीता, भागवत आदि के पाठ को भी इन उपर्युक्त तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं।

ईश्वरप्रणिधान

परमगुरु के प्रति समस्त कर्मों का समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वर का चिन्तन ध्यानरूप होने से योग का अन्तरङ्ग साधन है। इसकी व्याख्या क्रियायोग के प्रसङ्ग में किया गया है। यह ईश्वर सामान्यरूप से ध्यान का विषयमात्र होने से तथा उसमें कर्त्तृत्वारोप होने से वह ध्येयरूप भी होता है। इसीको ब्रह्मार्पण भी कहा गया है। जैसे याज्ञवल्क्य में कहा गया है :–

"नाहं कर्त्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तात्त्वदर्शिभिः।।"

(उद्धृत यो०वा० 2/32)

चित्र
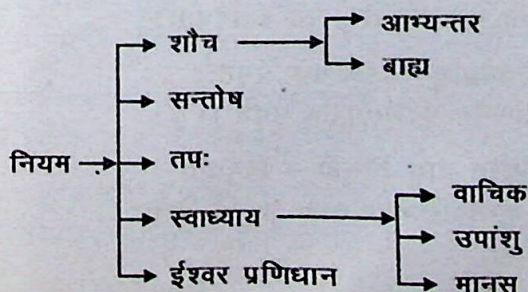
आसन

योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जिससे शारीरिक स्थिरता और सुख की प्राप्ति होती है उसे आसन कहते हैं। अतः उन्होंने कह है :–

"स्थिरसुखमासनम्।" (यो0सू0, 2/46)

भाष्यकार के अनुसार पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, समसंस्थानासन, स्थिरसुखासन, यथासुखासन आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि जितने जीवों की जातियाँ हैं उनके बैठने में जो आकार विशेष है वे सब आसन हैं। परन्तु इनमें से केवल तीन ही प्रमुख है। जैसे ईश्वरगीता में कहा गया है कि :– स्वस्तिकासन, पद्मासन तथा अर्धासन। अन्य आसनों के रहने पर भी एक योगी इन आसनों के अनुष्ठान से योग मोर्ग में अग्रसर हो जाएगा।

(प्राणायाम तथा प्राणायाम के भेद)

प्राणायामो व्याख्यायते। रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति त्रिविधः प्राणायामः। केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः। तदुक्तं नारदीये :–

"रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकं शून्यकस्तथा।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः।।

जन्तूनां दक्षिणा नाड़ी पिङ्गला परिकीर्त्तिता।
सूर्यदैवतका चैव पितृयोनिरिति स्मृता।।

देवयोनिरिति ख्याता इड़ा नाड़ी तु वामगा।
तत्राद्यदैदतं चन्द्रः श्रृणुध्वं गदतो मम।।

एतयोरुभयोर्मध्ये सुषुम्ना नाड़िका स्मृता।
अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मदैवता।।

वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः।
पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः।।

स्वदेहे पूरितं वायुं निगृह्य न विमुञ्चति।
सम्पूर्ण कुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भकः स हि विश्रुतः।।

न गृह्णाति न त्यजति वायुमन्तर्बहिःस्थितम्।
ज्ञेयं तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम्।। इति।

याज्ञवल्क्यादौ च :–

"पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्।
प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयोमध्यमोत्तमः।।

द्वादशमात्रः कनीयान्मध्यमो मात्राचतुर्विंशः।
उत्तमः षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदाः स्मृतास्तज्ज्ञैः।।

इत्याद्युक्तम्।

अत्र प्राणायामस्य पूरकादिक्रमकथनान्नारदाद्युक्तो रेचकादिक्रमो वैकल्पिक इति।

अस्मिंश्चतुर्विधप्राणायामे सूत्रकारेणायं विशेषः उक्तः आदौ यत्सहितं त्रयमभ्यस्यते, तच्च देशकालसंख्याभिरबधृतं भवति, तदा दीर्घसूक्ष्मसंज्ञकं भवति। तत्र रेचकस्य देशो नासिकाग्राद्बहिर्द्वादशाङ्गुल्यादिः। स च इषीकातूलादिक्रियया निश्चेयः। पूरकस्य चामस्तकमापादतलमाभ्यन्तरो देशः। स च पिपीलिकास्पर्शतुलस्पर्शेन निश्चेयः। कुम्भकस्य च रेचकपूरकयो– र्बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः उभयत्रैव प्राणस्य वृत्तिनिरोधात्। स चोक्तलिङ्गद्वयानुपलब्ध्या निश्चेयः। एवं देशेनाबधृतो व्याख्यातः। कालेनाबधृतो यथा "एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्त्तव्यः","एतावत्क्षणं पूरकः कर्त्तव्यः", "एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्त्तव्यः" इत्येवमङ्गीकृत्यकालैरवधृत इति। संख्याभिरवधृतस्तु यथा मात्राणां द्वादशादिसंख्यात्रयेणावधृत इति। अत्र देशादित्रयाणां प्राणायामपरिच्छेदकत्वे विकल्प एव न तु समुच्चयः, केवल– मात्राभिरपि प्राणायामपरिच्छेदस्य बहुशः स्मरणादिति। एवमभ्यासक्रमेण यदा देशकालसंख्याभिः परिच्छेदौ रेचकपूरकौ विनैव माससम्वत्सरादिस्थायी बहुदेशस्थायी कुम्भको भवति, स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः। तस्मिन्सत्याकाशगमनादिसिद्धयो जायन्ते। तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम् :–

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युः स वै केवलकुम्भकः।।

सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्।।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते।।

इत्यादिभिरिति।

प्राणायामे च मात्रा मार्कण्डेयपुराणादिषूक्ता :-

"निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा।
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृता द्वादशमात्रिका।।" इत्यादिभिः।

मात्रा प्रमाणम्। द्वादशमात्रिका द्वादशगुणिता। इदं च द्वादशमात्रिकत्वं त्रिष्वेव सामान्यवचनाद्। वसिष्ठसंहितादौ तु पूरकं षोडशमात्राभिः, कुम्भकं चतुःषष्टिमात्राभिः रेचकं तु द्वात्रिंशन्मात्राभिरित्युक्तम्। अतो मुख्यकल्पानु-कल्परूपेणात्र व्यवस्थेति।

अन्यश्च प्राणायामे विशेषो नारदादिषूक्तः।

"अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः।।" इत्यादिभिः।

तत्र जपमन्त्र ईश्वरगीतायामुक्तः :-

"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिजपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।।" इति।

योगियाज्ञवल्क्ये तु :-

"मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात्।
ओङ्कारेण तु कर्त्तव्यः प्राणायामो यथोदितः।।" इति।

केवलप्रणवजपोऽयं परमहंसानाम्। ध्यानं च पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणां स्मृतिषूक्तम्। परमहंसानां तु केवलंमेव ब्रह्म ध्येयमुक्तम् "प्रणवेन परब्रह्म ध्यायीति नियतो यतिः" इत्यादिस्मृतिभिरिति दिक्। इति प्राणायाम उक्तः।

अनुवाद

अब प्राणायाम की व्याख्या की जा रही है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक – ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं। और केवलकुम्भक चौथा प्राणायाम है। नारदस्मृति में कहा गया है :-

"मनीषियों के द्वारा रेचक, पूरक, कुम्भक और शून्य – इस प्रकार ये चार प्रकार के प्राणायाम कहे गये हैं। जीवों की जो दक्षिण नाड़ी है। वह पिङ्गला नाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। और भी यह सूर्य देवता वाली तथा पितृयोनी भी मानी गई है। वाम तरफ गतिमान् नाड़ी इड़ा है तथा यह देवयोनी के नाम से प्रसिद्ध है और उसके अधिष्ठिता देवता चन्द्र है, यह मेरा कहा हुआ सुनो। इन दोनों नाडियों में मध्य जो सुषुम्ना नाड़ी है वह अतिसूक्ष्म अत्यन्त गुह्य तथा उसके देवता ब्रह्मा है, यह जानो। वायीं नाडी से वायु को रेचक/निकाल करना चाहिए। रेचन के कारण इसे रेचक प्राणायाम कहा जाता है। दायीं नाड़ी से वायु को पूरण करना चाहिए। पूरण करने के कारण इसे पूरक प्राणायाम कहा जाता है। अपनी देह में पूरित वायु को निग्रह करते हुए नहीं छोड़ना तथा भरे हुए कुम्भ के समान स्थिर रहना ही कुम्भक प्राणायाम है। जब साधक शरीर के अन्दर स्थित वायु को न त्यागता है और न हि बाहर स्थित वायु का ग्रहण करता है तो इस यथास्थित प्राणायाम को शून्यक प्राणायाम कहा जाता है। और याज्ञवल्क्य आदि में :–

पूरक, कुम्भक और उसके बाद रेचक ये यथाक्रम कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम है – इस प्रकार तीन प्रकार के प्राणायाम है, ऐसा जानना चाहिए। इसके तत्त्व को जानने वालों ने इसके मात्राभेद बताए हैं, जैसे – कनिष्ठ, (जो कि) पूरक (है, वह) द्वादश मात्रात्मक, मध्यम, (जो कि) कुम्भक (है, वह) चौविश मात्रात्मक और उत्तम, (जो कि) रेचक (है, वह) छत्तीस मात्रात्मक है यह कहा गया है। यहाँ पर प्राणायाम के पूरक आदि क्रम के कथन से नारद आदि में कहे हुए रेचकादि क्रम वैकल्पिक है।

इस चार प्रकार के प्राणायाम में सूत्रकार पतञ्जलि से यह विशेषभाव से कहा गया है कि प्रारम्भ में जो एक साथ ही तीनों का अभ्यास करता है, और वह देश, काल तथा संख्या से धारित होता है, तब वह दीर्घ अथवा सूक्ष्म संज्ञक होता है। वहाँ नासिका के अग्रभाग से बाहर–बारह अङ्गुल रेचक का देश होता है। और उसका इषिका, तूल आदि से निश्चय करना चाहिए। मस्तक से लेकर पूरे पादतल तक आभ्यन्तर समस्त पूरक का देश है। और उसका चीटियों के स्पर्श के समान स्पर्श से निश्चय करना चाहिए। और कुम्भक का रेचक तथा पूरक इन दोनों के बाह्य और आभ्यन्तर देश है, उनके समुचित होने पर ही विषय है। दोनों ही जगह

प्राण के वृत्ति का निरोध ही कारण है। और उसका निश्चय उपर्युक्त लिङ्गद्वय के अनुपलब्धि से करना चाहिए। इस प्रकार देश से अवधृत (प्राणायाम) की व्याख्या कर दी गयी।

काल से अवधृत प्राणायाम जैसे :–

इतने समय तक रेचक करना चाहिए, इतने क्षण तक पूरक करना चाहिए तथा इतने क्षण तक कुम्भक करना चाहिए – इस प्रकार स्वीकार करते हुए काल से अवधृत प्राणायाम का निश्चय करना चाहिए। संख्या से अवधृत का तात्पर्य तो जैसे मात्राओं का द्वादशादि संख्यात्रय से अवधृत है। यहाँ तीनों देशों का प्राणायाम विभाजन में वैकल्पिकता है न कि समुच्चयता। क्योंकि केवल मात्राओं से प्राणायाम का विभाजन प्रायशः देखा जाता है। इस प्रकार अभ्यास के क्रम से जब देश–काल और संख्या से विभाजित रेचक और पूरक के बिना ही मास, सम्वत्सर आदि से स्थित बहु देश आदि में स्थित स्थायिरूप से होने से कुम्भक होता है और वह केवल कुम्भक नाम से चौथा प्राणायाम है। इसमें रहने से आकाश गमन आदि सिद्धियाँ होती हैं। वह वशिष्ठसंहिता में कहा भी गया है, जैसे :–

"रेचक तथा पूरक को त्याग करके जो सुख पूर्वक वायु का धारण किया जाता है, वह केवल कुम्भक प्राणायाम है – यह कहा जाता है। सहित हो अथवा केवल हो, कुम्भक का नित्य अभ्यास करना चाहिए। जब तक केवल की सिद्धि नहीं हुई है तब तक सहित का अभ्यास करना चाहिए। रेचक तथा पूरक से वर्जित केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाने पर, उस का इस तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है इत्यादि है। और प्राणायामों में जो मात्रा है वह मार्कण्डेय पुराण में जैसे कहा गया है – आँखों के मूँदने और खोलने में, हाथों से ताली बजाने में और एक लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। प्राणायाम की गणना के लिए ऐसी द्वादश मात्राएँ स्मृतियों में बताई गई हैं, इत्यादि के द्वारा।

मात्रा का तात्पर्य प्रमाण से है। द्वादशमात्रा का तात्पर्य द्वादशगुण से है। और यह जो द्वादश मात्रा है, वह तीनों में समान रूप से कहनी चाहिए। वसिष्ठसंहिता आदि में तो पूरक सोलह मात्रात्मक कुम्भक 64

मात्रात्मक और रेचक 32 मात्रात्मक कहा गया है। अतः मुख्यकल्प और अनुकल्प के रूप से यहाँ व्यवस्था किया जा रहा है।

और प्राणायाम में अन्य जो विशेष है, वह नारदादि में कहा गया है :–

"अगर्भ और सगर्भ – इस प्रकार प्राणायाम के दो भेद होते हैं। इनमें से दूसरा श्रेष्ठ है। अतः जप तथा ध्यान से रहित प्राणायाम अगर्भ और इनसे सहित सगर्भ प्राणायाम कहा जाता है, इत्यादि के द्वारा।

उसमें जप का मन्त्र ईश्वरगीता में कहा गया है। प्राणों का संयमन करते हुए व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्र के सहित गायत्री का जप तीन बार करना चाहिए। यह ही प्राणायाम कहा जाता है।

योगीयाज्ञवल्क्य में तो :–

"प्राण और अपान का निरोध करते हुए मात्राओं के प्रमाणानुसार प्रणव का जप करते हुए विधिपूर्वक प्राणायाम करना चाहिए।"

यह केवल प्रणव का जप परमहंस (योगी) के लिए है। और ध्यान पूरक आदि क्रम से नाभि हृदय और ललाट आदि में ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि रूपों का स्मरण स्मृतियों में कहा गया है। परमहंसों का तो केवल ब्रह्म ही ध्येय है यह कहा गया है। स्मृतियों में कहा गया है :–

"प्रणव से यति को नियतरूप से परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए।"

इस प्रकार प्राणायाम कह दिया गया।

रजनी

अष्टाङ्ग योग के चौथे क्रम में प्राणायाम है। इसका प्रारम्भ आसन की सिद्धि होने पर ही होता है। आसन की सिद्धि होने के पश्चात् जब साधक श्वास और प्रश्वास का गतिविच्छेद कराता है तो उस प्रविधि को प्राणायाम कहा जाता है। सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।"

(यो0सू0, 2/49)

अर्थात् श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति का अभाव अथवा विच्छेद होना प्राणायाम है। यहाँ पर गति शब्द का प्रधान क्रियारूप अर्थ अभिप्रत नहीं है, परन्तु स्वाभाविक श्वास–प्रश्वास का प्रतिषेध ही होना चाहिए। अतः वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"तथा च गतिशब्दार्थोऽत्र न विवक्षितः स्वाभाविकश्वासप्रश्वासयोः प्रतिषेधः प्राणायाम इत्येवार्थः।" (यो0वा0, 2/49)

यह प्राणायाम चार भाग से विभक्त है। जैसे – रेचक, पूरक, कुम्भक और केवलकुम्भक।

1. रेचक प्राणायाम

जिस गतिविच्छेद रूप प्राणायाम में प्रश्वासरूप रेचन के द्वारा प्राणात्मक वायु गति का विच्छेद होता है, उसे रेचक प्राणायाम कहा जाता है। पतञ्जलि तथा व्यास ने इसे बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहा है। जैसेः–

"यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः।" (व्या0भा0, 2/50)

2. पूरक प्राणायाम

जिस प्राणायाम में श्वास रूप पूरण के द्वारा प्राणात्मक वायु के गति का अभाव किया जाता है, उसे पूरक प्राणायाम कहते हैं। पतञ्जलि तथा व्यास ने इसे आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम कहा है। जैसे :–

"यत्र श्वासपूर्वक गत्यभावः स आभ्यन्तरः।" (व्या0भा0 2/50)

3. कुम्भक प्राणायाम

जिस प्राणायाम में श्वास एवं प्रश्वास – इन दोनों के गति का अभाव अभ्यासनिरपेक्ष होकर ही होताहै, उसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। पतञ्जलि और व्यास ने इसे स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम कहा है। जैसे :–

"तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति।"
(व्या0भा0, 2/50)

4. केवल कुम्भक प्राणायाम

बाह्य विषयक रेचक प्राणायाम का और आभ्यन्तर विषयक पूरक प्राणायाम का अपेक्षा न करने वाला चतुर्थ प्राणायाम केवल कुम्भक

प्राणायाम कहा जाता है। अतः अभ्यास के क्रम से जब देश, काल और संख्या के द्वारा विभाजित रेचक और पूरक के बिना ही मास तथा वर्ष आदि की गणना किए बहुत देश पर्यन्त स्थायी होता है, तब उस कुम्भक को केवल कुम्भक कहा जाता है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने इसे शून्यक प्राणायाम कहा है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है कि :—

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।" (यो0सू0, 2/51)

अर्थात् रेचक और पूरक की भूमि सिद्ध हो चुकने पर दोनों गतियों का पूर्ण निरोध हो जाना ही केवल कुम्भक प्राणायाम कहा गया है।

वस्तुतः रेचक प्राणायाम में किसी एकतर नासिका पुट से अत्यन्त मन्दगति से प्राणवायु को हृदय से बारह निकाल कर श्वास तथा प्रश्वास की गति का प्रतिषेध करना है। अतः नारदीय में कहा गया है कि :—

"बायीं नाड़ी से प्राणवायु को रेचन कर उसके गति का विच्छेद करना रेचक प्राणायाम है।"

पूरक प्राणायाम में भी किसी प्रकार नासिका पुट से अत्यन्त मन्दगति से बाह्यस्थित प्राणवायु को अपने हृदय के अन्दर खींच कर श्वास तथा प्रश्वास का प्रतिषेध अथवा विच्छेद किया जाता है। प्राणवायु का पूरण के कारण इसे पूरक प्राणायाम कहा जाता है। इन दोनों के अभ्यास से निरपेक्ष श्वास तथा प्रश्वास की गति का प्रतिषेध करना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। कुछ टीकाकारों के अनुसार यह कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार से विभाजित है। जैसे – सहित कुम्भक प्राणायाम और केवल कुम्भक प्राणायाम। अतः केवल कुम्भक मात्र कुम्भक प्राणायाम का अवान्तर भेद विशेष ही है। इन दोनों में से सहित कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार का है। जैसे :—

क0 सूर्यभेदन प्राणायाम।

ख0 उज्जायी प्राणायाम।

ग0 सीत्कारी प्राणायाम।

घ0 शीतली प्राणायाम।

ङ0 भस्त्रिका प्राणायाम।

च० भ्रामरी प्राणायाम।

छ० मूर्च्छा प्राणायाम।

ज० मुख्यसहित (प्लाविनी) प्राणायाम।

इनका विस्तृत विवेचन योगसिद्धान्तचन्द्रिका में प्राप्त है। अतः अधिक जानकारी हेतु तत्र अनुसन्धेय है।

रेचक प्राणायाम तथा पूरक प्राणायाम की अपेक्षा ने रखते हुए जो सुखपूर्वक वायु का धारण किया जाता है, उसे केवल कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। सहित कुम्भक प्राणायाम की तरह प्राणवायु की देश, काल और संख्या से परीक्षित दीर्घसूक्ष्मता की प्राप्ति इसमें नहीं होती है। इसलिए यह सहित कुम्भक प्राणायाम से पृथक् है। अब यह प्रश्न है कि यदि कुम्भक का नित्य अभ्यास करने का विधान होने से देश आदि की परिच्छिन्नता स्वतः दूर हो जाएगी तब स्वतः सिद्ध केवल कुम्भक प्राणायाम कहने का क्या तात्पर्य है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि अधिकारी के भेद से इसका भेद है। देशादि से अनवच्छिन्न होना मुख्य अधिकारी तथा अवच्छिन्न होना गौण अधिकारी ही है। केवल कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि होने पर वाक् सिद्धि, गतिसिद्धि, दृष्टि सिद्धि, श्रवणसिद्धि, परदेह प्रवेश सिद्धि, सुवर्णनिर्माण आदि अलौकिक सिद्धियों की सिद्धि होती है।

पुनः श्रीविज्ञानभिक्षु ने नारदादि में प्रतिपादित प्राणायाम के दो अवान्तर भेदों का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार यह प्राणायाम दो प्रकार का है। जैसे – अगर्भ प्राणायाम और सगर्भ प्राणायाम। इन दोनों में अगर्भ प्राणायाम जप, ध्यान के बिना सम्पादित होता है। और सगर्भ प्राणायाम जप, ध्यान के साथ ही किया जाता है। यह अगर्भ प्राणायाम से सौगुना श्रेष्ठ है। इसके पुनः तीन अवान्तर भेद है, जैसे – सधूमक सगर्भ प्राणायाम, सज्वाल सगर्भ प्राणायाम और प्रशान्त सगर्भ प्राणायाम है।

रेचक प्राणायाम, पूरक प्राणायाम और कुम्भक प्राणायाम के देश, काल तथा संख्या के द्वारा परीक्षा की जाती है। केवल कुम्भक प्राणायामं इन तीनों से अनवच्छिन्न होने से अंपरीक्षित है।

1. देश के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा

रेचक प्राणायाम में प्राणवायु बाहर के प्रदेश की ओर निःसृत होता है। नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल तक का देश रेचक का होता है।

चित्र

प्राणायाम

- रेचक
- पूरक
- कुम्भक
  - सहित
    - सूर्यभेदन प्राणायाम
    - उज्जायी प्राणायाम
    - सीत्कारी प्रणायाग
    - शीतली प्राणायाम
    - भस्त्रिका प्राणायाम
    - भ्रामरी प्राणायाम
    - मूर्च्छा प्राणायाम
    - प्लाविनी प्राणायाम
  - केवल
    - सोत्कर्ष →
    - सापकर्ष →
      - रचित
      - पूरित
      - शान्त
      - प्रत्याहार
      - उत्तर
      - अधर
      - सम
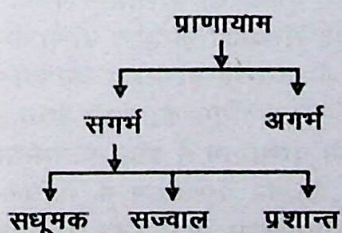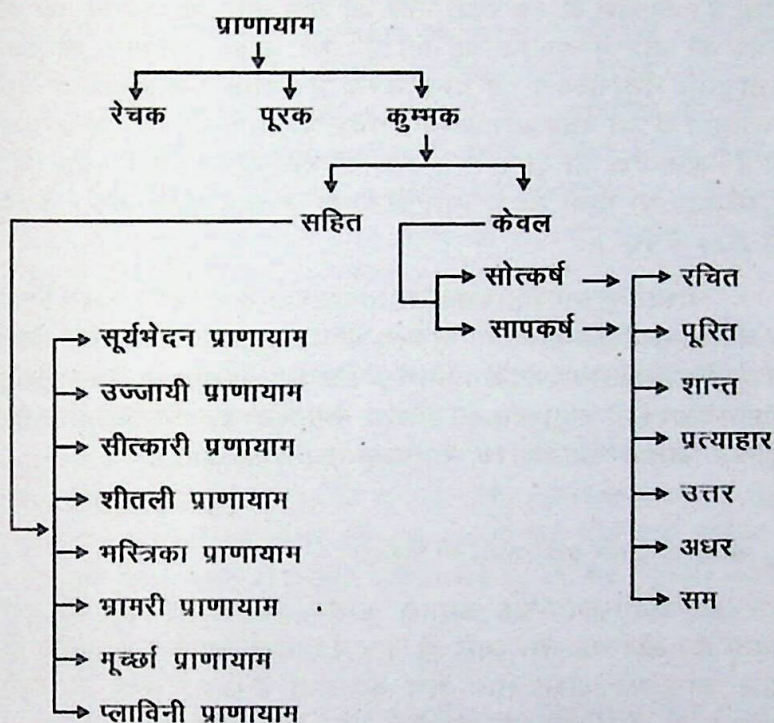
प्राणवायु कितने बाहर तक गमन कर रहा है – इसकी परीक्षा नासिका के अग्रभाग के समीप रखी हुई धुनी रूई से की जाती है। इस नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल दूरी पर रखी हुई रूई के हिलने से रेचक प्राणायाम के देश की दृष्टि से दीर्घसूक्ष्म समझा जाता है। पूरक प्राणायाम में प्राणवायु भीतर की ओर गतिमान् होकर प्रतिषेध होता है। मस्तक से लेकर पूरे पादतल तक आभ्यन्तर समस्त पूरक का देश है। इसमें श्वास

को अपने अन्दर की ओर खींचने से उसका स्पर्श चींटी सदृश प्रतीत होता है। अभ्यास से यह स्पर्श नीचे की ओर नाभि से पादतल तक और ऊपर की ओर मस्तकतक पहुँचता है। यह पूरक प्राणायाम इस प्रकार देशानुसार दीर्घसूक्ष्मता को प्राप्त करता है। रेचक प्राणायाम तथा पूरक प्राणायाम के जो बाह्य और आभ्यन्तर देशविशेष है, वह कुम्भक प्राणायाम ही है। अतः देश की दृष्टि से कुम्भक की दीर्घसूक्ष्मता का निश्चय पूर्वोक्त तूलक्रिया तथा चींटी सदृश स्पर्श से किया जाता है। वार्त्तिककार ने स्वयं ही कहा है कि :–

"नासाग्रात् प्रादेशद्वादशाङ्गुलहस्तपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः, स चेषीकातूलादिक्रियाविशेषः, पूरकस्य चापादतलमामस्तकमाभ्यन्तरो विषयः, स च पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेन निश्चेयः, कुम्भकस्य रेचकपूरकयोः बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्, स च तूलस्य क्रियया उक्तस्पर्शस्य चानुपलब्ध्या निश्चेय इति।"

(यो0वा0, 2/50)

2. काल के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा

प्राणायाम का नित्य अभ्यास करते रहने से प्राणायाम की अवधि बढती है। और यह क्षण आदि से ज्ञेय है। पलक झपकने में व्यतीत होने वाले काल का चौथा भाग क्षण कहलाता है। इन क्षणों के सीमित परिमाण से सम्बन्धित इतने क्षणपर्यन्त रेचकादि प्राणायाम किये जाते हैं। इस प्रकार काल की दृष्टि से प्राणायाम नियमित किया जाता है। मात्रासम्बन्धी द्वादशादि संख्याओं के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा की जाती है। यद्यपि संख्याओं के द्वारा भी प्राणायाम का काल नियमन किया जाता है तथापि प्रकारभेद से प्राणायाम का काल तथा संख्या सम्बन्धी अन्तर समझना चाहिए। जिस प्राणायाम में शङ्ख की ध्वन्यादि के द्वारा काल का निश्चय किया जाता है, वह प्राणायाम में मात्रिक परीक्षित सूक्ष्म माना जाता है। और जिस प्राणायाम में मात्रिक संख्याओं के द्वारा काल की परीक्षा की जाती है वह प्राणायाम संख्याओं के द्वारा परिदृष्ट माना जाता है।

3. संख्या के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा

मात्रा सम्बन्धी द्वादश संख्याओं के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा की जाती है। पलक झपकने में, हाथों से ताली बजाने में अथवा एक लघु

अक्षर के उच्चारण में व्यतीत होने वाले काल को मात्रा कहा गया है। और भी प्राणायाम के संख्यार्थ को बारह मात्रा वाला कहा गया है। अतः द्वादशगुणित जो निमेषादि रूप पदार्थ है, वह प्राणायाम की संख्या अर्थ में स्मृत है। और भी वसिष्ठ, योगी याज्ञवल्क्य आदि ने प्रणवादि को भी मात्रा कहा है। रेचकादि तीनों प्राणायामों में द्वादशमात्रा की ही जो परिमितता कथित है, वह अधम कल्प है, क्योंकि वसिष्ठसंहिता आदि में रेचकादि प्रत्येक प्राणायाम का मात्रासम्बन्धी संख्याभेद उक्त है। जैसे समाहित चित्त वाला योगी विधिवत् प्रणव को जानकर रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से तीनों प्राणायामों का अभ्यास करें।

बाहर से प्राणवायु को खींच कर उसे इड़ा नाड़ी के द्वारा उदर में पूरित करे। यह इड़ा नाड़ी वायीं नाड़ी तथा इसका देवता चन्द्र है। उसके बाद सोलह मात्राओं के साथ धीरे–धीरे उकार का स्मरण कर उसके बाद मकार मूर्त्ति का भी स्मरण करते हुए प्रणव का जप करना चाहिए। तदनन्तर पूरित वायु को चौंसठ मात्रा पर्यन्त धारण करें। पूरित वायु को प्रणव जप के साथ तब तक धारण करे जब तक् सम्भव हो सके। तदनन्तर उस वायुसहित पूरित प्रणव को छोड़ देना चाहिए। पिङ्गला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्रा पर्यन्त प्रणव के आद्य अक्षर का ध्यान करता हुआ साधक उसीमें समाहित हो जाता है।

इस प्रकार रेचक, पूरक और कुम्भक – प्राणायाम देश आदि के निर्धारण पूर्वक अभ्यास किया जाता हुआ दीर्घसूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त करता है। देशादि में से किसी एक के नियमानुसार प्रतिदिन अभ्यास किया जाता हुआ प्राणायाम क्रमशः कालबृद्धि के कारण दीर्घता को प्राप्त करता है और भी वायु का सञ्चार के अतिसूक्ष्मता के कारण सूक्ष्मता को भी प्राप्त करता है।

इस प्रकार देश, काल तथा संख्या से बाह्य विषय में नियमित किया गया रेचक अभ्यास के द्वारा देशादि सीमा से अतिक्रान्त किया जा सकता है। और इन देश आदि के द्वारा आभ्यन्तर देश में नियमित किया गया पूरक भी देश आदि की सीमा से अतिक्रान्त बनाया जा सकता है। इस प्रकार अतिक्रान्त होने वाले दोनों प्रकार के प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होते हैं। इन दोनों की भूमि की सिद्धि होने पर दोनों की गतियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। यही केवल कुम्भक

प्राणायाम है। यह केवल कुम्भक प्राणायाम रेचक और पूरक के देश से परिच्छिन्न नहीं होता है, क्योंकि इसका देश व्यापक है और न ही यह काल तथा संख्या की दृष्टि से सीमित है। यह तो यथेष्ट मास, सम्वत्सर आदि काल तक बना रहता है। अतः देश, काल तथा संख्या के द्वारा बाह्यविषयक रेचक प्राणायाम परिदृष्ट होता है और तत्पश्चात् देशादि के साथ ही अतिक्रमित होता हुआ केवल कुम्भक प्राणायाम सिद्ध होता है। ऐसे ही आभ्यन्तर विषयक पूरक प्राणायाम भी देश आदि से दृष्ट होकर उन देशादि के साथ ही अतिक्रमित हो जाता है। यह चतुर्थ प्राणायाम उभयथा अतिक्रमित होकर दीर्घसूक्ष्म होता है। प्राणायाम की अवान्तर कालिक भूमियों के जय पूर्वक कालक्रम से धीरे- धीरे न कि शीघ्रता पूर्वक उत्पन्न होने वाले चतुर्थ प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों का गतिविच्छेद होता है। कहा भी गया है कि :-

"अवान्तरकालिकभूमिकाजयात् कालक्रमेण न शीघ्रमुत्पद्यमानः, एवम्भूत उभयोः श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदश्चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः।"

(यो0वा0, 2/51)

स्तम्भवृत्तिवाला तृतीय प्राणायाम का गत्यभाव देश रूप विषय और उससे उपलक्षित काल तथा संख्या के द्वारा अनवधारित होता हुआ अधिक अभ्यास किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार देश, काल और संख्या से परीक्षित तृतीय प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म होता है। श्वास तथा प्रश्वास रूप रेचक और पूरक के देशादि संज्ञक विषयादि के निश्चय पूर्वक क्रमशः भूमिजय होने से रेचक तथा पूरक के अतिक्रम पूर्वक होने वाला प्राणवायु का गतिविच्छेद चतुर्थ प्राणायाम है। यह इन दोनों में भेद है। वार्तिक में कहा गया है कि :-

"स्तम्भवृत्त्याख्यतृतीयप्राणायामात् मिश्रकुम्भकादयस्य वैलक्षण्यमाह- तृतीयस्त्विति। तृतीयस्तु गत्यभावः स्तम्भवृत्तिर्विषयेन देशेन तदुपलक्षितकालसंख्याभ्यां चानालोचितोऽनवधारितः सकृदारब्धोऽभ्यासबाहुल्यं विनैवोत्पद्यमानश्च भवति, तथा स एव तृतीयो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्च भवतीति सामान्यविशेषाभ्यां तृतीयस्य रूपद्वयमुक्तम्। चतुर्थस्य तद्विपरीततामाह-चतुर्थस्त्विति। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोः रेचकपूरकयो- र्देशाख्यविषयाद्यवधारणानन्तरं क्रमिकभूमिजयाद्धेतोः पूरकरेचका- क्षेपपूर्वको गत्यभाव इत्ययं चतुर्थप्राणायामे तृतीयाद्विशेष इत्यर्थः।"

(यो0वा0, 2/51)

(प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान)

प्रत्याहार उच्यते। नारदीये :–

"विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः।
समाहृत्य निगृह्णाति प्रत्याहारस्तु स स्मृतः।।

अनिर्जितेन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढ़ात्मानं च तं विद्याद्ध्यानं चास्य न सिद्ध्यति।।" इति।

इन्द्रियाणां निग्रहश्च वशीकरणम्, स्वेच्छानुविधायीकरणमिति यावत्। प्रत्याहार उक्तः।

यमादीनि चैतानि प्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि देहप्राणेन्द्रियाणां निग्रहरूपाणि। इतः परं चित्तनिग्रहरूपं धारणाद्यङ्गत्रयमभ्यर्हितं वक्तव्यम्।

तत्र धारणोच्यते। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।" यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र चित्तस्य स्थिरीकरणमिति यावत्। देशाश्चोक्ता ईश्वरगीतायाम् :–

"हृत्पुण्ड़रीके नाभ्यां वा मूर्धि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्।।" इति।

ननु मूर्त्यादियोगे देशो घटते, सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्धब्रह्मयोगे वा कथं देशो घटतां ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेत्, अग्नेरिन्धनवत्स्वस्वोपाधिवृत्तेरेव तदुभयदेशत्वादिति।

यावत्कालावस्थितया धारणादित्रयं भवति, स काल ईश्वरगीतायामवधृत :–

"धारणा द्वादशा यामा ध्यानं द्वादशधारणाः।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते।।" इति।

द्वादश आयामाः प्राणायामा यावत्कालेन भवन्ति तावत्कालपरिमितं चित्तस्य यथोक्तैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः। धारणोक्ता।

ध्यानमुच्यते। तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानम्। यथा हृत्पुण्ड़रीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्, कारणोपाधौ चेश्वरचिन्तनमिति। ईश्वरगीतायामप्येतदेवोक्तम् :–

"देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिरास्थिता।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः।।" इति।

ध्यानसमाध्योरपि कालनियम उक्त एवेति। ध्यानमुक्तम्।

अनुवाद

प्रत्याहार कहा जा रहा है। नारदीय में जैसे :–

"हे मुनिश्रेष्ठ ! जो विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों को सब ओर से हटा कर निग्रह करता है वह प्रत्याहार के नाम से स्मृत है। जो इन्द्रियों के समूह का जय न करते हुए ध्यानमग्न होता है, उसे मूढ़चित्तवाला ही समझना चाहिए। उसका ध्यान की सिद्धि नहीं होती है।"

और इन्द्रियों का निग्रह का तात्पर्य (उन इन्द्रियों को) वश में करना है। अर्थात् अपने इच्छा के अनुसार उनके कारणत्व को स्वीकार करना है। इस प्रकार प्रत्याहार कह दिया गया।

और यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त योग के (पाँच) अङ्ग – देह, प्राण तथा इन्द्रिय के निग्रहस्वरूपक है। इस के बाद चित्त के निग्रहस्वरूपक धारणादि तीनों अङ्गों को प्रमुखरूप से कहा जाएगा।

उनमें से धारणा कहा जा रहा है। चित्त का प्रदेश विशेष में तदाकाराकारित हो जाना धारणा है। जिस देश विशेष में ध्येय को चिन्तन करना चाहिए उस प्रदेश में चित्त का स्थिरीकृत हो जाना ही धारणा से तात्पर्य है। और ईश्वरगीता में देश के बारे में कहा गया है कि:–

"हृत्पुण्ड़रीक, नाभि, मूर्धा अथवा पर्वतशिखर आदि इस प्रकार देशविशेषों में चित्त को बाँध देना धारणा है।

अब प्रश्न यह है कि मूर्त्ति आदि के योग से देश घटित होता है। परन्तु सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अथवा शुद्ध ब्रह्म के योग से ध्येय का अपरिच्छिन्नत्व हो जाने से उनमें यह देश कैसे घटित होगा। क्योंकि जिस प्रकार ईन्धन के रहने पर अग्नि की सत्ता मानी जाती है, उसी प्रकार उनकी उपाधि के रहने से ही इन देशों की देशता घटित हो जाएगी।

जितने समय तक चित्त की स्थिरता से धारणा आदि तीनों होते हैं, वह काल ईश्वरगीता में निश्चित किया गया है, जैसे :–

"बारह प्राणायाम की धारणा होती है। बारह धारणा के ध्यान तथा बारह ध्यान की समाधि कही जाती है।"

बारह प्राणायाम करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक चित्त की यथोक्त एकाग्रता ही धारणा है। (इस प्रकार) धारणा कह दी गयी।

अब ध्यान कहा जा रहा है। उस (धारणा) देश में इतर (ध्येय से अतिरिक्त) वृत्ति के व्यवधान से रहित जो ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह है वह ध्यान है। जैसे हृत्पुण्ड़रीक में चतुर्भुजधारी भगवान विष्णु आदि का चिन्तन अथवा बुद्धिवृत्ति में उससे व्यतिरिक्त चैतन्य का चिन्तन और कारणरूप उपाधि में ईश्वर का चिन्तन। ईश्वरगीता में भी यही कहा गया है। जैसे :–

"देश की अवस्थिति का आलम्बन करते हुए बुद्धि की जो अन्य वृत्तियों से असंस्पृष्ट वृत्ति का प्रवाह है, उस को विद्वान् लोगों ने ध यान कहा है।"

इस प्रकार ध्यान और समाधि का कालनियम कहा गया। इस प्रकार ध्यान कह दिया गया।

रजनी

अब प्रत्याहार आदि का निर्वचन किया जा रहा है।

प्रत्याहार

प्रत्याह्रियन्ते इन्द्रियाणि स्वविषयेषु – प्रति उपसर्ग तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक हृञ् धातु से निष्पन्न प्रत्याहार पद का तात्पर्य यह है कि इस के द्वारा इन्द्रियों की बाह्य–विषयाभिमुखता का निरोध किया जाता है। वस्तुतः आसन जो कि शरीरायास साध्य तथा प्राणायाम जो कि प्राणवायु का नियमन की साधना पूर्ण होने के अनन्तर साधक इन्द्रियों के स्वकीय विषयों में प्रवृति के निरोध हेतु प्रत्याहार का अनुष्ठान करता है। यद्यपि यम, नियम, आसन और प्राणायाम के अनुष्ठान से भी इन्द्रियों की स्वकीय विषयों में प्रवृत्ति का निरोध होता है तथापि फलबल से इन्द्रियनिग्रह प्रत्याहार का साक्षात्फल होने से – इन्द्रियनिग्रह ही प्रत्याहार का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रत्याहार को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने कहा है किः–

"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"
(यो0सू0. 2/54)

अर्थात् इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों के साथ संयुक्त न होने पर जो चित्त के रूप की तरह रूप का हो जाना है, उसे प्रत्याहार कहा जाता है। वस्तुतः योगी के ध्यान की अवस्था में चित्त की तरह निगृहीत इन्द्रियाँ

भी स्वतः प्रयत्न के बिना निरुद्ध हो जाती है। इसलिए जितेन्द्रिय योगी की इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने वाली कही गयी है। जिस प्रकार रानी मधुमक्खी के उड़ने पर अन्य मधुमक्खियाँ भी उसके पीछे पीछे उड़ती हैं, और बैठने पर बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त का निरोध होने पर स्वतः निरुद्ध हो जाती है। अन्यथा योगी की धारणा आदि में स्थिति नहीं हो सकेगी।

धारणा

जिस प्रदेश विशेष में ध्येय पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, उस चिन्तन के आधारभूत देशविशेष में चित्त को स्थापित कर एकाग्र बनाना धारणा कहलाता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :-

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।" (यो0सू0, 3/1)

यह देश क्या है ? और कितने प्रकार का है ? इसका समाधान वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु देते हैं। यह देश मुख्यतः दो प्रकार का है, जैसे बाह्य देश और आभ्यन्तर देश। इन दोनों में से नाभि, हृत्पुण्ड़रीक, वक्षस्थल, कण्ठ, मुख, नासिका के अग्रभाग, नेत्र, भ्रू के मध्यभाग, मूर्धा आदि आध्यात्मिक देश है। इनकी संख्या मुख्यतः दस है। इनमें निश्चित क्रम से धारणा के अभ्यास का विधान है। जैसे सब से पहले नाभि, तदनन्तर हृत्पुण्ड़रीक, तदनन्तर वक्षस्थल, तदनन्तर कण्ठ, तदनन्तर जिह्वाग्र, तदनन्तर नासिकाग्र, तदनन्तर नेत्र, तदनन्तर भ्रूमध्यभाग, तदनन्तर मूर्धा और सबसे अन्त में मूर्धा के ऊपर द्वादश अङ्गुल परिमित प्रदेश में चित्त की स्थापना की जाती है। जैसे कहा गया है कि :-

"प्राङ्नाभ्यां हृदये वाऽथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाऽग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूद्धसु।।
किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्त्तिता।।"

(ग0पु0, 1/218/21,22)

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पर्वतशिखर आदि बाह्य देश हैं। इनमें ईश्वर, देवता आदि का ध्यान किया जाता है।

यह धारणा कम से कम द्वादश प्राणायाम के काल से अवच्छिन्न होनी चाहिए। श्रीविज्ञानभिक्षु ने गरुड़पुराण की उक्ति को वार्त्तिक में कहा है कि :-

"प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्।।"

इससे न्यूनकाल विशिष्ट चित्त का देशबन्धरूप धारणा नहीं कहा जाता है। साधक अभ्यास द्वारा धारणा के काल को धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ चित्त को ध्यान के सोपान के योग्य बनाता है।

ध्यान

जिस हृत्पुण्ड़रीक, नाभि आदि धारणा के प्रदेशविशेष में जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकाररूप से प्रवाहित होने लगता है, तब उसे ध्यान कहा जाता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :-

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" (यो0सू0, 3/2)

अर्थात् जब ध्यानकाल में चित्त ध्येयवस्तु में अत्यन्त लीन हो जाता है, उस ध्येय के साथ एकरूपता को प्राप्त कर लेता है तब उस चित्त में भिन्नविषयक वृत्तियों का उदय नहीं हो पाता है। एकमात्र ध्येयविषयक वृत्ति का ही आविर्भाव और तिरोभाव होता है। इस प्रकार ध्यानकाल में वृत्त्यन्तरशून्य चित्त का ध्येय विषयक सदृश प्रवाह रहता है। अतः भास्वतीकार ने इसे तैलधारा सदृश अखण्डप्रवाह कहा है। जैसे :-

"प्रत्ययस्य वृत्तेर्या एकतानता तैलधारावदेकतानप्रवाहः।"
(भा0 3/2)

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार द्वादश प्राणायाम के काल से अवच्छिन्न धारणा के बारह गुना कालपर्यन्त चित्त की जो अखण्ड सदृशप्रवाहात्मक ध्येयाकारता है, वह ध्यान कहलाता है। अतः ध्यान बारह धारणा कालविशिष्ट है। यही इसका न्यूनतम काल हैं।

धारणा में चित्त को वृत्ति द्वारा देशविशेष में स्थापितमात्र किया जाता है, वहाँ ध्येय का चिन्तन अपेक्षित नहीं रहता है। अर्थात् मैं चतुर्भुजादि स्वरूप विषय का चिन्तन कर रहा हूँ – इस प्रकार के ध्येयविषयक बोध के साथ वृत्ति द्वारा देशविशेष में चित्त का बन्ध नहीं किया जाता है। ध्यानकाल में ध्येयाकार वृत्ति विद्यमान रहती है। इस समय ध्याता को ध्येयचिन्तन का पूर्ण अवबोध रहता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहां है कि :-

"हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्।।

देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिरास्थिता।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः।।"

(समाधि निरुपण)

समाधिरुच्यते। तदेवं ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद्ध्यानध्येय-ध्यातृभावदृष्टिशून्यं सद्ध्येमात्राकारं भवति, तदा समाधिरुच्यते। कालनियमश्चोक्त एव। ध्यानाच्चास्यान्योऽपि विशेषोऽस्ति। अत्यन्ता-भ्यर्हितादिविषयैरिन्द्रियसन्निकर्षे ध्यानस्य भङ्गो भवति, न तु समाधेरिति। तथा च स्मर्यते :—

"तदेवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे।" इति।

अत्र समाधिलक्षणे वृत्त्यन्तरनिरोधो न विशेषणं निरोधस्याङ्गित्वात्, किन्तूपलक्षणमेवेति मन्तव्यम्। एतत्कालीनेनैव वृत्तिनिरोधेन ध्येयसाक्षात्कारो जायत इत्यतः समाधिः सम्प्रज्ञातयोगस्य चरमाङ्गं भवति। ननु यदि समाधिकाल एव वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः सम्प्रज्ञातयोगो भवति, तदा निरोधस्यैवाङ्गित्वे किं नियामकमिति चेत्।

उक्तमेव पुनः स्मार्यते। चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विभुत्वात्प्रकाशस्वभावत्वाच्च दर्पणवत् तथाऽपि विषयान्तरावेश-दोषादभीष्टार्थो भाव्यमानोऽपि न साक्षात्कर्त्तुं शक्यते। अतो विषयान्तरवृत्तिनिरोध एव प्रतिबन्धकाभावरूपतया ध्येयसाक्षात्कारे साक्षात्करणं भवति। समाधिरपि तु तत्राङ्गमेव, साक्षात्कारे वृत्त्यन्तरनिरोधद्वारैव हेतुत्वादिति।

अनुवाद

(अब) समाधि कही जा रही है। वह ही ध्यान जब ध्येय के आत्यन्तिक आवेश के कारण ध्यान, ध्येय तथा ध्यातृ भाव दृष्टि से रहित होकर केवल ध्येय के आकार से आकारित होता है तब वह समाधि कही जाती है। (समाधि का) काल नियम तो कह दिया गया है। ध्यान से इसका अन्य भी विशेष (विशिष्टता) है। (वह यह है कि) अत्यन्त समीप

विषयों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष से ध्यान भङ्ग हो जाता है, न कि समाधि। तथा स्मृति में भी कहा गया है कि :–

"तब इस प्रकार आत्मा में चित्त के अवरुद्ध हो जाने पर (योगी) कुछ भी बाह्य अथवा आभ्यन्तर पदार्थ को नहीं जानता है। जिस प्रकार तीर बनाने वाले ने तीर में चित्त लगा रहने से अपने समीप से जाते हुए राजा को नहीं देखा।"

यहाँ पर समाधि के लक्षण में निरोध के अङ्गी होने के कारण, अन्य वृत्तियों का निरोध जो कहा गया है, वह विशेषण नहीं है, परन्तु उपलक्षण ही है, ऐसा मानना चाहिए। इस समय में होने वाले वृत्तियों के निरोध से ही ध्येय का साक्षात्कार हो जाता है, अतः इस कारण समाधि सम्प्रज्ञातयोग का चरम अङ्ग होता है।

अब यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि समाधि काल में अन्यवृत्तियों के निरोधरूपक सम्प्रज्ञात योग होता है, तब निरोध का अङ्गित्व में क्या नियामक तत्त्व है ?

(इसके समाधान में कहा जाता है कि) यह पहले भी कह दिया गया है अब उसका पुनः स्मरण कराया जा रहा है। चित्त स्वयं ही समस्त विषयों के ग्रहण में समर्थ है, क्योंकि वह दर्पण की तरह विभु तथा प्रकाश स्वभाववाला होता है। तथापि (वह चित्त) अन्य विषयों के आवेश रूपक दोष के कारण, अभीष्ट विषय का भावना करने पर भी उसका साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होता है। अतः अन्य विषयक वृत्तियों के निरोध ही प्रतिबन्धक का अभावरूपक होने से ध्येय के साक्षात्कार में साक्षात्करण हो जाता है। साक्षात्कार में अन्य वृत्तियों के निरोध द्वारा कारण होने से यहाँ समाधि भी अङ्ग ही है।

रजनी

ध्यान अभ्यास प्रयुक्त होने पर समाधि में परिणत हो जाता है। इसलिए ध्यान की चरमावस्था का नाम समाधि है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" (यो0सू0, 3/3)

अर्थात् जब निरन्तर अभ्यस्त ध्यान ध्येयमात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से रहित के सदृश हो जाता है, तब उसे समाधि

कहा जाता है। यह समाधि चित्तस्थैर्य की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। अतः समाधि विशिष्ट चित्त ध्येय विषय में इतना अनुरञ्जित रहता है कि उसके "अहम् इदं चिन्तयामि" इस प्रकार के ज्ञान का उदय नहीं होता है। इस समय ज्ञान की सत्ता रहने पर भी वह स्वरूपशून्य सा भासित होता है। ध्यान की यह शून्य सा स्थिति उसके ध्येय के आकार से मिश्रित हो जाने के कारण होती है। जैसे जल में मिला हुआ लवण जल के आकार का हो जाने पर उससे पृथक् प्रतीत नहीं होता है। समाधि का न्यूनतम काल द्वादश ध्यान के काल से अवश्य ही अवच्छिन्न होना चाहिए। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने इसके कालनिरुपण में कहा है :–

"ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।

तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते।।" (ग०पु०, 1/117/25)

काल के निर्णय निम्नोक्त प्रकार का है। जैसे :–

द्वादश याम – एक धारणा।

द्वादश धारणा – एक ध्यान, 144 याम।

द्वादश ध्यान – एक समाधि, 144 धारणा।

ध्यान का समाधि से यह भेद है कि ध्यान में ध्याता, ध्येय तथा ध्यान का एकत्रीकरण होने पर भी साधक को उनकी पृथकता का स्पष्ट अनुभव होता है। परन्तु समाधि में यह अस्पष्ट सा अनुभव होता है। केवल ध्येयवस्तु ही स्फुटरूप से अभिव्यक्त होता है।

(संयम तथा उसके भेद)

तदेवं धारणादित्रयं व्याख्यातम्। एतच्च त्रयमेकस्मिन्नालम्बने वर्त्तमानं संयम इत्युच्यते। तस्य च संयमस्य स्थूलादिक्रमेण विविक्तपरमात्मपर्यन्तं भूमिषु विनियोगः कर्त्तव्यः, "तस्य भूमिषु विनियोगः" इति सूत्रात्। "स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्।" इति स्मृतेश्च। अयं तूत्सर्ग एवेति प्रागेवोक्तम्। यतो यदीश्वरप्रसादात्सद्गुरुप्रसादाद्वाऽऽदावेव सूक्ष्म–सूक्ष्मभूमिकायामवस्थितियोग्यता स्वचित्तस्य दृश्यते, तदा न स्थूलादि–पूर्वपूर्वभूमिकया मुमुक्षुभिः कालक्षेपः कर्त्तव्यः, उत्तर–भूमिकारोहरूपस्य पूर्वभूमिकाप्रयोजनस्यान्यत एव सिद्धेः। तथा च स्मर्यते :–

"सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम्।
ज्ञानानां बहुता यैषा योगविघ्नकरी हि सा।।

इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्।
आ स कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात्।।"

अतोऽत्र प्रकृष्टाधिकारिणां परमात्मालम्बन एव संयम- प्रकारो-ऽस्माभिरुदाह्रियते। सत्त्वपुरुषान्यतालम्बनस्य तु संयमस्य प्रकारां-स्तच्छेषतयैव वक्ष्यामः। तत्र परमात्मसंयमे नारदीयहरिभक्तिसुधो-दयस्थप्रकारः कथ्यते। यथा :-

नारद उवाच

"विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने।
राजयोगं प्रबक्ष्यामि तं श्रृणुध्वं द्विजोत्तमाः।।

वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ्मुमुक्षुभिः।।

इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत्।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम्।।

एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः।
यतेतोपनिषद् दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने।।

पराक्प्रवृत्ताक्षगणं योगी प्रत्यक्प्रवाहयेत्।
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्तास्त्रौघमिवार्जुनः।।

स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः।
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत्।।

अन्तःस्थिते च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि।
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले।।

ततो वपुरहङ्कारबुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि।
तासां प्रवर्त्तयितरि स्वात्मनि स्थापयेन्मनः।।

मुधा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम्।
सर्वात्मनि चिदानन्दघने विष्णौ सुयोजयेत्।।

सलिले करकाश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः।
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते।।

अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः।
सर्वोपनिषदामर्थो मुनिगोप्यः परात्परः।।

एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः।
आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि।।

क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत्।
विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत्।।

एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत्।
न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत्।।

व्युत्थितोऽपि जगत्कृत्स्नं विष्णुरेवेति भावनम्।
निर्ममो निरहङ्कारश्चरेच्छिथिलसंसृतिः।।

एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि।
कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्त्तन्ते स्वतो द्विजाः।।

पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते।।

तद्देहपाते च पुनः सर्वगो न स जायते।
एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता।।" इति।

एतेषां वाक्यानां कठिनांशो व्याख्यायते। आदौ वेदान्तादिभ्य आत्मानात्मसामान्यं सविकारप्रकृतितो विवेकेनावधार्यमित्येवं साधनै-रात्मानं दृढं ज्ञात्वा श्रवणमननाभ्यां निश्चित्य ततः सर्वसङ्गं त्यजेत्, योगेनात्मसाक्षात्काराय परमहंसाश्रमी भवेत्। अद्वैतसिद्धिर्वक्ष्यमाणाऽ-द्वितीयसाक्षात्कारः कैवल्यनिष्पत्तिर्वा। संन्यस्य यत्कार्यं तदाह – एकान्त इति। उपनिषद्दृष्ट उपनिषत्सु श्रुतः मायाभिन्नः प्रकृतिविविक्तः। अथ वा मायाशब्देनात्र जीवात्मा विवक्षितः, ततोऽपि विवेकेनात्र परमात्मन एव ज्ञेयतया वक्ष्यमाणत्वात्परमात्मावरकत्वेन जीवेऽपि मायाशब्दप्रयोगौ-चित्याच्च। यत्प्रकारमाह – परागित्यादिना। पराक् बहिः। प्रत्यक् अन्तरम्। तन्मार्गं बहिर्मार्गम्। अनेन श्लोकेन प्रत्याहार एवोक्तः। यमादयः प्राणाया-मान्ताश्च बहिरप्रत्वेनानावश्यकत्वादत्र नोक्ताः। अथ वा 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादिवाक्येनैव सक्षेपाद्यमाद्यप्रचतुष्कमुक्तम्। प्रत्याहारमुक्त्वा संयमप्रकारमाह – ततो वपुरित्यादिद्वाभ्याम्। अत्र प्रथमश्लोकेनान्तर्यामिणः परमात्मनो देशे जीवात्मनि चित्तस्थापनरूपा धारणा प्रोक्ता। मुधेत्यादिश्लोकेन

च ध्यानसमाधी संक्षेपेणोक्तौ। तस्यार्थः, तं जीवात्मानं मुधा वृथा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादिषु स्वातन्त्र्याभिमानममलमुपाधिविविक्तत्वाच्छुद्धं सर्वेषां यथोक्तानां देहादिजीवान्तानामात्मनि परमात्मनि स्वोपाधिविविक्ते सुयोजयेद्। प्रलीनाखिलजीवकं परमात्मानं चिन्तयेदिति।

ज्ञेयत्वोपपादनाय प्रलयस्यैव तात्त्विकत्वं दृष्टान्तेनाह – सलिल इति। जीवो लोकैर्मोहादेव परमात्मनः पृथग्बुद्धौ विभक्ततया ज्ञायते, विभागस्य नैमित्तिकत्वेनाल्पकावस्थायित्वादिना च विकारवद्वाचारम्भणमात्रत्वात्। तत्त्वतस्तु जीवो युक्तो योग्याख्यसाधनवान् सलिलादौ करकादिरिव ब्रह्मणि लीयते यतस्तन्मयः, तत्कार्य इत्यर्थः। शेषं स्पष्टप्रायमिति दिक्।

तदेवमष्टौ योगाङ्गान्युक्तानि। तत्राङ्गतायामयं विशेषः सूत्रकारेणोक्तः, प्रत्याहारपर्यन्तपञ्चाङ्गापेक्षया धारणादित्रयं सम्प्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गं भवति, पञ्चाङ्गानां प्रायशो देहप्राणेन्द्रियसंस्काररूपत्वात्, धारणादित्रयस्य तु योगाश्रयचित्तसंस्कारत्वात्। किञ्च पञ्चाङ्गानामभावेऽपि प्राग्भवीयैस्तैः कदाचिद्योगी भवति, धारणादित्रयस्य तु सहभावेनैवाङ्गतया तेन विना योगो न जायत इति। तदेवं धारणादित्रयमन्तरा असम्प्रज्ञातस्य निरालम्बनत्वात्, जन्मान्तरीयेण धारणादिनौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां देशविशेषाणां भवप्रत्ययासम्प्रज्ञातयोगस्योक्तत्वाच्चेति दिक्।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे योगसाधननिरुपणे द्वितीयोंऽशः।

अनुवाद

इस प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि – इन तीनों की व्याख्या कर दी गयी। और जब यह तीनों एक ही आलम्बन में होते हैं तब इन्हें संयम कहा जाता है। और उस संयम का स्थूल आदि के क्रम से विविक्त परमात्मा पर्यन्त "तस्य भूमिषु विनियोगः" इस योगसूत्र के अनुसार उन भूमियों में विनियोग करना चाहिए। और स्मृति में भी :–

"स्थूल विषयों में विशेषभाव से जीते गये चित्त को तदुपरान्त सूक्ष्म विषय पर ले जाना चाहिए।"

यह तो उत्सर्ग (सामान्य नियम) है जैसा कि पहले भी कहा गया है। जब जो ईश्वर के प्रसाद से अथवा सद्गुरु की कृपा से प्रारम्भ में ही सूक्ष्म विषय की भूमिका में अपने चित्त की अवस्थिति की योग्यता

देखा जाता है। तब स्थूल आदि पूर्व–पूर्व की भूमियों में मुमुक्षु को समय नष्ट नहीं करना चाहिए। क्योंकि उत्तर की भूमिका पर आरुढ़ होने से ही पूर्व भूमि की सिद्धि का प्रयोजन अन्य (उपाय) से ही सिद्ध हुआ है – यह जानना चाहिए। और भी स्मृति में कह गया है :–

"अपने प्रयोजन की सिद्धि करने वाला एक ही सारभूत ज्ञान का उपासना (आश्रय ग्रहण) कर लेना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की यह जो अनेकता है, वह योग में विघ्न उत्पन्न करने वाली है। जो यह (मेरे लिए) जानने योग्य है, यह जानने योग्य है – इस प्रकार सोचते हुए तृषार्त्त की भाँति विचरण करता है, वह हजारों कल्पों में भी (अपने वास्तविक) ज्ञेय को प्राप्त नहीं कर सकता।"

अतः यहाँ पर उत्कृष्ट अधिकारियों लिए परमात्मा का आलम्बन ही संयम प्रकार हमारे द्वारा उदाहृत है। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप आलम्बन जो संयम का प्रकार है, वह शेषतया कहेंगे। वहाँ परमात्म–संयम के विषय में नारदीय हरिभक्तिसुधोदय में वर्णित प्रकार कहे जा रहे हैं। जैसे :–

"नारद जी ने कहा है, हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं चिदेकरस (परमात्मा) के बोधन के लिए सब प्रकार से विस्तार को छोड़कर राजयोग को विशेषभाव से कहूँगा, उसे सुनो। मुमुक्षु को वेदान्त, सत्पुरुषों के सङ्ग तथा सद्गुरु से और स्वयं भी यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए की प्रकृति से भिन्न आत्मा है। उसके बाद इस प्रकार आत्मा को दृढ़ता पूर्वक जानकर सब प्रकार के सङ्ग को छोड़ देना चाहिए। जो (आत्मा और परमात्मा के) अद्वैततत्त्व की अनुभूति के लिए प्रयासशील है, उसके लिए अन्य सङ्ग तो स्पष्टरूप से शत्रु ही है। (अतः) विद्वान् व्यक्ति एकान्त में अपने (सुखपूर्वक) आसन में बैठ कर धैर्य, पवित्रता, दक्षता एवं सावधानी पूर्वक उपनिषद् प्रतिपादित माया से भिन्न आत्मा के दर्शन हेतु प्रयास करता है। उसके बाद योगी को चाहिए कि बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली इन्द्रियों को उनको चारों तरफ से मार्ग रोककर भीतर की ओर ले जाये, जिस प्रकार कि अर्जुन ने छोड़े हुए वाणों को भी रोक लिया था। युद्ध से निवृत्त सैन्यों को (अपने साथ लेकर) राजा जिस प्रकार अन्तःपुर में प्रवेश करता है, वैसे ही इन्द्रियों को अपने–अपने स्थानों में स्थित कर धीरे–धीरे मन को भीतर

की ओर ले जाए। मनस् के भीतर स्थिर हो जाने पर इन्द्रियां अपने विषयों के प्रति नहीं जाती हैं, जिस प्रकार प्रेरक वायु के शान्त हो जाने पर बादल भी गतिशून्य हो जाते हैं। उसके बाद देह, अहङ्कार और बुद्धि से भिन्न एवं उनके प्रेरक अपनी आत्मा में मन को स्थापित करे। जो व्यर्थ ही अपने कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान करता था ऐसे, अब अभिमान से रहित आत्मा को सर्वात्मा चिदानन्दघन भगवान् विष्णु में सँम्यक् प्रकार से स्थित करें। जिस प्रकार ओला जल में, दीपक अग्नि में मिलकर तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव मूढ़ता के कारण अपने को पृथक् समझने वाला (जब तत्त्वज्ञान से युक्त हो जाता है तब) ब्रह्म में लीन हो जाता है। हे ब्राह्मण ! यह जीवात्मा और परमात्मा का योग ही कहलाता है। यह ही समस्त उपनिषदों का तात्पर्य, मुनियों से गोपनीय तथा श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर सभी को विश्वात्मा में लीन करने पर ब्रह्म से अभिन्न होकर निरन्तर चिदानन्दरूप से रहता है। इस प्रकार क्रम से इन कठिनांशरूप जगत् को लीनकर फिर वह आत्मविद् योगी विस्तृत विशिष्टता से युक्त (सूक्ष्म या कारण जगत्) का भी लय कर दें। इस प्रकार निरन्तर युक्तचित्त रहने वाला मुनि क्रमशः विष्णुमय हो जाता है (न कि साक्षात्), जिस प्रकार कि नमक का पहाड़ एक क्षण में जलरूप (में परिणत) नहीं हो सकता है। वह व्युत्थान काल में भी यह समस्त जगत् विष्णुमय ही है" इस प्रकार की भावना करते हुए ममत्व तथा अहङ्कार से रहित होकर संसार बन्धन को शिथिल करता है। हे द्विज ! इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से जिसकी बुद्धि परमात्मा में लीन हो गई है, उस तत्त्वदर्शी के कर्म बुद्धिपूर्वक ही स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकार के कर्म नहीं करता। उसके समस्त कर्म केवल पूर्वाभ्यास के कारण ही होते हैं। वह सर्वात्मा पाप और पुण्य से रहित होकर जीवन्मुक्त कहा जाता है। वह सबके अन्दर रहने वाला है, अतः उसका शरीर के नाश होने पर पुनः जन्म नहीं होता है। इस प्रकार अद्वैतबोध के द्वारा मैने तुम्हें मोक्षप्राप्ति का क्रम बतलाया।

(अब) इन वाक्यों में आये हुए कठिनतम अंशों की व्याख्या की जा रही है। प्रारम्भ में साधक वेदान्त आदि से आत्मा एवं अनात्मा के सामान्य स्वरूप को विकार युक्त प्रकृति से विवेकज्ञान से निश्चित करता है। इस प्रकार से साधनों से अपने आपको भलीभाँति जान कर और श्रवण तथा मनन से निश्चित करते हुए सबका सङ्ग (सब के साथ जो आसक्ति है उस) को त्याग

कर देना चाहिए। और योग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार के लिए (उसको) परमहंस आश्रमवाला (पूर्ण आसक्तिरहित योगी) हो जाना चाहिए। अद्वैतसिद्धि तो आगे कहे जाने वाले अद्वितीय साक्षात्कार अथवा कैवल्य की निष्पत्ति है। सन्यास होने पर जो कार्य करना चाहिए उसे कहते हैं कि – एकान्ते इति। जैसा कि उपनिषदों से देखा गया तथा उपनिषदों में सुना गया (वैसे उससे जानकर) माया से अलग अर्थात् प्रकृति से रहित अथवा माया शब्द से यहाँ पर जीवात्मा ही कहा गया है, उससे भी विवेकख्याति के द्वारा परमात्मा के ज्ञेयत्व के कारण आगे कहे जाने के कारण परमात्मा के आवरकत्व होने से जीवात्मा में भी (जीवात्मा के विषय में) माया शब्द का प्रयोग उचित है। (अब) यत्न प्रकार कहा जाएगा – पराग० इससे। पराक् से तात्पर्य बाह्य से है और प्रत्यक् से आन्तरिक। उस (पराक्) का मार्ग ही बहिर्मार्ग है। इस श्लोक के द्वारा प्रत्याहार ही कह दिया गया है। यम से लेकर प्राणायाम तक बहिरङ्ग साधन होने से यहाँ उनके आवश्यकता न होने से कहा नहीं गया है। अथवा "एकान्ते स्वासनो धीरः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा संक्षेप से यम आदि चारों अङ्गों को कह दिया गया है। प्रत्याहार को कहकर (अब) संयम के प्रकार को कहेंगे – "ततो वपु" इत्यादि दो श्लोकों से। यहाँ प्रथम श्लोक से अन्तर्यामी परमात्मा के देश जीवात्मा में चित्त को स्थित करना रूप धारणा कहा गया। मुधा – इत्यादि श्लोक से ध्यान और समाधि (के विषय में) संक्षेप से कहे गये हैं। उसका अर्थ है कि उस जीवात्मा को मुधा अर्थात् व्यर्थ ही जो कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि के अभिमान से युक्त है परन्तु स्वतन्त्र होने के कारण तथा उपाधि से रहित होने पर शुद्ध ही है अतः इस प्रकार वर्णित समस्त जीवात्माओं को जो देह से लेकर जीव पर्यन्त हैं आत्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये या मिल जाये। अर्थात् समस्त जीवों का जो लयस्थान जो परमात्मा है, उसका चिन्तन करना चाहिए।

(उस परमात्मा के) ज्ञेयत्व के उपपादन हेतु प्रलय का ही तात्त्विकत्व को उदाहरण के द्वारा कहते हैं – सलिल इति। जीव को जो परमात्मा से भिन्न कहते हैं, वे लोग मोह के कारण ही विभक्त के रूप से कहते हैं, क्योंकि विभाग (जो परमात्मा से जीवात्मा की विभक्त बुद्धि है) का नैमित्तिकत्व (निमित्तकारण होने) से अल्प अवधि तक रहने वाला है,

विकार की तरह, क्योंकि (किसी पदार्थ से आविर्भूत विकारों को उससे भिन्न बताना मात्र) शब्द का प्रयोग ही होता है। वास्तव में तो जीव योग नामक साधनों से युक्त होने पर, जिस प्रकार (यह जीव) ब्रह्म में लीन हो जाता है, क्योंकि यह जीव उससे युक्त है अर्थात् उसका कार्य है। शेष स्पष्टप्राय ही है।

इस प्रकार आठ प्रकार के योग के अङ्ग कह दिये गये हैं। उनके अङ्गत्व में सूत्रकार के द्वारा यह विशिष्टता कहा गया है, जैसे – प्रत्याहार पर्यन्त पाँच अङ्गों की अपेक्षा धारणा आदि तीन (अङ्ग) सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग (साधन) होते हैं। क्योंकि (यमादि) पाँचों अङ्गों का प्रायशः देह, प्राण, इन्द्रिय के संस्काररूप है तथा धारणादि तीनों का (योग के अङ्ग) तो योग के आश्रयभूत चित्त का संस्काररूप है। और फिर (यमादि) पाँच अङ्गों के अभाव होने पर भी (इनका) पूर्व जो जन्मों में अनुष्ठित होने से कदाचित् योगी (योग की सिद्धि) हो जाता है, धारणा आदि तीनों का तो अङ्ग रूप में सहभाव होने से उनके बिना योग नहीं होता है। वह इस प्रकार धारणादि तीनों के बिना (सम्पादित होने वाला) असम्प्रज्ञात योग का निरालम्बन योगत्व कहा गया है। भवप्रत्यय के उत्पन्न होते ही ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त होने कारण असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ बताया गया है। उसका कारण भी पूर्वजन्मों में उन (देवविशेषों) के द्वारा धारणा आदि को सिद्ध कर लेना है।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योगसाधन निरुपण रूपक द्वितीय अंश समाप्त हुआ।

रजनी

योगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि – इन तीनों की एक ही विषय में सहावस्थिति को संयम कहा गया है। अतः उन्होंने कहा है :–

"त्रयमेकत्र संयम।" (यो0सू0 3/4)

अतः एक ही आलम्बन में जब धारणा, ध्यान तथा समाधि होते हैं तब उसे संयम कहा जाता है। इस संयम का स्थूलादि के क्रम से विविक्त परमात्मा तक उन भूमियों में विनियोग होता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"तस्य भूमिषु विनियोगः।" (यो0सू0, 3/6)

जितभूमिक संयम का अव्यवहित अजितोत्तर भूमि में विनियोग करना चाहिए। क्योंकि पूर्व की भूमि को जीते बिना कोई भी योगी, उसके बाद वाली बीच की भूमि को लाँघकर अन्तिम भूमियों में संयम की स्थापना नहीं करता है। अब इसमें प्रश्न उठाया जा सकता है पूर्व भूमि को जीते बिना ही किस प्रकार उत्तर भूमि में संयम कदाचित् बताया जाता है। तब इसके समाधान में कहा गया है कि – ईश्वरप्रणिधान से अर्थात् एतज्जन्य ईश्वर के प्रसाद से जिसने उत्तर की भूमि को अर्थात् प्रकृतिपुरुष की भेदविषयिणी भूमि को जीत लिया है, उसके लिए परचित्तादि ज्ञानरूप नीचे की भूमियों में अथवा विराड् आदि स्थूल पदार्थों के साक्षात्कार के विषय में संयम करना करना उचित नहीं है। क्योंकि उसे अन्तिम भूमिका फल ईश्वरप्रणिधान रूप उपाय से प्राप्त हो चुका रहता है। अतः वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"ईश्वरप्रसादादादावेव वशीकृतप्रकृतिपुरुषविवेकादिभूमिकस्य योगिनो नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु परचित्तप्रत्ययादिषु प्रत्यये परचित्तज्ञान–मित्याद्यागामिसूत्रवाच्येषु विराड़ादिस्थूलेषु वा संयमो युक्तः इत्यर्थः।"

(यो०वा०, 3/6)

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योग–साधन के निरूपण में द्वितीय अंश की रजनी हिन्दी विशद व्याख्या समाप्त हुयी।

अथ योगसारसङ्ग्रेहे तृतीयोंशः प्रारभ्यते।

(संयम की सिद्धियाँ)

अतः परं संयमसिद्धयो वक्तव्या। सिद्धिकामानां ज्ञानादिप्रति-बन्धकतृष्णोपशमाय तत्तत्संयममनिष्पत्त्यवधारणाय च तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय। तथा च सूर्यसिद्धान्ते सूत्रम् :-

"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।" (यो0सू0, 2/50)

अत्र विषयभेदेन अनन्तानां संयमानामनन्ताः सिद्धयः। तासु कियत्य एव सूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः। अस्माभिस्तु ग्रन्थबाहुल्यभिया ताभ्योऽपि समुद्धृत्य सारतया एव सिद्धय उच्यते। तत्र संयमविषयसाक्षात्कारा एव संयमसिद्धितयाऽत्र कथ्यन्ते। संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कारहेतुतायाः सामान्यत एव लब्धत्वात् "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।" इति सूत्रेण, तथा "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।" इत्यादिसूत्रेष्वन्यविषयकसंयमसिद्धितयाऽन्यज्ञानादेः कथनाच्च। किन्तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तास्य संयमस्य विषयान्तरज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम्।

तत्र यस्मात्संयमादात्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिर्भवति तदुभय-मेवाभ्यर्हितत्वादादावुच्यते। तत्र सूत्रम् - "सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्" इति। भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पौरुषप्रत्यये संयमः कर्त्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते। तथा चायमर्थः, सत्त्वमुपाधिः कार्यकारणसाधारणः, पुरुषस्तद्वति साक्षी जीवेश्वरसाधारणः। तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोस्तमःप्रकाशवदत्यन्त-विधर्मणोरपि यः परस्परं प्रतिबिम्बवशात्प्रत्ययाविशेषः प्रत्यययो-र्विवेकाग्रहणमेकत्वभ्रमो वा शब्दाद्याकारवृत्तिरेव ज्ञानमित्येवं तप्तायःपिण्डवेदकतावृत्तिरूपः, स भोगो मुख्य इति विशेषः। तथा च भाष्यम् - "इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः" इति। तयोः प्रत्यययोर्मध्ये संहत्यकारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद् भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात्तदुभय विवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात्पुरुषज्ञानं कूटस्थविमुनित्यशुद्धमुक्तत्वादिना-

ऽत्मसाक्षात्कारो भवति। अखिलप्रपञ्चात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत्। तत्र परार्थत्वं स्वार्थत्वं च प्रत्यययोर्विवेकहेतुविधयोपन्यस्यते। तत्र परार्थत्वं परमात्रस्य भोगापवर्गसाधनत्वम्। स्वार्थत्वं स्वभोगापवर्गसाधनत्वम्। अत्र तु भोगो विषयानुभवमात्रमिति।

ननु पौरुषेयप्रत्ययः पुरुषस्य स्वरूपमेव, अतः कथं तस्मात्साक्षात्कार पर्यन्तस्य संयमस्य पुरुषज्ञानं फलं स्यात् तस्य प्रागेव सिद्धत्वादिति चेन्न। घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाकाशभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारात्, परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन च तत्साक्षात्कारस्य सिद्धिरूपस्य भिन्नत्वादिति दिक्।

अनुवाद

अब इसके बाद संयम (के द्वारा प्राप्त होने वाली) सिद्धियाँ कही जाएगी। सिद्धि की कामना रखने वाले साधकों का ज्ञानादि की प्रतिबन्धक कामनाओं को शान्ति करने के लिए और उन–उन संयम लभ्य सिद्धि के अवधारण हेतु तथा मुमुक्षुओं के लिए हेयत्व (त्याग करने योग्य) को प्रतिपादन के लिए (संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ कही जाएगी)। और भी सूर्यसिद्धान्त में यह सूत्र भी है कि :–

"उन (सिद्धियों) के प्रति वैराग्य होने पर समस्त दोषों के बीज का क्षय हो जाने के कारण कैवल्य (की प्राप्ति हो जाती है)।

(यो0सू0, 3/50)

यहाँ पर विषय के भेद से अनन्त संयमों की अनन्त सिद्धियाँ प्राप्त होती है। उनमें से कुछ ही सूत्र और भाष्य के द्वारा कही गयी हैं। हमारे द्वारा भी ग्रन्थविस्तार के भय से उनमें से सार (महत्त्वपूर्ण) सिद्धियों का ही संग्रह करके कहा जा रहा है। संयमों के अपने–अपने विषयों का साक्षात्कार कराने वाली सिद्धियों की प्राप्ति सामान्यरूप से होती है। जैसे – "जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि आश्रय के अनुसार विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार क्षीणवृत्ति वाले चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में जो तत्स्थितता और तदञ्जनता होती है, उसे समापत्ति कहा जाता है।" यो0सू0, 1/41

तथा सूर्य में संयम करने पर भुवनों का ज्ञान होता है। यो0सू0 3/26 इत्यादि सूत्रों में अन्य विषयों पर संयम करने पर उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धि के रूप में अन्य के ज्ञान आदि का कथन होने से

(सिद्धियाँ अनेक हैं)। परन्तु (यहाँ पर) अपने विषय के साक्षात्कार पर्यन्त उस संयम का अन्य विषय रूप ज्ञानादि ही सिद्धि के रूप से कथित है, ऐसा मानना चाहिए।

उनमें से जिस संयम से आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है, उन दोनों में ही (संयम और सिद्धि) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण प्रारम्भ में कहा जा रहा है। उस विषय में सूत्र भी है, जैसे – "अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का अभिन्नरूप से ज्ञान होना भोग है, यह भोग परार्थ होने के कारण तद्भिन्न स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है। भोग काल में ही पुरुष को बुद्धि से भिन्न जान कर पुरुष के प्रत्यय में ही संयम करना चाहिए – इस अभिप्राय से यहाँ पर भोग भी लक्ष्य है। और उसका यह अर्थ है कि – सत्त्व जो उपाधि है, वह कार्य और कारण दोनों में समान (रूप से घटित होता है)। पुरुष उस (सत्त्व) से बने हुए (संसार) में साक्षी है। (तथा यह पुरुष पद) जीव और ईश्वर – इन दोनों में समान (रूप से प्रयुक्त होता) है। उन दोनों अत्यन्त असङ्कीर्ण अन्धकार और प्रकाश की तरह अत्यन्त विरुद्ध धर्मों वाले होने पर भी जो परस्पर प्रतिबिम्ब के कारण प्रत्यय में अविशेष (एकत्व प्रतीति) के कारण अथवा दोनों प्रत्ययों में भेद का ज्ञान न कर सकने के कारण जो एकत्व का भ्रम होता है उसके कारण, शब्द आदि आकार वाला वृत्ति ही ज्ञान जो तप्त लौह पिण्ड की भाँति एकवृत्तित्व है, वह मुख्य भोग है, यही इसमें विशेष है। और भाष्य में कहा गया है – "इष्ट तथा अनिष्ट गुणों के स्वरूप का अविभक्त रूप से अनुभव भोग है।" इन दोनों प्रत्ययों के मध्य में परस्पर मिलकर प्रवृत्त होने के कारण परार्थ जो शब्दादि के आकारक उपाधि सत्त्व का प्रत्यय है, उससे अलग करके स्वार्थ ज्ञानरूप वाला पुरुष के प्रत्यय में उन दोनों के विवेकसाक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से पुरुष का ज्ञान अर्थात् कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध, मुक्त आदि रूप से आत्मा का साक्षात्कार होता है। अर्थात् समस्त प्रपञ्च से पुरुष की भिन्नता अनुभूत हो जाती है। यहाँ पर परार्थत्व और स्वार्थत्व इन दोनों प्रत्ययों की भिन्नता हेतु रूप से वर्णित है। इन दोनों में से परार्थत्व – परमात्र का भोग और अपवर्ग का साधनत्व है। और स्वार्थत्व – अपने ही भोग और अपवर्ग का साधनत्व है। यहाँ पर तो भोग विषयों का अनुभव मात्र ही है।

पौरुषेय प्रत्यय (बोध) ही पुरुष का स्वरूप है। अतः उससे साक्षात्कार पर्यन्त संयम का फल पुरुष का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

क्योंकि उसकी तो पहले ही सिद्धि हो जाती है (अगर ऐसा पूर्वपक्ष प्रश्न करें) तो यह उचित नहीं है। क्योंकि घटाकाश की तरह शब्दादिवृत्ति से अवच्छिन्न चिदाकाशभाग का साक्षात्कार वृत्तियों का विवेक करने पर होता है (जिस प्रकार घटावच्छिन्न आकाश का साक्षात्कार उस घट से विवेक करने पर ही होता है) और परिपूर्णत्व आदि रूप से समस्त प्रपञ्च का विवक करने के कारण होने वाला जो सिद्धिरूप परमात्मा का साक्षात्कार है, वह उससे भिन्न है।

रजनी

द्वितीय अंश में संयम के विषय में विचार किया गया है। अब प्रस्तुत तृतीय अंश में उस संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रसङ्ग उपस्थित होने के कारण उनके निर्वचन किया जा रहा है। चूँकि प्रत्येक योगी मोक्षहेतु योग का अनुष्ठान नहीं करता है, उनमें से कुछ लोक में प्रसिद्धि हेतु सिद्धियों की कामना रखते हैं तथा कुछ परोपकार हेतु तो कुछ कैवल्य हेतु, क्योंकि योग के अनुष्ठान से सिद्धियाँ स्वयमेव सामने उपस्थित हो जाते हैं। अतः सिद्धियों को कहना चाहिए। इसके निर्वचन में अन्य भी कारण है क्योंकि ये सिद्धियाँ योगमार्ग में प्रतिबन्धक है। योग के अनुष्ठान से इन सिद्धियों को तो योगी के पास आना ही पड़ता है। और वह योगी यदि उन सिद्धियों से प्रमत्त होकर उनका प्रयोग करता है, तो योगमार्ग से भ्रष्ट होना निश्चित है। अतः कैवल्य चाहने वाला योगी को चाहिए कि इन सिद्धियों का परित्याग पूर्वक योगमार्ग में अग्रसर होना चाहिए। यदि इन सिद्धियों का ज्ञान योगी को नहीं होगा, तो अज्ञानता के कारण उससे इनका उपभोग हो जाएगा, जिससे कि वह अपना निश्चित लक्ष्य कैवल्य के प्रति अभिमुख नहीं हो पाएगा। इसलिए मुमुक्षुओं के लिए इन संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ त्याग करने योग्य है। अतः योगसूत्र में भी कहा गया है कि :–

"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।" (यो0सू0, 3/50)

अर्थात् संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रति जब योगी का वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब उस योगी के समस्त दोषों के बीज क्षय हो जाता है। और इस कारण ही वह योगी कैवल्य को प्राप्त कर जाता है।

सिद्धियों के भेद

विषयों में भेद होने के कारण अनेक संयम है, तथा अनन्त संयम से सिद्धियाँ भी अनन्त होंगी। ये सिद्धियाँ विभूति के नाम से भी जानी जाती है। वस्तुतः इसकी दो कोटी है। क्योंकि योगसिद्धि हेतु द्विविध साधन का अधम अधिकारी प्रयोग करता है। जैसे – यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार – ये बहिरङ्ग साधन और धारणा, ध्यान तथा समाधि – ये अन्तरङ्ग साधन। इन दोनों के अनुष्ठान से सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनमें से बहिरङ्ग साधन साध्य विभूतियों की अपेक्षा अन्तरङ्गसाधनसाध्य विभूतियों की संख्या अधिक है। क्योंकि बहिरङ्ग सिद्धियाँ साक्षात् यमादिसाधन साध्य है। इससे सिद्ध होता है कि बहिरङ्ग साधनों की संख्या के अनुसार उतनी ही बहिरङ्ग सिद्धियाँ हैं। परन्तु अन्तरङ्ग सिद्धियाँ साक्षात् अन्तरङ्ग साधन साध्य नहीं है। क्योंकि ये सिद्धियाँ धारणा, ध्यान तथा समाधि – इन तीनों साधनों के विषयों के सिद्ध होने पर प्राप्त होती है। ये विषय प्रधान साधना है। अतः विषयों के अनन्त होने के कारण इनसे प्राप्त सिद्धियाँ भी अनन्त ही हैं। बहिरङ्गसाधन साध्य सिद्धियाँ एक–एक साधन साध्य है, परन्तु अन्तरङ्ग सिद्धियाँ समुदित रूप से त्रिसाधनसाध्य है। धारणा, ध्यान तथा समाधि – इन तीनों का एकत्र होने का सामान्य नाम संयम है। धारणादि का यह द्वितीय नामकरण फलघटित है। चित्त के संयमन के ये तीनों अन्तिम सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसलिए संयम के अभ्यास द्वारा वृत्तिगत दोष से रहित होते हुए शुद्ध एकाग्रचित्त में संयम का विषय अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित होने लगता है। प्रतिबिम्बितपदार्थगत अशेष–विशेष के साक्षात्कार के फलस्वरूप योगी को उसी के अनुसार विशिष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। अतः ये विभूतियाँ संयम के विषयों से सम्बद्ध रहती हैं।

ये सिद्धियाँ प्रमुखरूप से दो प्रकार की हो सकती हैं। जैसे – स्वविषयक तथा अन्यविषयक। संयमों के अपने–अपने विषयों का साक्षात्कार कराने वाली सिद्धि प्राप्ति सामान्यरूप से होती है। यही स्वविषयक सिद्धि कही जाती है। तथा अन्य विषयों पर संयम करने पर उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धि को अन्यविषयक सिद्धि कही गयी है। इनमें से स्वार्थसंयम से आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है। इसी को पतञ्जलि सूत्र में कहा है कि :–

"सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।" (यो०सू०, 3/35)

अर्थात् अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का अभिन्नरूप से ज्ञान होना भोग है। यह भोग परार्थ होने के कारण तद्भिन्न "स्वार्थ" में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है। क्योंकि चित्त के ज्ञात होने पर चित्त से भिन्नरूप से पुरुष का ज्ञान होने लगता है। बुद्धि का चरम सात्त्विक परिणाम ही यह विवेकख्याति है। इस प्रकार अत्यन्त विपरीत धर्म वाले बुद्धि और पुरुषरूप प्रत्ययद्वय की अभिन्नता अर्थात् अत्यन्त अभेदज्ञान होना भोग कहलाता है। प्रत्यय होने के कारण यह भोग बुद्धि की वृत्ति है। और बुद्धि की वृत्ति होने के कारण दृश्य भी है। इसकी दृश्यता के कारण यह भोग परार्थ है। अतः दृश्य परार्थ है तथा पुरुष है। कहा भी है पतञ्जलि ने :–

"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" (यो०सू०, 2/20)

जिसका स्वभूत अर्थ विद्यमान रहता है, वह स्वार्थ है। तथा वह स्वार्थ पुरुष विवक्षा के अनुसार स्वरूपावस्थित पुरुष भी होता है और तद्विषयक ज्ञान अथवा पौरुष प्रत्यय भी होता है। यहाँ पर स्वार्थ पौरुष प्रत्यय ही संयम का विषय है। अतः भाष्यकार व्यास ने भी कहा है कि:–

"यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययः।"
(व्या०भा०, 2/20)

इस प्रकार जड़–चेतनरूप बुद्धि–पुरुष के विषय में होने वाले प्रत्ययद्वय के मध्य में परार्थत्वरूप से बुद्धि का भेदज्ञान होने के कारण स्वार्थरूप पौरुषेय प्रत्यय में संयम करने से उस पौरुषेय प्रत्यय का साक्षात्कार होने पर पूर्णत्वादि अशेषविशेषों के साथ पुरुष का स्वतः ही अपरोक्षज्ञान होता है। अर्थात् पुरुषविषयक संयम का अभाग होने पर भी पुरुषज्ञान होता है। यद्यपि यह पौरुषेय प्रत्यय पुरुष से भिन्न नहीं है, तथापि श्रोत्रादि के समान दृश्योपराग से परिच्छिन्न अंश वाला ही यह पुरुषप्रत्यय होता है और पुरुष महाकाश की तरह व्यापक तथा अपरिच्छिन्न है। यही पुरुषप्रत्यय और पुरुष में भेद है। इसलिए पौरुषेयबोध में साक्षात्कारपर्यन्त कृतसंयम का अपरिच्छिन्नत्वादि अंशमात्र की अधि ाकता से पुरुषसाक्षात्काररूप फल कहा गया है।

(आत्मज्ञान रूप संयम के हेतु)

तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपयो नास्ति। अत आत्मजिज्ञासुभिरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्त्तव्य इति सांख्ययोगयोः रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम्। एतस्मिंश्च संयमे क्रियमाणे, अन्या अपि सिद्धयः पुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवातसंज्ञकाः। तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा, तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिश्रवणं श्रावणं श्रोत्रस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिस्पर्शनं वेदनं त्वगिन्द्रियस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिदर्शन–मादर्शश्चक्षुषः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिरसग्रहणमास्वादो रसनायाः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिगन्धग्रहणं वातो घ्राणस्य सिद्धिरिति। एताः षड़िन्द्रियस्य षट् सिद्धयः पुरुषसाक्षात्कारहेतोः प्रत्ययसमाधेरुपसर्गा अन्तरायाः। विषयभोगतः समाधिभ्रंशाद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य दृष्ट्यैव तु सिद्धयः पुरुषार्थसिद्धिरूपा उच्यन्ते, "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इति सूत्रात्। अत एता आत्मजिज्ञासुभिर्न कामनीयाः, कदाचिदकामत उपस्थिता अप्यपेक्षणीया इति। इत्यात्मज्ञानरूपसिद्धिहेतोः संयमस्य कथनम्।

अनुवाद

वह इस (उपर्युक्त) संयम को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार का कोई अन्य उपाय नहीं है। अतः आत्मजिज्ञासु योगियों से अणिमादि सिद्धि के हेतुभूत जो अन्य प्रकार के संयम है उनको छोड़कर इस (उपर्युक्त) संयम को करना चाहिए। यह सांख्य और योग के रहस्य अपने (श्रीविज्ञानभिक्षु) अनुभव से सिद्ध होने से उपदिष्ट है। इस (पुरुष) में संयम के करने पर, पुरुष ज्ञान के लिङ्गभूत (हेतुभूत) प्रातिभ, श्रावण, वेदनादर्श, आस्वाद, वात संज्ञक अन्य सिद्धियाँ भी प्रारम्भ में ही उत्पन्न हो जाती हैं। उनमें प्रत्यक्षकारण के बिना ही अचानक व्यवहित विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत तथा सूक्ष्म आदि विषयों के प्रकाश में सामर्थ्य ही प्रतिभा है। और उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रातिभ है, जो मन की सिद्धि (मानस सिद्धि कहलाती) है। वैसे व्यवहित आदि (शब्दों का) श्रवण श्रोत्र इन्द्रिय की श्रावण सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि (पदार्थ) का स्पर्शन, वेदन नामक त्वगिन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित (रूप आदि पदार्थों) को देख पाना आदर्श नामक चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि रस पदार्थों को ग्रहण

करना, आस्वाद नामक रसनेन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि गन्ध को ग्रहण कर पाना वात नामक घ्राणेन्द्रिय की सिद्धि है। ये छह इन्द्रियों की छह प्रकार की सिद्धियाँ पुरुषसाक्षात्कार में हेतुभूत प्रत्यय समाधि का उपसर्ग तथा बाधक है। विषयों के भोग के कारण समाधि से स्खलित बहिर्मुखी वृत्तिवाले व्युत्थित चित्त साधकों की दृष्टि से तो (ये) सिद्धियाँ पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली कही जाती है। "ये (प्रतिभादि सिद्धियाँ) समाधि में (समाहित चित्त के लिए) उपसर्ग (विघ्नस्वरूप) है, किन्तु व्युत्थित चित्त के लिए सिद्धिस्वरूप है" – इस योगसूत्र के सूत्र से (यही अर्थ द्योतित हो रहा है)। अतः ये आत्मजिज्ञासुओं के द्वारा कामना योग्य नहीं है। कदाचित् बिना कामना से उपस्थित होने पर भी उपेक्षा के योग्य है। इस प्रकार आत्मज्ञानरूप सिद्धि में हेतुभूत संयम का कथन हो गया।

रजनी

स्वकीय स्वरूप का साक्षात्कार होना ही स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम का फल है – यह ही सूत्रकार का अभिप्राय है। पुरुषसाक्षात्कार के अतिरिक्त स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम से पुरुष ज्ञान के हेतुभूत प्रतिभा आदि अन्य सिद्धियों की प्राप्ति होती है। पतञ्जलि ने कहा भी है कि :–

"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते।" (यो0सू0, 3/36)

अर्थात् उस स्वार्थविषयक संयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्त्ता नामक सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उपदेशादि की अपेक्षा किये बिना ही सूक्ष्मादि पदार्थों का होने वाला मानस यथार्थ ज्ञान प्रतिभा है, और उस सामर्थ्यविशेष को प्रातिभ कहा जाता है। इस प्रातिभ सिद्धि से सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत पदार्थों का ज्ञान होता है। व्यवहित आदि शब्दों का श्रवण श्रोत्र इन्द्रिय की श्रावण सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि पदार्थ का स्पर्शन, वेदन नामक त्वगिन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित रूप आदि पदार्थों को देख पाना आदर्श नामक चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि रस पदार्थों को ग्रहण करना, आस्वाद नामक रसनेन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि गन्ध को ग्रहण कर पाना वात नामक घ्राणेन्द्रिय की सिद्धि है। भाष्यकार व्यास ने भी कहा है कि :–

"प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्। श्रावणाद्दिव्य–शब्दश्रवणम्। वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः। आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित्। आस्वादा–द्दिव्यरससंवित्। वार्त्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमिति।" (व्या0भा0, 3/36)

ये प्रातिभादि सिद्धियाँ स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम द्वारा पुरुष का साक्षात्कार होने पर पुरुषसाक्षात्कार का लिङ्गस्वरूप तथा विवेकज्ञान की पूर्वरूप से प्रादुर्भूत होती है। ये पुरुषसाक्षात्कार में हेतुभूत प्रत्यय समाधि का उपसर्ग तथा बाधक हैं। विषयों के भोग के कारण समाधि से स्खलित बहिर्मुखी वृत्ति वाले व्युत्थित चित्त साधकों की दृष्टि से तो ये सिद्धियाँ पुरुषार्थ को सिद्ध कराने वाली कही जाती हैं। इसलिए सूत्रकार ने कहा है :–

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।" (यो0सू0, 3/37)

अतः ये प्रातिभादि सिद्धियाँ समाहित चित्तवाले के लिए उत्पद्यमान उपसर्ग है, क्योंकि ये पुरुषज्ञान पर प्रतिकूल प्रभाव ड़ालती हैं। परन्तु व्युत्थित चित्तवाले के लिए सिद्धिरूप हैं। ये प्रातिभादि स्वार्थसंयम रूप पुरुषैकाग्रता की विरोधिनी होने से असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति के लिए विघ्नकारिणी हैं। अतः इनका त्याग सर्वथा उचित ही है।

यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि ये प्रातिभादि सिद्धियाँ किसके अनन्तर प्रादुर्भूत होती है ? इसके उत्तर में वाचस्पति आदि टीकाकार कहते हैं कि अभ्यस्यमान स्वार्थविषयकसंयम से जब तक पुरुषज्ञानरूप मुख्य फल प्राप्त नहीं होता है, तब तक अभ्यास काल में गौणरूप से प्रातिभादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। अतः तत्त्ववैशारदी में कहा है कि :–

"स च स्वार्थसंयमो न यावत्प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्तयति तावत्। तस्य पुरस्ताद्या विभूतीराधत्ते ताः सर्वाः दर्शयति।"

(त0वै0, 3/37)

परन्तु श्रीविज्ञानभिक्षु ने स्वार्थविषयक संयम के पुरुषसाक्षात्काररूप मुख्य फल के पश्चात् प्रातिभादि सामर्थ्यविशेष के प्रादुर्भाव को स्वीकार किया है। अतः वार्त्तिक में कहा है कि :–

"ततः पुरुषसाक्षात्काराद् मन–आदीनां प्रातिभादिसंज्ञिकाः सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपाः भवन्ति, यस्मात्सामर्थ्यान्मन–आदिषु व्यवहितादिज्ञानं भवतीत्यर्थः।" (यो0वा0, 3/37)

(ग्राह्य संयम तथा उसके स्वरूप)

इतः परं वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतसम्प्रज्ञातानां हेतवो ये ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्राह्यग्रहण-ग्रहीतृक्रमेणैवोत्सर्गतः संयमोत्पादात्प्रथमं ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिरुच्यते। ग्राह्याणि भूतानि। तानि च कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति। रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि। तत्र शब्दादयो विशेषा आकाशादयश्च भूतानां स्थूलं रूपम्। आकाशत्ववायुत्वादिसामान्यपञ्चकं च भूतानां स्वरूपाख्यं रूपम्। शब्दादितन्मात्रपञ्चकं तु सूक्ष्मं रूपम्। अनुगच्छतीत्यन्वयः, सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका प्रकृतिरन्वयाख्यं रूपम्। गुणगतः पुरुषार्थो भोगापवर्गरूपोऽर्थवत्त्वाख्यं रूपमिति। एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेषु भूतेष्वेतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तैरेव रूपैर्भूतजयरूपा सिद्धिर्भवति। "स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः" इति सूत्रात्। जयश्च वशवर्त्तित्वं स्वेच्छानुसारतः प्रवर्त्तनम्। यद्यप्यहङ्कारबुद्धी अपि भूतकरणत्वेन भूतानुगततया भूतानां रूपं भवतः, तथाऽपि यज्ञादिफलवत्संयमसिद्धेर्वाचनिकतया भूतेषु बुद्ध्यहङ्काररूपाभ्यां संयमस्य न तदुभयजयः फलमित्याशयेन तदुभयरूपसंयमो भूतेषु नोक्तः।

अनुवाद

इसके बाद वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग के हेतुभूत जो ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य पदार्थों में संयम तथा उनके (उस संयम जन्य) सिद्धियाँ कही जाएँगी। इन (आलम्बनों) में ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता के क्रम से स्वाभाविक रूप से संयम के उत्पन्न होने के कारण प्रथम ग्राह्यसंयम की सिद्धियाँ कही जा रही हैं। ग्राह्य के विषयभूत है। वे कार्य और कारण के तथा धर्म और धर्मी के अभेद के कारण पाँच रूपवाले होते हैं। वे रूप जैसे :– स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व संज्ञा वाले हैं। उनमें से शब्द आदि विशेष गुण वाले आकाशादि, (इन) भूतों के स्थूलरूप हैं। आकाशत्व, वायुत्व आदि (पाँच भूतों) में जो सामान्य पंचक है, वह भूतों का स्वरूप नामक रूप है। शब्द आदि पाँच तन्मात्र तो (इन भूतों का) सूक्ष्मरूप है। अनु गच्छति इति (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) जो पीछे पीछे जाता है – यह अन्वय है, सत्त्व आदि तीनों गुणस्वरूप वाला प्रकृति अन्वय नामक रूप है। गुण में रहने वाला पुरुषार्थ जो कि भोग और अपवर्ग रूपवाला है, वह अर्थवत्त्व नामक रूप है। ये पाँचों रूपों के

संघातरूप पाँचों भूतों में (इन) पाँचों रूपों के द्वारा साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से उन रूपों से भूतजय रूप सिद्धि होती है। "भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व – रूपों में संयम करने से योगी को भूतजय नामक सिद्धि होती है" इस सूत्र से (यह तात्पर्य प्राप्त होता है) और जय – इन पदार्थों का वश में हो जाना है, अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त होना है। यद्यपि अहङ्कार और बुद्धि भी भूतों के करण के रूप से भूतों में अनुगत होने के कारण (ये दोनों) भूतों के रूप होते हैं। तथापि यज्ञ आदि से प्राप्त फल के सदृश संयम की सिद्धि को कहते हुए, भूतों में बुद्धि एवं अहङ्कार रूप से संयम करने से उन दोनों का जय फलरूप है, इस आशय से उन दोनों रूप वाला संयम भूतों में नहीं कहा गया है।

रजनी

अब सम्प्रज्ञात योग के हेतुभूत जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों में संयम तथा उस संयमजन्य सिद्धियों के विषय में निर्वचन किया जाएगा। ये संयम तीन प्रकार के हैं तथा उनकी सिद्धियाँ भी तीन प्रकार की हैं। जैसे :–

क0 ग्राह्यसंयम।

ख0 ग्रहण संयम।

ग0 ग्रहीता संयम।

क0 ग्राह्य संयम तथा तज्जन्य सिद्धियाँ :–

अब ग्राह्य संयम तथा ग्राह्यसंयमजन्य सिद्धि के विषय में कहा जाएगा। ग्राह्य के विषय भूत हैं। वे कार्य और कारण के साथ तथा धर्म और धर्मी के अभेद के कारण पाँच रूपवाले होते हैं। वे जैसे – स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व संज्ञावाले हैं। इसी को योगसूत्र में पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।" (यो0सू0, 3/44)

स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च – इस विग्रहवाक्य के अनुसार भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व संज्ञक पाँच रूपों में साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से भूतों के तत्तद् रूपों की वशवर्त्तिता प्राप्त होती है। जैसे :–

1. स्थूल

सामान्यविशेषात्मक समूह वाले पृथिव्यादि पाँच भूतों का शब्दादिविशेष एकदेश है। धर्म तथा धर्मी का अभेद होने से शब्दादि से युक्त पृथिव्यादि पदार्थ योगशास्त्र में वक्ष्यमाण आकारादि धर्मों के साथ स्थूल शब्द से परिभाषित है। शास्त्रों में पृथिव्यादि भूतों के आकारादि धर्म क्रमशः पढ़े गये हैं।

2. स्वरूप

स्वसामान्य ही स्वरूप पद का लक्षण है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"स्वसामान्यमिति साधारणं लक्षणम्।" (यो०वा०, 3/44)

अर्थात् प्रत्येक भूत का जो अपना—अपना सामान्य धर्म है, उसे स्वरूप कहा जा सकता है। किस भूत में कौन सा सामान्य धर्म है, इसी को स्पष्ट करते हुए भाष्यपंक्ति के स्पष्टीकरण में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"मूर्त्तिः सांसिद्धिकं काठिन्यं तद्व्यङ्ग्या पृथिवीत्वजातिः, पृथिवीत्वजातिः, कार्यरूपेणाकाशस्याप्यनेकत्वादिति। अत्र सामान्यविशेषयोरभेदप्रतिपादनाय मूर्त्तिर्भूमिरित्याद्यभेदनिर्देशः।" (यो०वा०, 3/44)

अर्थात् नैसर्गिक कठोरता मूर्त्ति है। इससे पृथिवीत्वजाति अभिव्यञ्जित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि भूतों में स्व—स्व जाति है। एक होते हुए भी आकाश में आकाशत्व जाति की प्राप्ति होती है, क्योंकि कार्यरूप से आकाश भी अनेक है। अर्थात् मूर्त्ति से पृथिवीत्व जाति, स्नेह से जलत्वजाति, उष्णता से वह्नित्वजाति, प्रवहणशीलता से वायुत्वजाति तथा सर्वतो गति से आकाशत्वजाति ध्वनित होती है।

3. सूक्ष्म

कार्य का साक्षात् कारण सूक्ष्म है। इसलिए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"साक्षात्कारणत्वमेव हि सूक्ष्मत्वमत्र विवक्षितमित्याशयः।"
(यो०वा०, 3/44)

अर्थात् महाभूतों के साक्षात् कारण तन्मात्र सूक्ष्मशब्द से यहाँ पर स्वीकृत है। भूतों का एक अन्तिम अवयव परमाणु है, किन्तु वह भी घटादि की भाँति सावयव है। यदि परमाणु को सावयव न माना जाए तो परमाणु का स्थूलत्व उपपन्न न हो सकेगा तथा उसका शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढ़त्वरूप विशेषसंज्ञक होना भी सिद्ध नहीं हो पाएगा। इसलिए तन्मात्राओं को ही भूतों का कारण कहा गया है, क्योंकि उनमें अवयवान्तरत्व अर्थात् सावयत्व असम्भव है। इसीके स्पष्टीकरण में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"तस्य भूतस्य एकश्चरमोऽवयवः परमाणुः, सोऽपि च घटादिवदेव सावयवः, अन्यथा स्थूलत्वानुपपत्तेः, शान्तघोरमूढ़त्वरूपविशेषानुपपत्तेश्च, इत्येवमित्यतः सर्वतन्मात्राण्येव भूतकारणानि, अवयवान्तरासम्भवादित्यर्थः।"
(यो०वा०, 3/44)

4. अन्वय

अनु पश्चात् गच्छति इति – इस विग्रह के अनुसार जो पीछे–पीछे जाता है, वह अन्वय है। यहाँ पर त्रिविध सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण अन्वय शब्द से कहे गये हैं। क्योंकि कार्यात्मक रूप में स्वकीय भाव वाला तदात्मक पदार्थ कारण होता है। अतः कार्य में तदात्मक कारण का अनुगत रहना ही अन्वयाख्य रूप है। इसलिए यहाँ पर गुण को अन्वय शब्द से कहा गया है। प्रकाशात्मक होने से सत्त्वगुणप्रधान मन तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ अन्नरसादि के न्यूनाधिक प्रयोग से बृद्धि और ह्रास को प्राप्त होती हुई देखी जाती है। अतः पृथिव्यादि भूतों में मन आदि अथवा उनका प्रेरक सत्त्वगुण विद्यमान रहता है, ऐसा अनुमित होता है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"ननु भूतेषु प्रख्याशीलस्य सत्त्वस्यानुगमे किं प्रमाणमिति चेत् ? अन्नमयं हि सौम्य मन इत्यादि श्रुतयोऽन्वयव्यतिरेकौ चेति प्रतीहि। प्रकाशात्मकतया सात्त्विकानि हि मनश्चक्षुरादीन्यन्नरसाद्युपचयाभ्यामुपचया–पचयवन्ति दृश्यन्ते, अतः पृथिव्यादिभूतेषु मन–आदिकं तदुपष्टम्भकसत्त्वं वाऽनुगतमित्युन्नीयत इति।" (यो०वा०, 3/44)

5. अर्थवत्त्व

गुणों में भोग तथा अपवर्गरूप जो पुरुषार्थता विद्यमान है, वही भूतों का अर्थवत्त्वाख्य रूप है। यद्यपि ये सत्त्वादि गुण प्रयोजनवान् है

तथापि अखिल भूतादि कार्य में त्रिगुण की अनुगतता प्रमेयमात्र अर्थात् सम्पूर्ग जड़पदार्थों को प्रयोजनवान् बना देती है।

इस प्रकार ये पाँचों रूपों के संघातरूप पाँचों भूतों में इन पाँचों रूपों के द्वारा साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से उन रूपों से भूतजयरूप सिद्धि होती है। संयम द्वारा भूतजय के कारण भूतप्रकृतियाँ अर्थात् भूतकारणक पाँच तन्मात्र से लेकर त्रिगुण और त्रिगुणस्थ पुरुषार्थ पर्यन्त सभी पदार्थ योगी के सङ्कल्पानुसारी हो जाते हैं, केवल पाँच तन्मात्र ही नहीं, क्योंकि भूतविषयक संयम से गुण और पुरुषार्थ का भी साक्षात्कार होता है।

(ग्राह्य संयम जन्य सिद्धियाँ)

इन्द्रियेषु वक्ष्यते। ततश्च भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पद् भूतधर्मानभिघातश्चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति। तत्राणिमाद्याः अष्टौ सिद्धयः स्मृतिषु परिगणिताः :–

"अणिमा महिमा मूर्त्तेलघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता।।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।।" इति।

तत्र स्वेच्छयाऽणुपरिमितशरीरो भवतीत्यणिमा। एवं महिमा। लघिमा तु गुरुतरशरीरोऽपि तूलादिवल्लघुर्भवति येनाकाशादिषु सञ्चरति। इन्द्रियैः प्राप्तिस्तु भूमिष्ठ एव अङ्गुल्या चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादिरूपा। प्राकाम्यं च श्रुतदृष्टेषु स्वर्गादिषु जलादिषु च गत्यप्रतिबन्धः। ईशिता च शक्तीनां भूतभौतिकानां स्वेच्छया प्रेरणम्। वशिता भूतभौतिकानां शक्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यं स्वस्य च तदवशत्वम्। यत्र कामावसायित्वसंज्ञा त्वष्टमी सिद्धिः, विषयस्यापि स्वेच्छयाऽमृतीकरणसामर्थ्यममृतस्यापि विषीकरणसामर्थ्यमित्यादिरूपा। इत्यणिमाद्यष्टसिद्धयो व्याख्याताः।

कायसम्पच्च रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि। भूतधर्मानभिघातस्तु पृथिव्यादिधर्मैः काठिन्यादिभिर्योगिशरीरस्य गत्याद्यप्रतिघातः। तद्यथा – पृथिवी काठिन्येन शरीरक्रियां न प्रतिबध्नाति येन पर्वतमपि भित्त्वा स्थूलशरीरं गच्छति, शिलामपि वाऽनुप्रविश्य तिष्ठति। तथा आपः स्निग्धाः शरीरं न क्लेदयन्ति। अग्निरुष्णो न दहति। वायुर्गतिशीलो न चालयति। आकाशमनावरकमप्यावृणोति येन सिद्धानामप्यदृश्यो भवति। इति ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

अनुवाद

अब इन्द्रियों में (किया जाने वाला संयम) कह रहे हैं। उसके अनन्तर भूतों के ऊपर जय कर लेने से अणिमादि सिद्धियों की उत्पत्ति, कायसम्पद् तथा भूतधर्मों का बाधित होना – इस प्रकार ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती है। उनमें से अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ स्मृतियों में गिनायी गयी हैं। जैसे :–

"अणिमा, महिमा, लघिमा – ये शरीर की सिद्धि है। प्राप्ति इन्द्रियों से होने वाली सिद्धि है। श्रुत एवं दृष्ट पदार्थों में गति करना प्राकाम्य है। तथा शक्ति को प्रेरित करना ईशिता है। गुणों में सङ्ग न होना वशिता और जो इच्छा हो, उसकी स्थितिदशा को प्राप्त कर जाना कामावसायिता है।"

उनमें से अपनी इच्छा से अणुपरिमित शरीरवाला हो जाना अणिमा सिद्धि है। इस प्रकार (महत् परिमित शरीरवाला हो जाना) महिमा सिद्धि है। लघिमा सिद्धि तो अतिभारी शरीर वाला होने पर भी रूई के समान लघु हो जाना, जिससे कि आकाश आदि में वह संचरण करता है। इन्द्रियों से प्राप्ति तो पृथिवी पर बैठे रहने पर भी अपनी अङ्गुलि से चन्द्रमा को स्पर्श करता है – इत्यादि रूप वाला है। श्रुत स्वर्ग आदि में तथा दृष्ट जल आदि में अपनी गति का प्रतिबन्ध न होना प्रकाम्य सिद्धि है। अपनी शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार भूत और भौतिक पदार्थों में प्रेरित करना ईशिता सिद्धि है। भूत तथा भौतिक पदार्थों की शक्ति को प्रतिबन्ध करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना और स्वयं उनके वश में न रहना वशिता सिद्धि है। यत्र कामावसायित्व नाम वाला आठवीं सिद्धि है, यह अपनी इच्छा से विष (विषय) को अमृत करने की सामर्थ्य तथा अमृत (विषय) का विष करने की सामर्थ्यरूप है। इस प्रकार से अणिमा आदि आठ सिद्धियों की व्याख्या कर दी गयी। कायसम्पत् सिद्धि रूपलावण्य, बल, बज्र को भी सहन कर पाना है।

भूतधर्मानभिघात नामक सिद्धि तो पृथिवी आदि के काठिन्यादि धर्मो से योगी के शरीर का गति आदि का प्रतिबन्ध न होना है। वह जैसे– पृथिवी अपनी कठिनता से शरीर की क्रिया का प्रतिबन्ध न होना, जिससे कि (योगी का) स्थूलशरीर पर्वत को भी भेदकर जाता है, अथवा शिला में भी प्रवेश करके रह जाता है। तथा जल की स्निग्धता शरीर को

गीला नहीं करती है। अग्नि की उष्णता (योगी शरीर को) जला नहीं पाती है। वायु की गतिशीलता (योगीशरीर को) चला नहीं पाता है। न ढ़कने वाला आकाश भी उसे ढ़क लेता है, जिससे वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार ग्राह्य संयम की सिद्धियाँ कह दी गयी।

रजनी

पूर्व प्रसङ्ग में वर्णित पाँचों रूपों के संघातरूप पाँचों भूतों में स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व – इन पाँचों रूपों के द्वारा साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से उन स्थूलादि रूपों से भूतजयरूप सिद्धि होती है। साधक को भूतजय नामक सिद्धि प्राप्त होने पर उसे भूतजय के तीन फल भी मिल जाते हैं। जैसे :–

क0 अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य।

ख0 कायसम्पद्

ग0 तद्धर्मानभिघात।

क0 अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य

योगी को भूतजय के प्रथम फल के रूप में अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। ये संख्या में आठ हैं। जैसे :– 1. अणिमा, 2. लघिमा, 3. महिमा, 4. प्राप्ति, 5. प्राकाम्य, 6. ईशिता, 7. वशिता, 8. यत्र कामावसायिता। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार पूर्व में प्रयुक्त भूतों की जो पाँच अवस्था यें कही गयी हैं उन अवस्थाओं में ही इनकी प्राप्ति होती है। जैसे भूतों की प्रथम स्थूल अवस्था के साक्षात्कार से अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति – इन चार ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। जैसे श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"एताश्चतस्रः स्थूलसंयमसिद्धयः।" (यो0वा0, 3/45)

भूतों की द्वितीय अवस्था सूक्ष्म रूप के साक्षात्कार से प्राकाम्य संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भूतों की तृतीय सूक्ष्म अवस्था में संयम करने पर वशित्व संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भूतों की चतुर्थ अन्वय अवस्था के साक्षात्कार से इशिता संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भूतों के पञ्चम अर्थवत्त्व अवस्था में संयम करने पर कामावसायित्व संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अब इनकी व्याख्या नीचे की जा रही है।

1. अणिमा

अणु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करने पर अणिमा शब्द निष्पन्न होता है। अणोः भावः अणिमा – इस व्युत्पत्ति के अनुसार अणुपरिमाण वाला हो जाना ही अणिमा संज्ञक ऐश्वर्य कहलाता है। अर्थात् योगी स्वकीय इच्छा के अनुसार स्थूलकाय होने पर भी अणुपरिमाण वाला हो जाता है। यह सिद्धि भूतों के स्थूल अवस्था में संयम करने पर निष्पन्न होता है। इससे वह योगी अणुभाव से छिद्ररहित पाषाण में भी प्रवेश कर जाता है।

2. लघिमा

लघु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करने पर लघिमा शब्द निष्पन्न होता है। लघोर्भावः लघिमा – इस व्युत्पत्ति के अनुसार लघुता को प्राप्त कर जाना लघिमा है। अर्थात् योगी का शरीर भारयुक्त होने पर भी रूई की तरह हल्का होकर पुष्पकेसर के अग्रभाग में आसानी से बैठ जाता है। यह सिद्धि भूतों के स्थूल अवस्था के साक्षात्कार लभ्य है।

3. महिमा

महत् शब्द से इमनिच् प्रत्यय कर महिमा शब्द निष्पन्न होता है। महतो भाव महिमा – इस व्युत्पत्ति के अनुसार महत्ता को प्राप्त कर जाना महिमा है। इससे लघु परिमाण वाला महत् परिमाण वाला हो जाता है। जैसे उसका स्थूलशरीर हनुमान की तरह सहस्र योजन वाला हो जाता है। यह सिद्धि भी भूतों के स्थूल रूपों में संयम करने पर प्राप्त होता है।

4. प्राप्ति

यह प्राप्ति संज्ञक ऐश्वर्य सभी पदार्थों का सन्निहित हो जाना है। इससे भूमि पर अवस्थित योगी अनेक दूरी पर स्थित चन्द्रमा को अपनी अङ्गुलि के अग्रभाग से स्पर्श कर लेता है। इस समय अवयवों के उपचय होने से अङ्गुलि अतिदीर्घ हो जाती है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अवयवोपचयेनाङ्गुलि दैर्घ्यादिति।" (यो०वा०, 3/45)

यह सिद्धि भी भूतों के स्थूल रूपों में संयम करने पर प्राप्त होता है।

5. प्राकाम्य

अपनी इच्छा का अविघात अर्थात् प्रतिबन्ध न होना प्राकाम्य नामक

ऐश्वर्य है। जो भी इच्छित वस्तु हो उसकी प्राप्ति हो जाना है। इससे योगी का शारीरिक संस्थानविशेष भूमि के काठिन्यादि धर्मों से कभी प्रतिबद्ध नहीं होता है। वह जल की तरह भूमि फोड़कर भी निकलता है और जल में डूबने के समान भूमि में प्रविष्ट भी हो जाता है। अर्थात् जल में निमज्जन, उन्मज्जन की तरह यह भूमि में भी निमज्जन कर लेता है। यह सिद्धि भूतों की द्वितीय अवस्था सूक्ष्मरूप में संयम करने पर प्राप्त होता है।

6. ईशिता

प्रभुत्व को प्राप्त करना ईशिता है। इससे योगी पृथिव्यादि भूत पदार्थ और गौ, घटादि भौतिक पदार्थों का प्रभव, व्यूह आदि करने में समर्थ होता है। यह सिद्धि भूतों के चतुर्थ अवस्था अन्वय रूप में संयम करने पर समुपलब्ध होता है।

7. वशिता

समस्त चेतन तथा अचेतन वशीभूत हो जाना वशिता नामक ऐश्वर्य है। इससे पृथिव्यादि भूत तथा गौ, घटादि भौतिक पदार्थ योगी के वशीभूत होकर उसकी इच्छा का अनुवर्त्तन करते हैं। इस अवस्था में योगी को उन भूतों में वैराग्य हो जाने से, वह भूतों के अधीन नहीं रहता है। यह ऐश्वर्य स्थूलभूतों के तृतीय अवस्था सूक्ष्मरूप में संयम करने पर प्राप्त होता है।

8. यत्र कामावसायित्व

यह प्रकारान्तर से सत्यसङ्कल्पता भी कही जाती है। "मुझे यह करना है", "मुझे ऐसा होना है" – इत्यादि सङ्कल्पों को सत्य करने का जिसका स्वभाव है, ऐसे योगी में कामावसायिता रहती है। इस सत्यसङ्कल्प के कारण योगी पदार्थों के विषय में जैसी इच्छा करता है, वह पदार्थ उसी प्रकारक हो जाता है। जैसे विष को अमृत बना देता है। इस समय योगी इतना सामर्थ्य सम्पन्न होता है कि जिस प्रकार वह पदार्थों की शक्तियों का विपर्यास करता है, उसी प्रकार पदार्थों का भी विपर्यास कर सकता है। यह भूतों की पञ्चम अवस्था अर्थवत्त्व रूप में संयम करने पर प्राप्त होता है।

ख0 कायसम्पत्

भूतजय का द्वितीय फल कायसम्पत् है। इसी के स्पष्टीकरण में सूत्रकार ने कहा है कि :–

"रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।" (यो0सू0, 3/46)

अर्थात् रूपलावण्य, बल और वज्र के समान सुदृढ़ अवयव विन्यास कायसम्पत् है। इससे भूतजयी योगी का रूपलावण्य निखर आता है। वह शारीरिक बल अर्जित करता है। फलस्वरूप उसका शरीर वज्र की भाँति कठोर हो जाता है। वज्र संहनन का दो प्रकार से विग्रह प्राप्त होता है, जैसे–1. वज्रस्येव संहननं प्रकारो यस्येति, 2. वज्रवन्निविड़ो दृढ़ः संघातो यस्येति। अर्थात् वज्र के समान है प्रहार जिसका अथवा वज्रसदृश घनीभूत दृढ़संघात (शरीरगठन) है जिसका उसे वज्रसंहनन कहते हैं।

ग0 तद्धर्मानभिघात

भूतजय का तृतीय फल तद्धर्मानभिघात है। पृथिव्यादिभूतों के काठिन्यादि धर्मों से निराकृत न होना तद्धर्मानभिघात है। पृथिवी का काठिन्य धर्म योगी को शिला के अन्दर प्रविष्ट होने में बाधा नहीं पहुँचाता है। जल का स्नेहधर्म योगी के शरीर को आर्द्र नहीं कर पाता है। वह्नि का उष्णधर्म योगी के शरीर को जला नहीं पाता है। वायु का स्पन्दन योगी को कम्पमान नहीं कर पाता है। आकाश का अनावरण धर्म योगी को अनावृत नहीं कर पाता है।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह भूतजयरूप फल प्राकाम्य सिद्धि में भी गृहीत हो जाता है। अतः इसका पृथक् विवेचन में लाभ क्या? इसके उत्तर में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अणिमाद्यष्टसिद्धिव्याख्यापूरणायैव प्राकाम्यमत्र भाष्यकारैः कथितं, न त्वत्र सूत्रे प्राकाम्यमणिमादिमध्ये तद्धर्मानभिघात इत्यनेनैव प्राकाम्यग्रहणेन पौनरुक्त्यापत्तेरिति।" (यो0वा0, 3/45)

अर्थात् अणिमादि अष्ट सिद्धियों की संख्यापूर्त्ति के लिए ही भाष्यकार ने भाष्य में अणिमादि सिद्धियों के मध्य प्राकाम्यसिद्धि का ग्रहण किया है। वस्तुतस्तु सूत्रकार को प्रकृतसूत्र में प्राकाम्य संज्ञक सिद्धि को अणिमादि

सिद्धियों के मध्य परिगणित करना अभिप्रेत नहीं रहा होगा, क्योंकि "तद्धर्मानभिघातः" इस सूत्रांश से ही प्राकाम्य का ग्रहण हो जाने के कारण पुनः उसका आठ ऐश्वर्यों में गणना करना पुनरुक्तिदोष हो जाएगा। इस प्रकार ग्राह्य संयम जन्य सिद्धियाँ कही गयी हैं।

चित्र

(ग्रहण संयम तथा उसकी सिद्धियाँ)
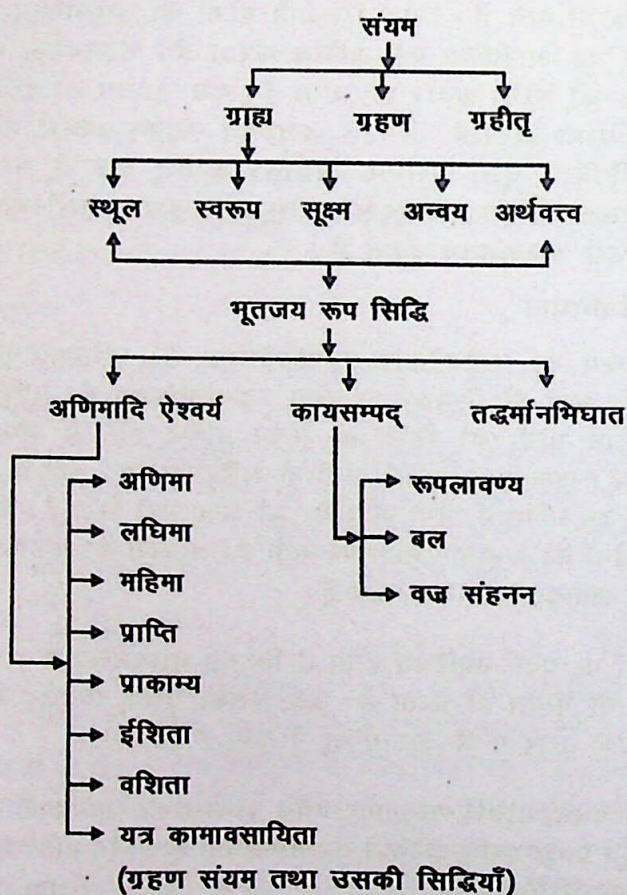
ग्रहणसंयमस्योच्यन्ते। गृह्यन्त एभिरिति ग्रहणान्येकादशेन्द्रियाणि। तान्यपि कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति। रूपाणि च ग्रहणरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि। तत्रेन्द्रियाणां वृत्तयो ग्रहणम्। इन्द्रियाणि स्वरूपम्। अहङ्कारः अस्मिता। अत्रैव बुद्धेरप्यन्तर्भावः। अन्वयश्च

पूर्ववद्गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः। अर्थवत्त्वं तु पूर्ववत्। एतद्रूपपञ्चक-सङ्घातरूपेष्विन्द्रियेषु एतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादिन्द्रियजयरूपा सिद्धिर्भवति, "ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः" इति सूत्रात्। ततश्च मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयित्वं चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति। तत्र कायस्यानुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वं, येनोपासकादिभिः स्मृतमात्राः क्षणादेव सिद्धाः पुरो दृश्यन्ते। स्थूलदेहनैरपेक्ष्येणैवेन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहितादिसाधारणार्थेषु वृत्तिलाभो विकरणभावः। इन्द्रियाणां सर्वत्र विकीर्णतेति यावत्। सर्वप्रकृतीनां तद्विकाराणां च वशित्वं स्वेच्छया प्रेरणसामर्थ्यं प्रकृतिजय इति। एताश्च पञ्चरूपैरिन्द्रियसंयमस्य तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते।

अनुवाद

अब ग्रहण संयम की सिद्धियाँ कही जा रही है। इनसे ग्रहणरूप ग्यारह इन्द्रियाँ गृहीत होती हैं। इनसे (विषय) गृहीत होते हैं (अतः ये ग्रहण है), (—इस व्युत्पत्ति के अनुसार) ये ग्रहण ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। ये (ग्रहण) भी कार्य और कारण के तथा धर्म और धर्मी में अभेद होने से पाँच रूप वाले होते हैं। वे रूप जैसे – ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व – ये नाम वाले हैं। उनमें इन्द्रियों की जो वृत्तियाँ हैं, वे ग्रहण है। इन्द्रियाँ स्वरूप है। अहङ्कार अस्मिता है। यहाँ पर ही बुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है। और अन्वय पूर्व की भाँति त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। अर्थवत्त्व तो पहले की तरह है। इन पाँच रूपों को सङ्घातरूप इन्द्रियों में इन पाँच रूपों से संयम करने से, आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त इन्द्रियजयरूप सिद्धि होती है। "(इन्द्रियों के) ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व – रूपों में संयम करने से योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है" इस सूत्र से (यह तात्पर्य निकलता है)। उसके बाद मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय – ये तीन सिद्धियाँ (प्राप्त) होती हैं। इनमें से शरीर का श्रेष्ठ गति प्राप्त करना ही मनोजवित्व है, जिस के द्वारा उपासक आदि के द्वारा स्मरण से क्षणमात्र में ही सिद्ध सामने देखे (उपस्थित हो) जाते हैं। स्थूलशरीर की अपेक्षा किये बिना ही इन्द्रियों का अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहित आदि साधारण अर्थों (विषयों) में रह जाना विकरणभाव है। इन्द्रियों का हर जगह पहुँच जाना – यह तात्पर्य है। समस्त कारणों का और उनके विकारों का वश में हो जाना अर्थात् अपनी इच्छा से (उन्हें) प्रेरित करने के सामर्थ्य को प्राप्त करना प्रकृतिजय है। और ये पाँचरूपों से इन्द्रियों के संयम के तीन सिद्धियाँ

मधुप्रतीका नाम से कही जाती है। इस प्रकार ग्रहण संयम की सिद्धियाँ कह दी गयी।

रजनी

अब ग्रहण विषयक संयम तज्जन्य सिद्धि के विषय में कहा जाएगा। इस ग्रहण के विषय इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व रूपों में साक्षात्कार होने तक संयम करने से तद्रूपात्मक इन्द्रियों को जीत लिया जाता है। अतः पतञ्जलि ने सूत्र में कहा है कि :–

"ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।" (यो0सू0, 3/47)

अर्थात् इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व रूपों में संयम करने से योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

1. ग्रहण

इस ग्रहण अवस्था से इन्द्रियों का व्यापार बताया गया है। गृह्यते अनेनेति ग्रहणम् – इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा विषयों का ग्रहण किया जाता है, उसे ग्रहण कहा जाता है। इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती है। अतः यही इन इन्द्रियों का स्वरूप है। इन इन्द्रियों की विषयाकाराकारिता वृत्ति ही ग्रहण है। यहाँ पर श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"वृत्तिरालोचनं विषयाकारपरिणामविशेषः, चिन्ताऽवधारणाभिमान–संशयरूपादन्तःकरणानामसाधारणवृत्तिचतुष्काद्विलक्षणो दर्शनस्पर्शननामा। यद्यपि सोऽपि स्मरणानुरोधेनान्तःकरस्यैव तथाऽपि चक्षुराद्युपष्टम्भेनैव भवतीति कृत्वा दर्शनादिश्चक्षुरादीनामुच्यते।" (यो0वा0, 3/47)

अर्थात् इस वृत्ति का अर्थ आलोचन है, जो इन्द्रियों के विषयाकार परिणामविशेष है। अन्तःकरण की चिन्ता, अवधारणा, अभिमान तथा संशय रूप चार प्रकार की असाधारणवृत्तियों से इन्द्रियों की दर्शन, स्पर्शन आदि नाम वाली आलोचन वृत्तियाँ विलक्षण है। यद्यपि इन्द्रियों की दर्शनादि नाम वाली आलोचन वृत्तियाँ भी स्मरणानुरोध से अन्तःकरण की ही हैं, तथापि चक्षुरादि की इन दर्शन, स्पर्शन आदि नाम वाली वृत्तियों का प्रेरक होने से ही दर्शनादि को चक्षुरादि इन्द्रियों की वृत्तियाँ कही गयी है। इन्द्रियों के विषयभूत घट आदि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक

है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियाँ धर्मधर्मिरूप पदार्थों के शब्दत्व, घटत्व आदि विशेष धर्म को भी ग्रहण करती है। क्योंकि यदि इन्द्रियों को घटादि विशेषविषयक नहीं माना जाएगा तो इन्द्रियों के अविषयभूत घटादि विशेष विषयों का अनुव्यवसाय ज्ञान नहीं हो पाएगा। अतः पदार्थों के सामान्य एवं विशेष दोनों रूप इन्द्रियों के विषय हैं – यह सिद्ध होता है।

2. स्वरूप

प्रकाशात्मक बुद्धितत्त्व के जो अयुतसिद्धावयव भेदवाले सात्त्विक अहङ्कारप्रधान कार्य है तथा उनमें अनुगत रहने वाला सामान्य–विशेषोभयरूपतात्मक जो समूहरूप द्रव्य है, वही इन्द्रिय है। इसीको स्पष्ट करते हुए श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य कार्या येऽयुतसिद्धा अवयवभेदाः सात्त्विकाहङ्काररूपास्तेष्वनुगतः सामान्यविशेषरूपयोः समूहो द्रव्यमिन्द्रिय–मित्यर्थः।" (यो0वा0, 3/47)

अर्थात् प्रकाशरूप बुद्धि का कार्य प्रकाशरूप अहङ्कार तथा प्रकाशरूप अहङ्कार कार्य प्रकाशरूप इन्द्रिय, यही इन्द्रियों का स्वरूप है। इन्द्रियों के सामान्य और विशेष इन दो रूपों में ग्रहणरूप नील, पीताद्याकार परिणामभेद विशेष है।

3. अस्मिता

अस्मिता शब्द से यहाँ पर अहङ्कार का ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार तन्मात्र सामान्य के पृथिव्यादि भूत विशेषरूप हैं, उसी प्रकार अहङ्कार सामान्य के चक्षुरादि विशेषरूप हैं, क्योंकि भूत और इन्द्रिय अपने–अपने कारण तन्मात्र और अहङ्कार के कार्य है। अतः इन्द्रियों में अनुगत रहने से अहङ्कार इन्द्रियों का सामान्यरूप उसी प्रकार है, जिस प्रकार पृथिव्यादि भूतों में अनुगत रहने से तन्मात्र भूतों का सामान्यरूप है। यहाँ पर अस्मितावृत्तिवाला अहङ्कार इन्द्रियों का अस्मिता नाम वाला रूप है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अस्मिताशब्देनोक्तोऽहङ्कारः। तत्राभिमानाख्यवृत्तिभ्रमनिरासाया–स्मितालक्षण इति विशेषणम्। अस्मितावृत्तिक इत्यर्थः। ननु कथमहङ्कार इन्द्रियाणां रूपमित्याकाङ्क्षायामाह – तस्येति। यथा तन्मात्रस्य सामान्यस्य भूतानि विशेषा एवमहङ्कारस्य सामान्यस्य चक्षुरादीनि विशेषाः, कार्यत्वात्। अत इन्द्रियेष्वनुगततयाऽहङ्कार इन्द्रियाणां रूपं भूतानां तन्मात्रवदिति भावः।"

4. अन्वयः

व्यवसायाख्य बुद्धिरूप से परिणत तद्विशिष्ट सत्त्वादि त्रिगुण अन्वयाख्य रूप है। वाचस्पति के अनुसार यह गुण दो प्रकार का है, जैसे व्यवसाय तथा व्यवसेय। व्यवसायात्मक ग्रहणरूप विशिष्ट गुणों से अहङ्कारसहित इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है और व्यवसेयात्मक गुणों से पाँच तन्मात्राएँ और भूतभौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए महतत्त्वाकार से परिणत सत्त्वादि तीनों गुण इन्द्रियों की अन्वयरूप है।

5. अर्थवत्त्व

इन्द्रियों के कारणभूत गुणों में अनुगत जो पुरुषार्थवत्ता अर्थात् भोग तथा अपवर्ग रूप वाला है, वही इन्द्रियों का अर्थवत्त्व रूप है।

इस प्रकार इन्द्रियों की इन अवस्थाओं का साक्षात्कार होने पर बछड़े का अनुसरण करने वाली गौ की भाँति इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों की प्रकृतियाँ योगी के सङ्कल्प का अनुसरण करती है। इस प्रकार संयम होने पर योगी को तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती है। जैसे :–

1. मनोजवित्व।
2. विकरणभाव।
3. प्रधानजय।

अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।" (यो0सू0, 3/48)

1. मनोजवित्व

मन की तरह शरीर को शीघ्रतर श्रेष्ठ गति प्राप्त हो जाना मनोजवित्व है। इससे उपासक के द्वारा चिन्तित होते ही सहस्र योजन दूर में अवस्थित होने पर भी साक्षात् उपस्थित हो जाता है। यह सिद्धि शारीरिक है।

2. विकरणभाव

शरीर की अपेक्षा न करते हुए इन्द्रियादि करणसामान्य को अभीष्ट देश, काल तथा विषय की अपेक्षा से देशादि का परित्याग किये बिना जिस किसी देशादि में वृत्तिलाभ की इच्छा होती है, उसी देशादि में वह वृत्तिलाभ करता है।

इस प्रकार की विकीर्णता के स्वभाग को विकरणभाव कहते हैं। यह सिद्धि महाविदाहा सिद्धि है। इनको विदेह योगी कहा जाता है। यह पूर्णतया इन्द्रियनिष्ठ सिद्धि है।

3. प्रधानजय

इन्द्रियों के कारणभूत अहङ्कार आदि से लेकर प्रधान तक सभी विषयों का योगी के अधीन हो जाना प्रधानजय नामक सिद्धि है। इस सिद्धि से न केवल सविशेष इन्द्रियाँ अधिकृत होते हैं, अपितु उनके कारणभूत अहङ्कारादि भी अधीनता को प्राप्त कर जाते हैं।

उपर्युक्त तीन सिद्धियाँ केवल इन्द्रियमात्र के जय से प्राप्त नहीं होती हैं, अपितु इन्द्रियों के पाँचों स्वरूपों का साक्षात्कार होने पर प्राप्त होती है। प्रकृति का इनमें ग्रहण होने से यह प्रधानजय के नाम से जाना जाता है। इन तीनों सिद्धियों को मधुप्रतीका भी कहा गया है।

चित्र
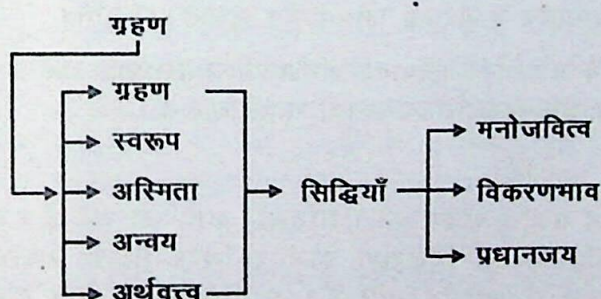
(ग्रहीतृ संयम तथा तज्जन्य सिद्धियाँ)

अथ ग्रहीतृसयंमस्योच्यन्ते। ग्रहीतुः कार्यकारणविलक्षणत्वा न्निर्धर्मत्वाच्च रूपभेदो नास्ति। ग्रहीतरि पुरुषसामान्ये उपाधिसत्त्वाद् भेदेन संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च भवति, "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च" इति सूत्रात्। इयं च सिद्धिः सर्वकामावाप्त्याऽखिलशोकरहितत्वाद्विशोकेत्युच्यते। तत्र परमेश्वरवत्स्वेच्छया सर्ववस्तुप्रेरणसामार्थ्यं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, प्रकृतिपुरुषादिषु अप्रतिहतेच्छत्वमिति यावत्। सर्वज्ञत्वं तु वक्ष्यमाणम्। तदेव च सार्वज्ञ्यं विवेकजं ज्ञानं तारकमित्युच्यते, सत्त्वपुरुषविवेकसंयम–जन्यत्वात्संसारतारकत्वाच्च। तच्च सार्वज्ञ्यं सूत्रेण लक्षितम् – "तारकं

सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्" इति। तथा विष्णुपुराणेऽपि लक्षितम् –

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे विवेकजम्।।" इति।

पूर्वं परार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता। अत्र तु बुद्धिसत्त्वादभेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धिरुच्यत इति भेदः। तदिदं ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा सूत्रकारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धिमूर्धन्या परमा सिद्धिरुक्ताऽस्ति – "तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्" इति। अस्यायमर्थः, क्लेशकर्मरूपाणां दोषाणां संसारबीजानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये सति तयोः सिद्ध्योरपि वैराग्यमलंप्रत्ययो जायते ; तस्माद्वैराग्यात्कैवल्यरूपा सिद्धिरिति। तदुक्तं मोक्षधर्मे :–

"वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते येन मुच्यते।।" इति।

यदि च ज्ञानस्यापरिपाकात्सार्वज्ञ्यादिरागस्तिष्ठति तर्हि संयमस्योक्त–सिद्धिद्वयं कैवल्याख्यसिद्ध्यन्तरायो भवतीत्याशयः।

अनुवाद

अब ग्रहीतृ संयम की (सिद्धियाँ) कही जा रही हैं। ग्रहीता का कार्य और कारण विलक्षण होने से और (किस प्रकार) धर्म से रहित होने से रूपभेद नहीं है। उपाधिसत्त्व से भिन्न ग्रहीता पुरुष सामान्य में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से (योगी को) सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व (नामक सिद्धि प्राप्त हो) जाती है। क्योंकि योगसूत्र से (ज्ञात हो रहा है कि) बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्याति में ही प्रतिष्ठित योगी को सभी पदार्थों का स्वामित्व और सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। और यह सिद्धि समस्त कामनाओं की प्राप्ति के द्वारा समस्त शोकों से रहित हो जाने के कारण विशोका नाम से कही जाती है। उनमें से परमेश्वर की तरह अपनी इच्छा से समस्त वस्तुओं को प्रेरित करने का सामर्थ्य, सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। यह प्रकृति, पुरुष आदि में अप्रतिहत इच्छा वाला होना है। सर्वज्ञत्व आगे कहे जाने वाला है। पुरुष के विवेक पर संयम करने पर, उससे उत्पन्न होने के कारण और संसार से पार कराने वाला होने के कारण यह ही सार्वज्ञ जो विवेक से उत्पन्न होने

वाला ज्ञान है, (इसे) तारक कहा जाता है। और वह सार्वज्ञ सूत्रकार से लक्षित है, जैसे – जाति, लक्षण और देश के द्वारा भिन्नत्व की प्रतीति उस विवेकजन्य ज्ञान से ही होती है। तथा विष्णु पुराण में भी लक्षित है, जैसे–

"अज्ञान घोर अन्धकार की तरह है, इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान दीपक के सदृश है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वैसे ही यह जो विवेक से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सूर्य के सदृश है।"

पूर्व में परार्थ प्रत्यय से भिन्न स्वार्थ प्रत्यय में उसके साक्षात्कार पर्यन्त संयम का पुरुषसाक्षात्कार रूप सिद्धि कही गयी है। यहाँ पर बुद्धि और सत्त्व (पुरुषान्यताख्याति) में अभेद होने के कारण पुरुष के साक्षात्कार पर्यन्त पुरुष में संयम करने से जो सार्वज्ञ आदि सिद्धि कही गयी है, यही (इन दोनों में) भेद है। और यह ग्रहीतृ संयम का दोनों प्रकार की सिद्धि को कह कर सूत्रकार के द्वारा उसकी अन्य समस्त सिद्धियों में मूर्धन्यभूत परमसिद्धि कही गयी है। जैसे – "पूर्व में कथित सिद्धि के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने के कारण दोष–बीजों का सर्वथा नाश होने पर कैवल्य की भी प्राप्ति होती है। इसका यह तात्पर्य है कि – क्लेश, कर्मरूपदोषों के जो कि संसार का बीज है – उनका आत्मज्ञान से सर्वथा क्षय हो जाने पर, उन दोनों सिद्धियों से भी अलं प्रत्यय रूप वैराग्य उत्पन्न होता है, उस वैराग्य से कैवल्यरूप सिद्धि होती है। वह मोक्षधर्म में कहा गया है, जैसे :–

"इस मोक्ष की श्रेष्ठ विधि वैराग्य है, और ज्ञान से ही वैराग्य होता है, जिससे कि (जीव) मुक्त हो जाता है।"

और यदि ज्ञान के अपरिपाक से सार्वज्ञादि राग रहता है तो संयम की उक्त दोनों प्रकार की सिद्धि, कैवल्य नामक सिद्धि में प्रतिबन्ध होता है, यही आशय है।

रजनी

ग्राह्य विषयक तथा ग्रहण विषयक संयमों की सिद्धियों के प्रतिपादन कर लेने के पश्चात् अब ग्रहीतृविषयक संयमों की सिद्धि को स्पष्ट किया जा रहा है। ग्रहीता का कार्य और कारण विलक्षण होने से और (किस प्रकार) धर्म से रहित होने से रूपभेद नहीं है। उपाधिसत्त्व से भिन्न ग्रहीता पुरुष सामान्य में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से (योगी को)

सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व (नामक सिद्धि प्राप्त हो) जाता है। क्योंकि योगसूत्र से (ज्ञात हो रहा है कि) बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्याति में ही प्रतिष्ठित योगी को सभी पदार्थों का स्वामित्व और सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। और यह सिद्धि समस्त कामनाओं की प्राप्ति के द्वारा समस्त शोकों से रहित हो जाने के कारण विशोका नाम से कही जाती है। उनमें से परमेश्वर की तरह अपनी इच्छा से समस्त वस्तुओं को प्रेरित करने का सामर्थ्य, सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। यह प्रकृति, पुरुष आदि में अप्रतिहत इच्छा वाला होना है। सर्वज्ञत्व आगे कहे जाने वाला है। पुरुष के विवेक पर संयम करने पर, उससे उत्पन्न होने के कारण और संसार से पार कराने वाला होने के कारण यह ही सार्वज्ञ जो विवेक से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है, (इसे) तारक कहा जाता है। और वह सार्वज्ञ सूत्रकार से लक्षित है, जैसे – जाति, लक्षण और देश के द्वारा भिन्नत्व की प्रतीति उस विवेकजन्य ज्ञान से ही होती है। अतः पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।"
(यो0सू0, 3/49)

अर्थात् बुद्धि और पुरुष के अन्यताख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित योगी को सभी पदार्थों का स्वामित्व और सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है।

अब यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वार्थविषयक संयम की सिद्धि प्रतिपादक सूत्र, जो कि "सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्" से "सत्त्वपुरुषान्यता–ख्याति ....." इस सूत्र का भेद क्या है ? इसके समाधान में उत्तर दिया जाता है कि 3/35 – इस पूर्वसूत्र में सुखाद्यनुभवरूप परिच्छिन्न पौरुषेय प्रत्यय में ही संयम करना बतलाया गया है, न कि अपरिच्छिन्न पुरुष में। जब कि 3/49 – इस योगसूत्र में पूर्वविषयक संयम से ज्ञात परिपूर्ण पुरुष में बुद्धि से भेदपरक संयम का अभिधान हुआ है। यह इन दोनों में अन्तर हैं।

तदेवं मुख्यसंयमानां सिद्धय उक्ताः। यथा च सर्वज्ञत्वपर्यन्तसिद्धिज्ञानं विनाऽपि मोक्षो भवति तथा प्रागेवोक्तम्। इदानीं सिद्धिप्रकारः कथ्यते। यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति, यदा वाऽणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, तदा किं सङ्कल्पयोगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्ष्यते न वेति संशये निर्णयसूत्रम्– "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" इति। अस्यायमर्थः, मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्याना–मापूरादेव भवति। तत्र चापूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसङ्कल्प–

योगजधर्मादिकं निमित्तमात्रं, न तु प्रकृतिप्रेरकं भवति, प्रकृतीनां स्वत एव सर्वपरिणामसामर्थ्यात्। अतो न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः। तथा च सूत्रम् – "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" इति। अत्र प्रकृत्यापूरेण प्रकृत्यपसारणमुपलक्ष्यते। जात्यन्तरपरिणामेन चाणिमादिमहिमाद्या अपि सिद्धय उपलक्ष्यन्ते। तेन यथायोग्यं प्रकृत्यापूरणापसारणाभ्यां सर्वाः सिद्धय उत्पद्यन्ते। एतेन वामननृसिंहवराहादीनां क्षणेन प्रकृत्यापूरणादेव शरीरबृद्धिः। अगस्त्यादि–पीयमानसमुद्रादेश्चाल्पत्वं प्रकृत्यपसरणादुपपन्नमिति। कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादि प्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगाद्भवतीति विशेषः।

ननु यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा किं तत्तद्देहप्रतिनियतानि चित्तानि चित्तप्रकृतितो निर्मिमीते किं वा एकेनैव निर्मातृचित्तेन सर्वाणि शरीराण्य–धितिष्ठतीति संशये निर्णयसूत्रम् – "निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रम्" इति। अस्यायमर्थः, अस्मितामात्रमहङ्कारस्तस्मात्कारणाद् बहून्येव शरीरप्रतिनियतानि मनांसि योगिसङ्कल्पाज्जायन्त इति। अन्यथा एकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा न सम्भवः। तथा श्रीरामरूपलीलाविग्रहे श्रीविष्णोः सर्वज्ञस्य निर्मातृचित्तेनाज्ञानस्वीकारश्च नोपपद्यत इति भावः। योगिनां नानाशरीरैर्विरुद्धना–नाकार्यं तु स्मर्यते, :–

"प्राप्नोति विषयान्कश्चित्कश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
योगेश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।।" इति।

सर्वेषां तु निर्माणचित्तानामेकमेव निर्मातृचित्तं प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रयोजकं भवति, "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषां" इति सूत्रात्। कदाचित्कं त्वेकेनापि चित्तेन नानाशरीराधिष्ठानमत्र न निराक्रियते योगिनां स्वतन्त्रेच्छत्वादिति। एतेन हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्यादिरपि प्रकृत्यापूरादिना व्याख्याता। अत्र प्रकृत्यापूरेण जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणम्, येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भुङ्क्त इति।

अनुवाद

इस प्रकार प्रमुख संयमों की सिद्धियाँ कह दी गयी हैं। और जैसे सर्वज्ञत्वपर्यन्त सिद्धि ज्ञान के बिना मोक्ष होता है, वैसे पहले कहा गया है। अब सिद्धि के प्रकार कहे जा रहे हैं। जब मनुष्य आदि शरीर से ही देवभाव की प्राप्ति होती है, अथवा जब अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होते हैं, तब क्या सङ्कल्प एवं योगज धर्म से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा रहती है ? अथवा नहीं ? इस विषय में संशय होने पर निर्णायक सूत्र है,

जैसे – "एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना रूप जो परिणाम होता है, वह प्रकृति के अनुप्रवेश से होता है।" इस (सूत्र) का यह अर्थ है कि मनुष्य आदि शरीर का देवादि अन्यजातिरूप जो परिणाम है, वह सत्त्वादि विशेषरूप देवादि शरीर के आरम्भक योग्य तत्त्व के अनुप्रवेश से होता है। और उनमें से अनुप्रवेश में धर्म आदि प्रतिबन्धों की निवृत्ति के द्वारा योगी का सङ्कल्प और योगज धर्म आदि निमित्तमात्र होते हैं, न कि प्रकृति के प्रेरक (होते हैं), क्योंकि प्रकृति स्वयं ही समस्त परिणाम में सामर्थ्य रखती है। अतः प्रकृति के स्वातन्त्र्य में हानि नहीं होती है। और सूत्र –"धर्मादि निमित्त प्रकृति के (उपादान कारणों के) प्रयोजक नहीं होते हैं, अपितु वे कृषक की तरह आवरणरूप अधर्मादि प्रतिबन्ध का भेदनमात्र करते हैं। यहाँ पर प्रकृति के अनुप्रवेश, प्रकृति का अपसारण को लक्षित कर रहा है। इससे अपनी योग्यता के अनुसार प्रकृति के आपूरण और अपसारण से समस्त सिद्धियाँ उत्पन्न होती है। इससे वामन, नृसिंह, वराह आदि के क्षणमात्र में ही प्रकृति (उपादान कारण) के आपूरण से ही शरीर की बृद्धि होती है। अगस्त्य आदि के द्वारा पिये जाने वाला समुद्र आदि का अल्पत्व प्रकृति के अपसरण से होता है। कायव्यूह आदि तो अन्य देहों को प्रकृति के पृथक् रूप से ही आरम्भ आरम्भक संयोग से होता है, यही विशेष है।

जब योगी कायव्यूह करता है, तब क्या उन–उन देहों की प्रति नियत चित्त चित्तप्रकृति से निर्मित होता है ? अथवा क्या एक ही निर्मातृचित्त से समस्त शरीरों का अधिष्ठान करता है – इस प्रकार संयम होने पर निर्णयसूत्र है, जैसे – "केवल अहङ्काररूप उपादानकारण से अनेक निर्माणचित्त होते हैं", इसका अर्थ यह है कि अस्मितामात्र अहङ्कार रूपी कारण से बहुत से ही प्रत्येक शरीर में नियत मन योगी के सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। अन्यथा एक चित्त होने से विरुद्ध भोग एवं समाधि आदि का अनेक देहों में एक साथ नहीं हो सकेगा। उसी प्रकार श्रीराम रूप में लीला के विग्रह में सर्वज्ञ विष्णु का निर्मातृचित्त से अज्ञान का स्वीकार करना उपपन्न नहीं हो पाएगा – इसमें यही भाव है। योगियों के अनेक शरीरों से जो परस्पर विरुद्ध (कार्य होते हैं, वे) तो स्मृतिशास्त्र में कहा गया है कि :–

"कोई (योगी का शरीर) विषयों का भोग करता है तो कोई (शरीर) उग्र तपस्या का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार योगेश्वर अनेक शरीरों को (एक) करता है, और (एक शरीर को) अनेक करता है।"

सब (का तो) निर्माणचित्तों का तो एक ही निर्मातृचित्त प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रयोजक होता है। "अनेक निर्माणचित्तों के व्यापारभेद में एक पूर्वसिद्ध चित्त ही नियामक होता है" – इस सूत्र से यही अर्थ निकलता है। अतः कभी तो एक ही चित्त से अनेक शरीरों में अधिष्ठान होना यहाँ पर खण्डन नहीं किया जाता है, क्योंकि योगी स्वतन्त्र इच्छा वाले होते हैं। इससे हिरण्यगर्भ आदि का जगत् की सृष्टि आदि जो (क्रिया), वह प्रकृति के आपूर आदि व्याख्यात हो गया। यहाँ पर प्रकृत्यापूर से अन्य जीवों का अपनी–अपनी उपाधि संयोग का उपलक्षण भी कर दिया गया है, जिससे कि योगी अन्य जीव के संयोग से हस्ति, अश्व आदि शरीर का निर्माण करके ऐश्वर्य का भोग करता है।

रजनी

अब तक विशेषसाधनसाध्य सिद्धियों के विषय में कहा गया है। परन्तु निर्माणचित्त संज्ञक सिद्धि साधनाभ्यासजन्य नहीं है। यह केवल साधना के पूर्ण होने पर जीवन्मुक्त योगी में निर्माणचित्त की शक्ति स्वतः ही उत्पन्न होने लगती है। इसलिए यह योगी के लिए ही युक्तियुक्त है, न कि योगाभ्यासी के लिए। मनुष्यादि जातिरूप से पहले परिणाम को प्राप्त होकर अवस्थित शरीर तथा इन्द्रियों की कामरूपता दशा में पुनः परिणामान्तर की इच्छा दशा में जो देव, तिर्यग् आदि जात्यात्मक परिणाम होता है, वह केवल सङ्कल्प से नहीं होता है, अपितु प्रकृत्यापूर से होता है। इसी के स्पष्टीकरण में पतञ्जलि ने कहा है :–

"जात्यन्तरपरिणामाः प्रकृत्यापूरात्।" (यो0सू0, 4/2)

अर्थात् एक योनि से दूसरे योनि की प्राप्ति वाली सिद्धि के लिए योगी का उपादानकारणरूप प्रकृति की ही अपेक्षा रहती, न कि सङ्कल्पमात्र से। शरीरादि का अणु परिमाणविशेष शरीरगत अवयवों के अपचय से होता है। तथा शरीरादि के महदादिरूप परिणामविशेष शरीरगत अवयवों के उपचय से होता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अणिमादिरूपपरिणामविशेषश्च प्रकृत्यपगमादित्यपि बोध्यम्।"
(यो0वा0, 4/2)

जैसे वामन तथा विष्णु आदि शरीर का क्षण भर में विश्वरूपता का परिणाम प्रकृति के अवयवों के उपचय से हुआ था। महर्षि अगस्त्य के समुद्र का पान करते समय समुद्र का स्वल्प परिणाम प्रकृति के अवयवों के अपचय

से हुआ है। अतः प्रकृतिगत अवयवों के अपचय के प्रकृत्यापूर शब्द से कहा गया है यही श्रीविज्ञानभिक्षु का मत है। अतः उन्होंने कहा है वार्त्तिक में, जैसेः–

"आपूरशब्देनापि प्रकृतीनां सहननमपि ग्राह्यम्।" (यो0वा0, 4/2)

धर्मादि निमित्त से ही कारण कार्य पर अनुग्रह करता है। अतः सदा सभी को नूतन शरीर आदि का लाभ नहीं होता है, अपितु योग के अनुष्ठान से योगजधर्म के बल से प्रकृति अपने अवयवों के उपचय एवं अपचय के द्वारा अनुग्रह करती है। इसीको श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"ननु योगजधर्मैर्बलात् प्रकृतय आकृष्यन्त इति।" (यो0वा0, 4/3)

अतः प्रकृत्यापूर का सिद्धान्त धर्मादिनिमित्तक है, न कि स्वाभाविक। धर्मादि निमित्त प्रकृतियों के प्रयोजक नहीं होते हैं, अपितु वे कृषक की भाँति आवरणरूप अधर्मादि प्रतिबन्ध का भेदनमात्र करते हैं। अतः सूत्रकार ने कहा है कि :–

"निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।"
(यो0सू0, 4/3)

योगी के द्वारा युगपत् विविध शरीरों का निर्माण करना ही निर्माणकाय है। सामान्य शरीर की भाँति ये निर्मितकाय सभी करणों से सतत युक्त रहते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार योगी जब नूतन शरीरों का निर्माण करता है वह सचित्तक ही होता है। इस प्रकार देह तथा मनस् की तरह निर्माणबुद्धि तथा निर्माण अह{ार आदि भी समान युक्ति से स्वकीय उपादानकारणों से उत्पन्न होते हैं। वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"बुद्ध्यहङ्कारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्यं युक्तिसाम्यादिति।" (यो0वा0, 4/4)

योगी एक होता हुआ भी अपनी प्रभुत्व की शक्ति से अनेक हो जाता है तथा अनेक होकर भी वह एक रहता है। इस कारण शरीर की भिन्नता होने पर चित्त में भी भिन्नता होती है। इस प्रकार वह श्रेष्ठयोगी नवीन शरीरों का निर्माण करके उनका विनाश भी करता है। जैसे :–

"एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भुक्त्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः।।

तस्माच्च मनसो भेदः जायन्ते चैत एव हि।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः।।

योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।।

संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।।"

यद्यपि शरीरों के निर्माण में योगी का सङ्कल्प ही निमित्त कारण है, न कि उपादानकारण। उपादानकारण केवल उन तत्त्वों की प्रकृतियाँ है। अतः सूत्रकार ने कहा है :-

"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।" (यो0सू0, 4/4)

अर्थात् अस्मितामात्ररूप उपादानकारण से अनेक निर्माणचित्त उत्पन्न होते हैं। समस्त शरीरों का कारण पाँच भूत है तथा समस्त इन्द्रियों का कारण अहङ्कार है। अहङ्कार का कारण बुद्धि और बुद्धि का कारण प्रकृति है। योगी के सङ्कल्प करते ही तत्तत् भूतादि कारण तत्तत् भूतात्मक कार्य में प्रवृत्त होते हैं। अतः ये निर्मितशरीर भौतिक ही होता है। शरीर के नाश में भी योगी निर्माणशरीर का आश्रय ग्रहण करता है। क्योंकि शरीर के विनाश हेतु योगी को अपने से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को भुगतना पड़ेगा। अतः वह अनेक शरीरों का निर्माण करते हुए जैसे गज, तुरग आदि का निर्माण करके उनसे समस्त कर्मफलों का भोग करके शरीर का विनाश करता है। उपदेश निमित्त से भी योगी निर्माणशरीर का आश्रय ग्रहण करता है। जैसे – भगवान् कपिल आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश देने के लिए निर्माण शरीर का आश्रय लिया था।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनेक निर्माणचित्तों की किस प्रकार निर्मातृचित्त के अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति होती है ? इसके उत्तर में श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि :-

"योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं निर्मिमीते नियामकं करोति, ततस्तु चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरित्यर्थः।" (यो0वा0, 4/5)

अर्थात् योगी अपने निर्मातृचित्त को अनेक निर्माणचित्तों के प्रयोजक रूप से नियुक्त करता है। जिससे की निर्मातृचित्त के अभिप्राय के अनुसार अवान्तर निर्माणचित्तों की प्रवृत्ति होती है। सूत्रकार ने भी इसी को बताया है, जैसे :-

"प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।" (यो0सू0. 4/5)

अर्थात् अनेक निर्माणचित्तों के व्यापारभेद में एक पूर्वसिद्ध चित्त ही प्रयोजक होता है।

(जन्मादि सिद्धियाँ)

यथा च समाधिसिद्धयः प्रागुक्ता एवमेव जन्मादिसिद्धयोऽपि मन्तव्याः। विशेषस्त्वयं समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारा साक्षान्मोक्षहेतुः न जन्मादिसिद्धमिति।

तत्र "जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" इति सूत्रेण सिद्धयः पञ्चप्रकारा उक्ताः। तत्र देवानां जन्मसिद्धिरणिमादिरूपा, असुरादीनां चौषध-सिद्धिर्महाबलत्वादि, सुवर्णादिसिद्धिश्च। मन्त्रसिद्धिस्तु मन्त्रैराकाशगमनादिः। तपःसिद्धिश्च तपसा सङ्कल्पसिद्ध्यादिः। समाधिसिद्धयस्तु व्याख्याता इति। प्रह्लादादीनां भक्त्यादिजन्यसिद्धयश्च तपःसिद्धिमध्ये प्रवेशनीयाः, "अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते", इति स्मृतेः।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे योगसिद्धिनिरुपणं तृतीयोंऽशः।

अनुवाद

और जैसे समाधि की सिद्धियाँ पहले कही गयी हैं, इस प्रकार जन्मादि सिद्धियों को भी मानना चाहिए। (दोनों में) विशेषता यह है कि समाधि के द्वारा संस्कृत किया हुआ चित्त ही आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष में साक्षात् हेतु है, न कि जन्मादि सिद्ध।

उनमें "जन्मौषधि ..... अर्थात् जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि जन्य सिद्धियाँ होती है", इस सूत्र से सिद्धियाँ पाँच प्रकार की कही गयी है। उनमें से देवताओं की जन्म से प्राप्त होने वाली सिद्धि अणिमादि रूप है, और राक्षसों की औषधि के सेवन से प्राप्त सिद्धि महाबलत्व आदि एवं सुवर्णादि की सिद्धि रूप है। मन्त्र से प्राप्त सिद्धि तो मन्त्रों से आकाश गमनादि (सामर्थ्य को प्राप्त करना है)। और तप से प्राप्त सिद्धि तो सङ्कल्प जन्य सिद्धि आदि है। (इस प्रकार) समाधि जन्य सिद्धियों की तो व्याख्या कर दी गयी। और प्रह्लाद आदि की भक्ति आदि से जन्य सिद्धियाँ तप के सिद्धियों में अन्तर्भूत कर लेना चाहिए। स्मृति में भी कहा गया है, कि :—

"भक्ति के लेशमात्र से क्षय न होने वाला श्रेष्ठ धर्म उत्पन्न होता है।"

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योग की सिद्धियों के निरुपण रूपक तृतीय अंश समाप्त हुआ।

रजनी

पाँच सिद्धियों को बता दिया गया है। अब चार अन्य सिद्धियों को बताया जा रहा है। योगशास्त्र में समाधि जन्य सिद्धि से अतिरिक्त चार अन्य सिद्धियों के विषय में विचार किया गया है। इसी के स्पष्टीकरण में सूत्र में पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।" (यो0सू0, 4/1)

जैसे

क0 जन्मजासिद्धि।

ख0 औषधिजासिद्धि।

ग0 मन्त्रजासिद्धि।

घ0 तपोजासिद्धि।

क0 जन्मजासिद्धि

लौकिक कर्मों के अनुष्ठान से उत्तर जन्म में देवादि योनि के अन्य नूतन शरीर की प्राप्ति होने पर जन्म के समय से ही जो अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है, उसे जन्मजासिद्धि कहा जाता है। अर्थात् जन्ममात्र से ही ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है, उनके लिए पुनः योगाभ्यास अपेक्षित नहीं होता है।

ख0 औषधिजासिद्धि

रसायन शास्त्रों में औषधि विशेष के सेवन से भी सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। असुरों के भवनों में दिव्यता प्रदान करने वाले रसायनों का उपयोग बहुधा होता है। इस रसायनों के सेवन से वे सिद्धिशाली होते हैं।

ग0 मन्त्रजासिद्धि

मन्त्रों के विधिपूर्वक जप करने से प्राप्त अनेक आकाशगमनादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इसे मन्त्रजासिद्धि कहते हैं। जैसे प्रायशः योगविद्या के निष्णात भगवती त्रिपुरा के मन्त्र के जप का उपदेश देते हैं।

घ० तपोजासिद्धि

उग्रतपश्चरण के द्वारा जो सङ्कल्पादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे तपोजासिद्धि कही जाती हैं। इसलिए प्राचीन काल में ऋषियों ने प्रायशः तपश्चर्या को ही महत्त्व देते थे। जैसे विश्वामित्र आदि महर्षि तपोजासिद्धि के बल से विश्ववरेण्य हो सके थे। अथवा जैसे प्रह्लाद के भक्तिजन्य सिद्धि को भी तपोजासिद्धि कही जाती है।

इस प्रकार समाधिजन्य सिद्धियों के अतिरिक्त जन्मजासिद्धि, औषधिजासिद्धि, मन्त्रजासिद्धि और तपोजासिद्धि – इन पाँचों सिद्धियों का निरुपण किया गया है।
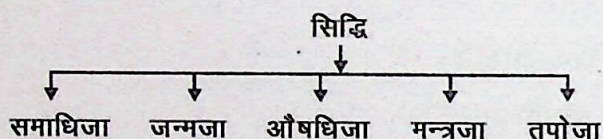
इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में योगसिद्धि के निरुपण में तृतीय अंश की रजनी हिन्दी विशद व्याख्या समाप्त हुयी।

अथ योगसारसंग्रहे चतुर्थोऽशः प्रारभ्यते

कैवल्य

योगविभूतयः प्रतिपादिताः। इदानीं ज्ञानयोगयोर्मुख्यं फलं कैवल्यं प्रतिपाद्यते। तत्र सूत्रं – "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" इति। अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः। कैवल्यमेकाकिता। सा चान्योऽन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरुभयोरेव भवति। तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रलयः। तस्मात्पुरुषादत्यन्त–वियोग इति यावत्। न तु नाशः, "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यपुरुष–साधारणत्वात्" इति सूत्रात्। एतदाद्यं कैवल्यं प्रकृतिधर्मः। द्वितीयं च कैवल्यं पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठा। सा च चितिशक्तिरेव प्रतिबिम्बरूपेण उपाधिवियुक्तेत्यर्थः। उभयपक्षेऽपि पुरुषस्य दुःखभोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थे पर्यवसानं भवति। अत एव "हेयं दुःखमनागतम्" इति सूत्रम्, अथ "त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इति सांख्यसूत्रं चानेन सूत्रेण सहाविरुद्धम्। वेदान्तिनस्तु परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इति वदन्ति। तैः सहास्माकं न विरोधः। समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधि–लयेनाविभागस्यैव लयशब्दार्थत्वात्, तस्य च पररूपेणाप्रतिष्ठत्व एव पर्यवसानात्। वैशेषिकास्त्वशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इत्याहुः। तदप्यस्माकमविरुद्धम्। उपाधेर्विशेषगुणानामेवोपाधिमत्युपचारेण। तदुच्छेदस्याप्युपचारात्। नैयायिकास्त्वात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छन्ति। तत्त्वस्मन्मतमेव, भोग्यभोक्तृभावसम्बन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्येवास्माकं विशेषात्। यत्तु नवीनां वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे, ब्रह्ममीमांसादिसकलदर्शनेषु तादृशसूत्राभावात्, श्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च। तत्र मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः श्रुतयः "विद्वान्हर्षशोकौ जहाति", "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यादयः। स्मृतिश्च :–

"यच्च किञ्चित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्।।

परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्नरः।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते।।" इत्यादि।

न्यायश्च मोक्षस्य जन्यत्वे विनाशित्वप्रसङ्गः, नित्यत्वे सिद्धतया न पुरुषार्थत्वम्। अथ नित्यसुखस्योपलब्धिरेव मोक्षो वाच्य इति चेन्न। उपलब्धेरपि नित्यानित्यविकल्पग्रस्तत्वात्। न च नित्यसुखागोचरस्या-विद्यादियत्किञ्चिदावरणस्य भङ्ग एव पुरुषार्थो वाच्यः, सुखानुभवस्यैव लोके पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरणस्याप्यसम्भवाच्चेत्यादिरिति। नन्वेवं मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयः कथमुपपद्येरन्निति चेन्न, मोक्षशास्त्रपरिभाषयैव तदुपपत्तेः।

"दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते।
दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते।।
दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखसुखत्ययः।।"

इत्यादिस्मृतिभिर्हि दुःखबहुलत्वेन सुखमपि दुःखतया परिभाष्य तादृशदुःखनिवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिताऽस्त्युपादेयगुणत्वेनेति। अत एव सांख्यसूत्रम् – "दुःखनिवृत्तेर्गौणः" इति "विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्" इति च। आनन्दावाप्तिस्तु गौणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक्।

तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण प्रतिपादितम्।

"योगशास्त्रस्य सारार्थः संक्षेपेणायमीरितः।
नतोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने।।

सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहु वर्णितः।
नातः प्रपञ्च्यते सोऽत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः।।

ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च।
वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया।।

समानतन्त्रसिद्धान्तन्यायेनात्र न दर्शने।
सांख्यानुसारतो ज्ञेयः सृष्ट्याद्यर्थोऽविरोधतः।।

तैर्दूषितं चेश्वरादि प्रसाध्यमिह यद्भवेत्।
तत्रेश्वरो ब्रह्मशास्त्रे न्यायादौ च प्रसाधितः।।

तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथ।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः।।"

अनुवाद

योग की विभूतियों का प्रतिपादन कर लिया गया है। अब ज्ञान (सांख्य) और योग के मुख्य फल कैवल्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रसङ्ग पर सूत्र, जैसे :–

"पुरुषार्थ से शून्य गुणों का प्रविलीन हो जाना कैवल्य है, अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है"। यहाँ पर गुणशब्द से बुद्धि के रूप में परिणत सत्त्व आदि कहे गये हैं। कैवल्य एकाकिता है। और यह एक दूसरे के प्रति वियोग स्वरूप का होने से, गुण और पुरुष – दोनों का ही होता है। उसमें विवेकख्याति रूप परवैराग्य से पुरुषार्थ से शून्य गुणों का जो पुरुष के उपकरण हैं, उनका प्रविलीन हो जाना प्रलय है। इसलिए (गुणों का) पुरुष से अत्यन्त वियोग हो जाना है, न कि उनके नाश, क्योंकि सूत्र में कहा गया है – "कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होने पर भी, अन्य पुरुष – साधारण होने से नष्ट नहीं होता है"। "इन दो प्रकार के कैवल्यों से" पहला कैवल्य प्रकृति के धर्मरूप है। और दूसरा कैवल्य पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है। और (वह चितिशक्ति का प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान उपाधि से वियुक्त हो जाना है)। वह चितिशक्ति ही प्रतिबिम्ब रूप में उपाधि से अलग हो जाना है। दोनों पक्षों में पुरुष का दुःखभोग निवृत्ति रूप पुरुषार्थ में अन्त हो जाना है। इसलिए "अनागत कालिक दुःख त्याज्य है" यह सूत्र का, अब इसके बाद "तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है" – इस सांख्यसूत्र के साथ अविरुद्ध है। वेदान्ती तो परमात्मा में जीवात्मा का लय को मोक्ष कहते हैं। उनके साथ हमारा (योगाचार्यों का) विरोध नहीं है। समुद्र में नदियों के लय की तरह ब्रह्म में जीवों की उपाधियों का लय हो जाने से (दोनों में) अविभाग है, क्योंकि यही लयशब्दार्थ है। और अन्त तक उसके पर रूप (भिन्न सत्ता) में प्रतिष्ठित न होना है। वैशेषिक दार्शनिक तो समस्त विशेष गुणों के उच्छेद हो जाने को मोक्ष कहते हैं। वह भी हमसे विरुद्ध नहीं है। क्योंकि हम भी उपाधि के विशेष गुणों को ही उपधिमान् (जीव) में मानकर, उन विशेषगुणों के उच्छेद को (मोक्ष में उपचार माना है। नैयायिक तो अत्यन्त भाव से दुःख की निवृत्ति

को मोक्ष माना है। यह तो हमारे (श्रीविज्ञानभिक्षु अर्थात् सांख्ययोगी) मत में भी है, क्योंकि भोग्य और भोक्ता के भाव से दुःखों की निवृत्ति पुरुषार्थ है, न कि समवाय सम्बन्ध से, यही हमारा उनसे विशेष है। जो नवीन वेदान्ती नित्य आनन्द की प्राप्ति को परम/श्रेष्ठ मोक्ष के रूप से स्वीकार करते हैं, उसको हम योग दार्शनिक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि वेदान्त आदि समस्त दर्शनों में उसको (प्रमाणित करने वाला) सूत्र का अभाव है, और श्रुति और स्मृति के न्याय से विरोध भी है। इस विषय में मोक्ष में सुख का प्रतिषेध करने वाले श्रुतियाँ, जैसे – "विद्वान् हर्ष और शोक को त्याग देता है। शरीर के छूट जाने पर उसको प्रिय तथा अप्रिय स्पर्श नहीं करपाते", हैं। और स्मृतिवाक्य जैसेः–

"जो कुछ सुख है, उन सब को दुःख के रूप में मानकर अत्यन्त कठिनाई से पार किये जा सकने वाले अत्यन्त भयङ्कर संसाररूप सागर को पार कर सकता है। जो मनुष्य विद्या तथा कर्म से परमात्मा में लीन हो जाता है। वह कभी भी न सुख से और न दुःख से संयुक्त होता है।"

और न्याय तो यही है कि यदि मोक्ष को उत्पन्न होने वाला मानेंगे, तो वह विनाशी हो जाएगा। अब नित्य सुख की उपलब्धि को मोक्ष कहा जाए, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि (किसी भी पदार्थ की) उपलब्धि नित्य तथा अनित्य से युक्त होता है। और नित्य सुख को प्राप्ति का साधन जो अविद्या आदि कुछ भी आवरण है उस का भङ्ग ही पुरुषार्थ है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि संसार में सुख के अनुभव का ही पुरुषार्थत्व के रूप में स्वीकार है और चैतन्य के नित्य हो जाने से आवरण का भी सम्भव नहीं होता है। यदि इस प्रकार तर्कों की उपस्थापना की जाए तो मोक्ष में परमानन्द को प्राप्त कराने वाले श्रुति और स्मृति (के वाक्य) कैसे सङ्गत होंगे, इस प्रकार भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से प्रतिपादित परिभाषा से ही उसकी उपपत्ति हो जाएगी। जैसे :–

"(संसार में) दुःख ही है, सुख नहीं है, जिसको कि दुःख की उपलब्धि होती है। दुःख से आर्त्त मनुष्य की दुःखनिवृत्ति रूप प्रतिकार में सुख का विधान किया जाता है। वस्तुतः कामसुख की अपेक्षा ही दुःख है और सुख तथा दुःख से अतिरेक होना ही सुख है।"

इत्यादि स्मृतियों से ही दुःखबहुल होने से सुख भी दुःख के रूप में परिभाषित होकर उस प्रकार के दुःख की निवृत्ति ही सुख के रूप से परिभाषित है, यही इसके उपादेय गुणत्व है। इसलिए सांख्यसूत्र में कहा गया है कि – "दुःखनिवृत्ति ही गौण (रूप से सुख कही जाती) है, और दुःख निवृत्तिरूप) मुक्ति की प्रशंसा मन्दबुद्धिवालों के लिए है।" आनन्द की प्राप्ति तो गौण (अप्रधान) रूप मोक्ष है, और यह ब्रह्मलोक में होता है।

वह कैवल्य संक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। जैसे :–

"योगशास्त्र का साररूप अर्थ संक्षेप से कह दिया गया है, तथा योगदर्शन में मोक्ष में इच्छा रखने वाले को इससे अधिक अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सांख्यसार (नामक पुस्तक) के प्रकरण (प्रसङ्ग) में तत्त्वज्ञान की विस्तृत चर्चा की गयी है, यहाँ पर ग्रन्थविस्तार के भय के कारण इसके आगे अधिक वर्णन नहीं किया जा रहा है। वेदान्त के प्रकारण में (विज्ञानमृतभाष्य में) तथा ब्रह्मादर्श आदि ग्रन्थों में ईश्वर का वर्णन किया गया है, यहाँ पर ग्रन्थ की संक्षेपता की कामना करते हुए इसका वर्णन नहीं किया गया है। समान शास्त्र के सिद्धान्तों के न्याय से इस योग दर्शन में सांख्यदर्शन के अनुसार ही विरोध रहित होते हुए सृष्टि आदि विषयों को जानना चाहिए। और उनके द्वारा दूषित ईश्वर आदि यहाँ पर (योग दर्शन में) प्रसाध्य होंगे। वेदान्त तथा न्याय आदि दर्शनों में यह ईश्वर सिद्ध है। उनके द्वारा भी सिद्ध न किया गया स्फोट शब्द, तथा बुद्धि के वैभव (सिद्धि आदि) सांख्य दर्शन के दोषों का निराकरण करते हुए यहाँ पर हमसे संक्षेप से सिद्ध किया गया है।

रजनी

केवलस्य भावः कैवल्यम् – इस व्युत्पत्ति के अनुसार केवलीभाव को प्राप्त हो जाना ही कैवल्य है। गौड़पाद के अनुसार यह केवल अन्यत्वभाव है अर्थात् पुरुष का अन्यत्वभाव को प्राप्त कर जाना है। इस कैवल्य को स्पष्ट करने के लिए पतञ्जलि ने कहा है कि :–

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा।"
(यो०सू०, 4/34)

अर्थात् पुरुषार्थ से शून्य गुणों का प्रविलीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। यही बात सूत्रकार ने कहा भी है कि :–

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।" (यो0सू0 1/3)

अर्थात् पुरुष के प्रति पुरुषार्थ का सम्पादन कर चुकने से पुरुष के उपकरणभूत लिङ्गशरीरात्मक महदादि अवयवों का अपने कारण में आत्यन्तिक विलय हो जाता है। यही ज्ञानी पुरुष के प्रति प्रधान का कैवल्य कहा जाता है। यह पुरुषार्थ दो प्रकार का है, जैसे – भोग तथा अपवर्ग। इन दोनों में से शब्दादि विषयों की उपलब्धि भोग तथा गुणपुरुषान्तर की उपलब्धि अपवर्ग कहा जाता है। वस्तुतः विवेकज्ञान से युक्त पुरुष के साथ प्रधान का किसी भी प्रकार का संयोग नहीं होता है, चाहे वह भोगरूप वाला हो अथवा अपवर्गरूप वाला। इस समय धर्म तथा धर्मी के अभेद से पुरुष की बुद्धि सत्त्वरूप उपाधि से रहित चैतन्यमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। जिस प्रकार जपाकुसुम के अपसारण से स्फटिक मणि उपाधि से रहित होकर स्वच्छ तथा निर्मल हो अपने स्वरूप में रह जाता है। इसी प्रकार पुरुष और बुद्धि का उपाधि तथा उपाधिमान् में वियोग हो जाने पर पुरुष अन्यत्वभाव को प्राप्त कर जाता है। यही कैवल्य है। उपाधि और उपाधिमान् रूप बुद्धि और पुरुष ही दुःखभोगनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ के साधन होते हैं। इसलिए यह कैवल्य दोनों का ही होना चाहिए। इन दोनों प्रकार के कैवल्यों में से प्रथम प्रकृतिगत कैवल्य पुरुष में उपचरित होता है। ईश्वरकृष्ण ने भी यही बात कही है, जैसे :–

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति पुरुषः।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽश्रया प्रकृतिः।" (सां0का0, 62)

अर्थात् पुरुष का न संसरण, न बन्धन, न कि मुक्ति, अपितु बुद्ध्यादि उपकरणों वाली प्रकृति की ही संसरण, बन्धन तथा मुक्ति होती है। अतः पुरुष में स्वरूपप्रतिष्ठारूप कैवल्य अथवा दुःखभोग का आत्यन्तिक निवृत्तिरूप पुरुषार्थ निराकृत नहीं होता है। क्योंकि मोक्ष के तद्भिन्न बुद्धि में रहने पर अपुरुषार्थरूप मोक्ष के लिए पुरुष की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है। वस्तुतस्तु बुद्ध्यादिकरणों की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए होती है। अतः वार्त्तिककार ने कहा है कि :–

"न तु स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं दुःखभोगात्यन्तनिवृत्तिरूपो वा पुरुषार्थः पुरुषस्य तत्र निराकृतः, मोक्षस्यान्यमात्रनिष्ठत्वेऽपुरुषार्थत्वे मोक्षार्थ प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, पुरुषार्थं हि करणानां प्रवृत्तिरिति।" (यो0वा0, 4/34)

कार्यकारणभावरूप लिङ्गशरीर के अवयवभूत महदादि से लेकर तन्मात्ररूप सूक्ष्मभूत पर्यन्त पदार्थ के रहने पर भी जीवन्मुक्तिरूप कैवल्य का उदय होता है। अर्थात् जीवितः सन् मुच्यते इति – इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीवित रहते हुए मुक्त हो जाना ही जीवन्मुक्त कहलाता है। पुरुष का बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः सम्बन्ध न होने से पुरुष की केवल चितिशक्तिरूप में स्वरूपप्रतिष्ठा होती है। पुरुष का एक बार अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर उसकी सर्वदा वैसी ही स्थिति बनी रहना विदेहमुक्त नामक कैवल्य है।

(स्फोट के स्वरूप)

तत्र शब्दस्तावत्त्रिविधो भवति – वागिन्द्रियविषयः, श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्रविषयश्च। तेषु कण्ठताल्वादिस्थलावच्छिन्नः शब्दो वागिन्द्रियस्य विषयः तत्कार्यत्वात्। वागिन्द्रियव्यवहितः श्रोत्रस्थश्च शब्दजः शब्दः श्रोत्रस्य विषयः, तदग्राह्यत्वात्। घट इत्यादि पदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः, वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात्। तानि पदान्येवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते।

तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तम्, वर्णाना-माशुतरविनाशितया मिलनाभावेनैकं पदमितिव्यवहारगोचरत्वासम्भवात्, अर्थस्मारकत्वासम्भवाच्च। अस्य च स्फोटस्य कारणमेकः प्रयत्नविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सत्येकपदव्यवहाराभावादर्थाप्रत्ययाच्च। तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वीविशेषविशिष्टतयाऽन्त्यवर्णप्रत्ययः। अतश्च तद्बुद्धेरेव स्फोटग्राहकम्, आनुपूर्व्या बुद्ध्यैव ग्रहणसम्भवेन सामानाधिकरण्यप्रत्या-सत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात्। अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते, घोत्तरटत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण ग्रहणासम्भवादाशुतरविनाशितया वर्णानां मिलनासम्भवात्। पूर्वपूर्ववर्ण-संस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठामन्तःकरणसहकारित्वस्यै-वौचित्यादिति।

स्यादेतत्। स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थ-प्रत्यायकत्वरूपमस्तु, अलं स्फोटेन, तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायात्। एतदेव सांख्यसूत्रेणोक्तम् – "प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः" इति। एकत्वप्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यत इति।

अत्रोच्यते, एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः। असमवायिकारण-संयोग-विशेषाविशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां

लाघवात्तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायसाम्यात्। एको घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येक वनमित्यादिप्रत्ययवदुपपत्तेः। अथ परमाणूनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेत्, तुल्यं स्फोटेऽपि। आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रियघटिततयाऽऽनुपूर्वीविशिष्टचरम–वर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोटसाधकमिति। अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत्कल्प्यत इत्यतस्तत्र लौकिप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः। तथा हि – प्रणवस्याकारोकाररूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति। सा च चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव सम्भवति। सैव चार्धमात्रेत्युच्यते। राशिवदविभक्तयार्हि वर्णपदयोर्वर्ण एकमर्ध पद वा तदर्धमित्युपपद्यते। यथा चावयवेभ्यो विविच्यावयवी न व्यवहार्यो भवति। एवमेव प्रत्येकवणेभ्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इत्यतः स्मर्यते – "अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः" इति।

ननु स्यादेवमर्धमात्रोपपत्तिः, नादबन्द्वोस्तु किं स्वरूपम् ? उच्यते। प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्गनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः, या च नादस्योपरमावस्थाऽतिसूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया बिन्दुरुच्यत इति। तस्मादवयवेभ्योऽवयवीव वर्णेभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम्। नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक्।

अनुवाद

उनमें से शब्द (स्फोट) तीन प्रकार का होता है, जैसे – वागिन्द्रियविषय, श्रोत्रविषय और बुद्धिमात्रविषय (केवल बुद्धिमात्र–विषयक)। इनमें से कण्ठ, तालु आदि स्थानों से अवच्छिन्न शब्द वागिन्द्रिय का विषय है। क्योंकि ये उसके कार्य हैं। और वागिन्द्रिय से व्यवहित श्रोत्र में रहने वाले जो शब्दज शब्द हैं, वे श्रोत्र का विषय है, (उसके द्वारा गृहीत होने से घट आदि पद तो केवल बुद्धि का विषय है, आगे कहे जाने वाले तर्कों से बुद्धिमात्र से ही गृहीत हो जाने से। वे पद ही अर्थों के स्फुटीकरण करने से स्फोट कहे जाते हैं।

वह पद वागिन्द्रिय से उच्चरित प्रत्येक वर्ण से अतिरिक्त है, क्योंकि वर्णों के (स्वभाव) अत्यन्त विनाशी हो जाने से उनके संघात न होने के कारण एक पद रूप में व्यवहार सम्भव नहीं होता है, और (शब्द से) अर्थ का बोधन भी सम्भव नहीं होता है। और इस स्फोट का कारण एक विशिष्ट प्रयत्न है, क्योंकि प्रयत्न के भेद से उच्चारण करने पर एक पद

रूप व्यवहार का अभाव होता है और अर्थ का भी प्रत्यय नहीं हो पाता है। और उस स्फोट का व्यञ्जक आनुपूर्वीविशेष से विशिष्ट (उच्चरित वर्णों में) अन्त्यवर्ण का प्रत्यय है। इसलिए स्फोट को ग्रहण करने वाली बुद्धि ही है। आनुपूर्वी से बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण सम्भव होने के कारण समान अधिकरण रूप प्रत्यासत्ति से आनुपूर्वी प्रत्यय का स्फोट नामक पद के अभिव्यक्ति में कारण को मानने से लाघव है। इसलिए स्फोट श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि घकार के पश्चात् टत्वादि रूप से आनुपूर्वी का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता है तथा वर्णों के अभाव हो जाता है और पूर्व पूर्व (में उच्चरित) वर्णों के संस्कार और उनमें स्मृतियाँ अन्तःकरण में रहती है तथा अन्तःकरण को सहकारी के रूप में मानना उचित ही है।

ऐसा ही हो। तब स्फोट रूप व्यञ्जक, आनुपूर्वी से विशिष्ट अन्तिम वर्ण का पदरूप तथा अर्थ को बोधन कराने वाला हो, स्फोट को मानने से क्या लाभ ? क्योंकि कारण से ही यदि कार्य सिद्ध हो जाए तो कार्य का प्रयोज़न नहीं रहता है – यह न्याय है। यह सांख्यसूत्र के द्वारा भी बताया गया है–"प्रतीति एवं अप्रतीति दोनों होने से शब्द स्फोट रूप नहीं है।" एकत्व का ज्ञान भी आनुपूर्वी विशिष्ट अन्तिमवर्ण के एकत्व से ही उपपत्ति हो जाती है।

(इस प्रकार तर्क देने पर अब) इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि (यदि उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया जाएगा तो) अवयवी के उच्छेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। क्योंकि असमवायिकारण के संयोग विशेष से अवच्छिन्न (घट आदि के) अवयवों का ही जल आदि के आहरण में हेतुत्व की कल्पना में लाघव होने से, उसके (आनुपूर्वी विशिष्ट अन्त्यवर्ण रूप व्यञ्जक पद का) हेतु का ही (अर्थ प्रत्यायकत्व) हो और यह न्यायदर्शन के मत के साथ साम्य भी है। तथा "एकः घटः" इत्यादि प्रत्ययों का "एकं वनम्" इत्यादि प्रत्ययों के सदृश उपपत्ति हो जाएगी। अब परमाणुओं का और उसके संयोगों का इन्द्रियातीत होने से उसके रूपत्व अवयवि का प्रत्यक्ष असम्भव है – यह अवयवि के साधक है – यदि ऐसा कहा जाए तो स्फोट के विषय में भी इस प्रकार स्वीकार करना चाहिए। स्फोट के साधक आनुपूर्वी के क्षण आदि अतीन्द्रियघटित होने के कारण (पद को) आनुपूर्वी से विशिष्ट चरम वर्ण के स्वरूप में (स्वीकार किया जाए तो उस) पद का प्रत्यक्ष असम्भव हो जाएगा। और भी स्फोटशब्द हमारे द्वारा श्रुति प्रमाण से ही स्वर्गादि की तरह कल्पना करने

में लौकिक प्रमाण के अभाव में कोई हानि नहीं है। वैसे ही प्रणव का अकार, उकार तथा मकार रूप तीन मात्रा की ब्रह्मा आदि तीन देवताओं के स्वरूप कह कर प्रणवरूप तीनों देवताओं से अतिरिक्त परब्रह्म स्वरूपवाला चतुर्थ मात्रा को श्रुतियाँ प्रमाण करती हैं। और यह चौथी मात्रा तीनों वर्णों से अतिरिक्त स्फोट ही हो सकता है। और यह ही अर्धमात्रा कही जाती है। राशि के सदृश वर्ण और पद में आधा भाग वर्ण तथा दूसरा भाग पद अविभक्त ही उपपन्न होते हैं। और जैसे अवयवों से पृथक् अवयवी का व्यवहार उचित नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण से पृथक् करके पद को उच्चारण करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए स्मृति में कहा गया है कि :–

"जो नित्य ही अर्धमात्रा में स्थित है तथ पृथक् रूप से उच्चरित नहीं हो सकता है।"

अस्तु इस प्रकार ही अर्धमात्रा की उपपत्ति मान लिया जाए, तो (यहाँ पर प्रश्न उठता है कि) नाद और विन्दु का क्या स्वरूप है ? अब कहते है कि प्रणव के उच्चरित होने पर जो शङ्खनाद तथा वेणु की नाद की तरह स्वरविशेष होता है वह नाद है, और जो नाद की समाप्ति स्थिति अतिसूक्ष्म है वह शून्य सदृश होने से विन्दु कहा जाता है। इसलिए अवयवों से अतिरिक्त अवयवी के सदृश वर्णों से अतिरिक्त पद है, तथा वह ही स्फोट है – यह सिद्ध होता है। अस्तु, इस प्रकार यदि वाक्यस्फोट भी हो (यदि ऐसा कहा जाए तो) बाधक के अभाव होने के कारण यह स्वीकार किया जा सकता है।

रजनी

भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में प्रमुख रूप से योगदर्शन सम्प्रदाय तथा व्याकरणदर्शन सम्प्रदाय ही स्फोट को मान्यता देते हैं। अन्य दर्शनसम्प्रदाय इसका खण्डन करते हैं। इनमें से योगदर्शन के साथ समानशास्त्र को प्राप्त किया हुआ सांख्यदर्शन भी स्फोट का खण्डन करता है। इसके प्रवर्त्तक महषि कपिल सांख्यसूत्र में कहा है कि :–

"प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः।" (सां०सू०. 5/57)

अर्थात् प्रतीति एवं अप्रतीति दोनों होने से स्फोटरूप शब्द नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतीति के माने जाने पर क्रमविशेष सं विशिष्ट जिस वर्णसमुदाय से वह अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह वर्णसमुदाय ही उस अर्थ को

प्रतीत करवाने वाला होगा, अतः स्फोट निरर्थक है। अप्रतीति के माने जाने पर जो स्फोट को नहीं जानता उस में अर्थज्ञान की शक्ति नहीं होगी। अतः स्फोट की कल्पना निरर्थक है। यही प्रवचनभाष्य में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"स शब्दोऽप्रामाणिकः, कुतः ? प्रतीत्यप्रतीतिभ्याम्। स शब्दः किं प्रतीयते न वा ? आद्ये येन वर्णसमुदायेनानुपूर्वीविशेषविशिष्टेन सोऽभिव्यज्यते तस्यैवार्थप्रत्यायकत्वमस्तु, किमन्तर्गडुना तेन। अन्त्ये त्वज्ञातस्फोटस्य नास्त्यत्यर्थप्रत्यायनशक्तिरिति व्यर्था स्फोटकल्पनेत्यर्थः।"

(सां०प्र०भा०, 5/57)

ये सांख्यदार्शनिक वर्णों में ही अर्थाभिधायक शक्ति को मानते हैं। वस्तुतः स्फोट का पूर्णविवेचन केवल वैयाकरण ने ही किया है। योग में तो विभूति निर्वचन में प्रसङ्गवश इसका विवेचन किया गया है। परन्तु व्याकरणशास्त्र में यह प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। पतञ्जलि महाभाष्य में स्फोट शब्द के अर्थ में ध्वनि तथा शब्द आदि का प्रयोग मिलता है। परन्तु महाभाष्य के पा० 1/1/70 – इस सूत्र में प्रयुक्त स्फोटशब्द अर्थग्राहक तत्त्व के लिये नहीं हुआ है। वाक्यपदीय के अनुसार ध्वनि उन शब्दों की संज्ञा है जिनका वक्ता उच्चारण करता है। तथा जो तात्त्विक अभिव्यञ्जक होता है। और स्फोट उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर अर्थ का निष्पादक होता है।

श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार शब्द तीन प्रकार से विभाजित होता है। जैसे :–

क० वागिन्द्रियविषयक शब्द।

ख० श्रोत्रेन्द्रियविषयक शब्द।

ग० बुद्धिमात्रविषयक शब्द।

क० वागिन्द्रियविषयक शब्द :–

उपर्युक्त तीनों में से कण्ठ, तालु आदि स्थानों से अवच्छिन्न शब्द वागिन्द्रिय का विषय है। यह वक्ता के उच्चरित ध्वनि स्वरूप वाला है। यह आठ स्थानों से उच्चरित होता है। जैसे कि श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च।।"

(यो०वा०, 3/17)

अर्थात् उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु – ये आठ वर्णों के उच्चारण स्थान है।

ख० श्रोत्रेन्द्रियविषयक शब्द

वक्ता के वागिन्द्रिय से व्यवहित श्रोत्र प्रदेश में रहने वाले शब्दज शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के विषय हैं। वस्तुतः वागिन्द्रिय का उच्चरित प्रदेश से बहिर्प्रदेश में व्यापार नहीं होता है। इसलिए श्रोत्रग्राह्य से बाह्य शब्द और श्रोता की बुद्धि से ग्राह्य वाचक शब्द वागिन्द्रिय का विषय नहीं होता है। जब वायु वागिन्द्रिय के उन आठ प्रकार के उच्चारण स्थानों में से अभिघात को प्राप्त करता है तब उसे ध्वनि कहा जाता है। इस परिणामभेद से वायु वक्ता के मुख से होते हुए शब्दतरङ्ग को उत्पन्न करती हुई श्रोता के श्रोत्रदेश तक पहुँचती है। उक्त ध्वनि का परिणामभूत वर्णावर्णसाधारण नादाख्य शब्दसामान्य ही श्रोत्र का विषय बनता है। इस समय ध्वनि का अपरिणामभूत वाचक पद श्रोत्रग्राह्य नहीं होता है। यह श्रोत्रेन्द्रिय विषयभूत शब्द ही वर्णजाति वाला होने से वर्ण कहलाता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :–

"ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियशङ्खादिष्वभिहतस्योपादानवायोः परिणामभेदः, येन परिणामेनोदानवायुर्वक्तृदेहादुत्थाय शब्दधारां जनयन् श्रोतृश्रोत्रं प्राप्नोति तस्य ध्वनेः परिणामभूतं वर्णावर्णसाधारणं नादाख्यं शब्दसामान्यमेव श्रोत्रस्य विषयः न तु ध्वन्यपरिणामभूतं वाचकं पदमित्यर्थः। स च शब्दो वर्णजातियत्वेन वर्ण इत्युच्यते।" (यो०वा०, 3/17)

ग० बुद्धिमात्रविषयक शब्द

यहाँ पर यह बुद्धिमात्रविषयक शब्द ही स्फोट के नाम से जाना जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत घटादि पद बुद्धि का विषय होता है। क्योंकि यह केवल बुद्धि से ही गृहीत होता है। यह शब्द अन्तःकरण का विषय होता है। यह अनुभवसिद्ध नादाख्य गकारादि वर्णों में से प्रत्येक पद को ग्रहण करते हुए बुद्धि में एकत्व को प्राप्त करते हुए गौ – यह प्राप्त होता है। उस बुद्धि से निग्राह्य पद वर्णों से अतिरिक्त, एक ही क्षण

में उत्पन्न होने के कारण अखण्ड़ तथा संस्कारात्मक स्फोट संज्ञा वाला होता है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि :—

"यथाप्रतीतिसिद्धान्नादाख्यान् गकारादिवर्णान् प्रत्येकं पदमिति, गृहीत्वाऽनु पश्चाद्या बुद्धिः संहरति—एकत्वमापादयति, गौरित्येकं पदमिति, तया बुद्ध्या निर्ग्राह्यः वर्णेभ्योऽतिरिक्तमखण्डमेकदैवोत्पद्यमानं वक्ष्यमाणं स्फोटाख्यमिति शेषः।" (यो०वा०, 3/17)

ये पद अर्थ के स्फुटीकरण करने से स्फोट कहे जाते हैं। क्योंकि जिससे अर्थ स्फुट होकर अभिव्यक्त होता है, उसे स्फोट कहा जाता है। इस स्फोट में ध्वनि की अभिव्यञ्जकता तथा अर्थ की प्रत्यायकता दोनों हैं। इस स्फोट को मानने की आवश्यकता क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि वर्ण उच्चारण प्रध्वंसशील है। जैसे घटः यह शब्द। वक्ता जब घटः शब्द का उच्चारण करता है तब उससे घ् + अ + ट् + अः – यह सङ्घात उच्चरित नहीं हो पाता है। क्यों कि जब घ् कार उच्चरित होता है उस समय अ अनागत रहता है। जब अ उच्चरित होता है तब ट् कार अनागत रहता है। जब ट् उच्चरित होता है तब घ् विनाश को प्राप्त कर जाता है। और अः कार के स्थिति दशा में उपर्युक्त सभी तीनों वर्णों का नाश हो जाता है। जैसे :—

प्रथमक्षण	द्वितीयक्षण	तृतीयक्षण	चतुर्थक्षण	पञ्चमक्षण
घ् की उत्पत्ति	घ् की स्थिति अ की उत्पत्ति ट् की उत्पत्ति	घ् का नाश अ की स्थिति अः की उत्पत्ति न कि पूर्वो— च्चारित वर्ण।	अ का नाश ट् की स्थिति	ट् का नाश अः की स्थिति इस समय केवल अः कार की ही उपस्थिति है।

इस प्रकार उच्चरित प्रध्वंसशील होने से इन वर्णों की सङ्घात उपस्थिति सम्भव नहीं है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा भी है कि :—

"स्फोटशब्दस्य च कारणमेकप्रयत्नजन्यो ध्वनिविशेषः।
प्रयत्नभेदेनोच्चारणे व्यवधाने सत्येकपदव्यवहाराभावात्।"
(यो०वा०, 3/17)

तथा यह श्रोत्र प्रदेश में सङ्घात उपस्थिति न हो सकने के कारण श्रोता घटः शब्द से अर्थ का अवगमन नहीं कर पाता है। इसलिए वर्णों से जन्य

संस्कारविशेष को स्वीकार करना पड़ा। इससे पूर्व–पूर्व वर्णों के संस्कार से चरमवर्ण के उच्चारण सन्निधि काल में सङ्घात रूप को प्राप्त करता है, तथा श्रोता के श्रोत्र प्रदेश सङ्घात उपस्थिति होने से शाब्दबोध हो जाता है। जैसेः– घटः :–

प्रथमक्षण	द्वितीयक्षण	तृतीयक्षण	चतुर्थक्षण	पञ्चमक्षण
घ् की उत्पत्ति	घ् की स्थिति	घ् का नाश	घ् का संस्कार	ट् का नाश
	अ की उत्पत्ति	अ की स्थिति	अ का नाश	घ् का संस्कार
		ट् की उत्पत्ति	ट् की स्थिति	अ का संस्कार
			अः की उत्पति	ट् का नाश
				अः की स्थिति

इस प्रकार पञ्चमक्षण में अः की स्थिति दशा में ही पूर्व उच्चरित वर्णों के संस्कार के कारण वर्ण समुदय से शाब्दबोध उत्पन्न हो जाता है। श्रोत्रदेश में क्रम से स्फोट के कारण श्रोता को घटः शब्द से शाब्दबोध होता है। इस पर श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि – जिस प्रकार बीज, अंकुर आदि अनेक अवस्था वाले वृक्ष धर्मी अपने बीजादि क्रमिक धर्मों से भिन्न होता हुआ पूर्ण विकसित अवस्था से अभिव्यक्त होता है। जैसे आम्र का वृक्ष आम्र ही होता है, अन्य नहीं। यह वृक्ष धर्मी अपने बीजादि धर्मों से भेदाभेद रूप वाला होता है। इसी प्रकार घ् कार, अ कार, ट् कार और अः कार आदि अनेक वर्णात्मक अवस्था वाला घटः इत्याकारक अखण्डरूप स्फोटात्मक शब्द क्रमयुक्त घ् कारादि वर्णात्मक अवस्था से भिन्न होता हुआ वर्णों से विसर्जनीयादि रूप चरमावस्था से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार घटः – यह घड़ा है, न पटः – न कि पट – यह अभिव्यक्त होता है। यह स्फोटात्मक पद कथित घ् कारादि वर्णों से भेद और अभेद भी है, क्योंकि घ् कारादि वर्ण और घटः – यह स्फोटात्मक पद का भेदाभेद अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार छह सोपान से ही शब्द से अर्थबोध होता है। जैसेः–

1. वागिन्द्रिय के उर आदि आठ स्थानों में से किसी स्थानविशेष के साथ वायु के अभिघाताख्य संयोग से तत्–तत् वर्णों की उत्पत्ति।
2. प्रत्येक वर्णग्राही एक–एक श्रावण प्रत्यक्ष होगा।
3. उन श्रावण प्रत्यक्षों से प्रत्येक वर्णविषयक प्रत्येक संस्कार होगा।

4. उन प्रत्येक संस्कार से पदविशेषघटक समस्त वर्णविषयक स्मृति का उत्पन्न होना।

5. स्मृतिसहकारकृत अन्तःकरण से आनुपूर्वी विशिष्ट पूर्णपदात्मक पदस्फोटः का मानस प्रत्यक्ष होना।

6. उस पदस्फोट विषयक ज्ञान से अर्थ की स्मृति होना।

इस प्रकार क्षणिक, क्रमिक, नानाप्रयत्नसाध्य तथा सखण्ड वर्णों से नित्य, अक्रम, एक प्रयत्नसाध्य तथा अखण्ड पदस्फोट उत्पन्न होता है।

यहाँ पर वाचस्पति मिश्र पदस्फोट की अभिव्यक्ति में एक काल को न मानकर क्रमिक मानते हैं। उनके अनुसार प्रथम वर्ण से स्फुट पद की अस्फुट अभिव्यक्ति होती है, तदनन्तर वह स्फोट द्वितीयादि वर्णों से स्फुट, स्फुटतर तथा स्फुटतम होता चलता है। अर्थात् प्रत्येक वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करता हुआ भी अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्पष्टरूप से स्फोट का अभिव्यञ्जक नहीं होता है, अपितु पूर्व–पूर्व अभिव्यक्ति से उत्पन्न संस्कारों के सहित अन्तिम वर्ण ही स्पष्टरूप से स्फोट को प्रकाशित करता है।

जैसे तत्त्ववैशारदी में कहा है :–

"केवलभागानुभवेन पदमव्यक्तमनुभूयते। अनुसंहारधिया तु भागानुभव–योनिसंस्कारलब्धजन्मना व्यक्तमिति। अव्यक्तानुभवाश्च प्राञ्चः संस्काराधा–नक्रमेण व्यक्तमनुभवमादधाना दृष्टाः।" (त0वै0, 3/17)

(मनोवैभव)

स्फोटो व्यवस्थापितः। मनोवैभवं व्यवस्थाप्यते। धर्माधर्म–वासनाश्रयतया प्रतिपुरुषमन्तःकरणं नित्यम्। न च प्रकृतिधर्मा एव सन्त्वदृष्टादय इति वाच्यम्, अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखा–द्युत्पत्तेऽतिप्रसङ्गात्। तच्च नाणु सम्भवति, योगिनां सर्वावच्छेदेनैक–दाऽखिलसाक्षात्कारसम्भवात्, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादाव–नेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च। न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात्, संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने गौरवात्, अन्योऽन्यं व्यभिचाराच्च, साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने गौरवाच्च। अस्मन्मते च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्यान्तःकरणस्य तमस्–आख्यावरणभङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेरिति।

नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति, प्रलये विनाशेनादश्ष्टाद्याधा-रतानुपपत्तेः। अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभ्वेव सिध्यति। तथा स्मर्यते –

"चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने।।" इति।

स्यादेतत्। अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्या-वरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते। अत एव संख्य-सूत्रम् – "न व्यापकं मनः करणत्वात्" इति "तद्गतिश्रुतेः" इति च। किं चैवं सति लाघवाच्चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितम्, किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते ? तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यत इति।

अत्रोच्यते, गतिश्रुतिस्तावदात्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधि-नोपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं सांख्यैरप्येष्टव्यम्। केवलकार्यत्वे "अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्" इति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः, केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः। यदुक्तं चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्, कूटस्थचैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासम्भवात्। न च चैतन्यस्यार्थसम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्, एवमप्यात्मदर्शनानुपपत्तेः। करणद्वारं विना स्वस्मिन्प्रतिबिम्बादिरूपेण स्वसम्बन्धासम्भवात्। अपि चेच्छाकृत्याद्याधारतयाऽन्तःकरणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दृश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्प्यन्ते, कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यौचित्यात्। त एव च घटाद्याकारपरिणामाश्चैतन्ये भासन्ते, तद्विभागेनैव ब्राह्यघटादिकं भासते। अतस्तादृशपरिणामप्रतिबन्धकमेवावरण करणनिष्ठत्वं चानुमीयते। आत्मनोऽनावृत्तत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां चेति। न, विभ्व्या अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणामवद् गुणान्तरभेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूपपरिणामोपपत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतष्यत इति दिक्।

अनुवाद

स्फोट की सिद्धि कर दी गयी। अब मन के विभुत्व की सिद्धि की जा रही है। अदृष्ट आदि प्रकृति के धर्म हों – ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि किसी अन्य (पुरुष) निष्ठ अदृष्ट आदि से किसी अन्य पुरुष में सुख, दुःख आदि की उपपत्ति की प्रसक्ति हो जाएगी। और वह (अन्तःकरण) अणु भी नहीं हो सकता है, क्योंकि योगियों के

सर्वावच्छेद से एक समय में ही समस्त प्रकार के साक्षात्कार हो जाते हैं, और अयोगियों का भी दीर्घशष्कुली के भक्षण में ही अनेक इन्द्रियों की वृत्तियों का अनुभव हो जाता है। (यहाँ पर) योगियों के योगजधर्म ही प्रत्यासत्ति – यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग, संयुक्तसमवाय आदि लौकिक प्रत्यासत्तियों की प्रसक्ति होने पर अन्य सन्निकर्ष की कल्पना में गौरव है, और एक दूसरे में व्यभिचार भी हो जाएगा, और साक्षात्कारों में अवान्तर जाति की कल्पना में भी गौरव है। और हमारे मत में समस्त विषयों के ग्रहण में समर्थ अन्तःकरण के तमोगुण रूप आवरण का भङ्ग ही योगजधर्म आदि से किया जाता है तथा सुषुप्ति में तमोगुण की वृत्तियों के प्रतिबन्धकत्व से सिद्धि हो जानी है। अन्तःकरण मध्यमपरिमाणवाला भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रलय में विनाश को प्राप्त हो कर लेने के कारण अदृष्ट आदि के आधार की अनुपपत्ति हो जाती है। इसलिए परिशेष से अन्तःकरण विभु ही सिद्ध होता है। और तथा स्मृतियों कहा गया है कि – "हे वरानने, चित्ताकाश, चिदाकाश और तृतीय आकाश है। (इन तीनों आकाशों में) चिदाकाश अन्य दोनों आकाशों से भिन्न जानो।"

अस्तु यह ही हो। परन्तु अन्तःकरण के विभु हो जाने से परिच्छिन्न वृत्ति के लाभ का आवरण आदि से उपपत्ति होने पर भी, अन्य लोकों गमनादि रूप सिद्धि की उपपत्ति नहीं हो पाएगी। इसलिए संख्यसूत्र में कहा गया है कि "मन के करण होने से व्यापक नहीं है" और "मन की गति को बताने वाली श्रुति होने कारण"। और इस प्रकार लाघव से चैतन्य के ही आवरण कल्पना उचित है। अतः किस कारण अन्तःकरण के विभुत्व की कल्पना की जाए ? उसमें ज्ञान के प्रतिबन्धक ही आवरण के रूप से कल्पित है।

इस पर कहते हैं कि (मन की) गति को प्रमाणित करने वाली श्रुति आत्मा की तरह अन्तःकरण में भी प्राण एवं इन्द्रिय आदि के कारण उपपन्न हो सकती है। कार्य और कारण के रूप से अन्तःकरण का द्वैत मानने से कार्यरूप अन्तःकरण की गति स्वतः ही उपपन्न हो जाती है। कार्यकारणरूप से अन्तःकरण का द्वैतत्व सांख्यदर्शन को भी अभीष्ट है। यदि (अन्तःकरण को) केवल कार्य ही माना जाए, जो "धर्म, अधर्म आदि भाव अन्तःकरण के धर्म है", इस सांख्यसूत्र की सङ्गति नहीं हो पाएगी, और यदि (अन्तःकरण को) केवल नित्य कारण मान लिया जाए, तो महदादि कार्य की

उत्पत्ति बताने वाले सूत्र असङ्गत हो जाएँगे। जो यह कहा गया है कि चैतन्य के आवरण की ही कल्पना उचित है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्य के कूटस्थ होने के कारण उसका ज्ञान के प्रतिबन्ध रूप आवरण की कल्पना असम्भव है। और चैतन्य का विषय के साथ जो सम्बन्ध को ही प्रतिबिम्ब आदि रूपों में प्रतिबन्धक के रूप में कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार मान लेने से आत्मदर्शन की अनुपपत्ति हो जाएगी, तथा करणद्वार के बिना अपने में प्रतिबिम्बरूप से अपना ही सम्बन्ध का सम्भव नहीं हो पाता है। और भी इच्छा, कृति आदि के आधार रूप से अन्तःकरण की सिद्धि हो जाने पर, स्वप्न आदि में (अन्तःकरण के) भीतर दिखाई देने वाले घट आदि भी उसी के परिणाम के रूप से कल्पना हो जाएगी, क्योंकि कार्य और कारण के समान अधिकता की कल्पना में औचित्य ही है। वे ही घट आदि आकार में परिणत रूप चैतन्य में भासित होता है, उससे भिन्नरूप से ही बाह्य घट आदि प्रतिभासित होते हैं। इसलिए तत्सदृश परिणाम का प्रतिबन्धक ही आवरण होता है, जिसके करणनिष्ठ होने का अनुमान किया जाता है। आत्मा का आवरण से रहित होना श्रुति और स्मृति से सिद्ध होता है। (मन के) विभु होने पर भी (उसकी कार्यरूपता की सिद्धि) नहीं होती (इस प्रकार भी नहीं कह सकते), क्योंकि कारणरूप आकाश से कार्याकाश रूप परिच्छिन्न परिणाम (उत्पन्न होने) के सदृश गुणान्तर के भेद द्वारा कारणरूप अन्तःकरण (मन) से भी परिच्छिन्न अन्तःकरणरूप परिणाम की उपपत्ति होती है। और यह श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणों से अभीष्ट भी है।

रजनी

यह पहले भी कहा गया है कि मन समस्त अर्थों के ग्रहण में समर्थ तथा व्यापक है। और योग दर्शन में यह अन्तःकरण के रूप से स्वीकृत है। अदृष्ट आदि को प्रकृति के धर्म के रूप से स्वीकार न कर सकते। क्योंकि ऐसा करने पर एक पुरुष निष्ठ अदृष्ट आदि से किसी अन्य पुरुष में सुख, दुःख आदि की सिद्धि हो जाएगी। इसके अन्तःकरण रूप होने से अणुपरिमाण वाला भी नहीं हो सकता है। क्योंकि योगियों के सर्वावच्छेद से एक ही काल में योगज प्रत्यक्ष के कारण समस्त प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं। और सामान्य (योगी से भिन्न) प्राणी का भी दीर्घशष्कुली

के भक्षण में ही अनेक इन्द्रियों की वृत्तियों का अनुभव हो जाता है। यहाँ पर केवल योगज धर्म प्रत्यासंत्ति को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि संयोगादि लौकिक सन्निकर्ष यहाँ पर उपस्थित है। यहाँ पर योगज धर्म की प्रत्यासत्ति मात्र के ग्रहण में गौरव दोष की आपत्ति हो जाएगी। जैसे नैयायिकों ने छह प्रकार के लौकिक सन्निकर्ष को माना है। क्योंकि उनके मत में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतुभूत सन्निकर्ष छह प्रकार से कहे गये हैं। जैसे :– संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेष्यविशेषणभाव।

1. संयोगसन्निकर्ष

चक्षुरिन्द्रिय के घट द्रव्य के सन्निकर्ष को संयोग सन्निकर्ष कहते हैं। और इससे अयं घटः यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है।

2. संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष

पूर्वोक्त घट में अवस्थित घटरूप के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष कारण है। क्योंकि घटरूप गुण है और वह गुणी घट में समवाय सम्बन्ध से रहता है। गुण और गुणी – इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही है। अतः चक्षु संयुक्त घट में घटरूप समवाय सम्बन्ध से रहने से घटरूप प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष कारण है। इससे इदं घटरूपं (शुक्लादिकं) – यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है।

3. संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष

रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण है। जैसे रूपत्व जाति रूपी द्रव्य (व्यक्ति) में समवाय सम्बन्ध से रहता है। क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही है। प्रकृत स्थल में रूपत्व जाति घटरूप द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। घटरूप अपने गुणी द्रव्य घट में भी समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार चक्षु संयुक्त घट में रूप तथा उस रूप में रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष ही कारण है। इससे इदं रूपत्वम् (शुक्लत्वादिकं) – यह उत्पन्न होता है।

4. समवाय सन्निकर्ष

शब्द के प्रत्यक्ष में समवाय सन्निकर्ष कारण है। वह कर्णविवरवर्त्ती

आकाश जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का देश है। उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः इससे अयं शब्दः – यह ज्ञान होता है।

5. समवेतसमवाय सन्निकर्ष

शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण है। जैसे शब्दत्व शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहता है और वह श्रोत्रप्रदेश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण है।

6. विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष

अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष कारण है। जैसे घटाभाववत् भूतलम् – इस उदाहरण में भूतल का प्रत्यक्ष घटाभाव – इस विशेषण से विशेषित होकर भासित हो रहा है।

इस प्रकार इन छह प्रकार के सन्निकर्षों के रहने पर केवल योगज धर्म प्रत्यासत्ति को ग्रहण नहीं कर सकते।

(काल की व्यवस्था)

मनोवैभवं व्यवस्थापितम्। क्षणरूपः कालो व्यवस्थाप्यते तत्र न्यायवैशेषिकाभ्यां मन्यते – आत्मवदखण्डो नित्य एकः कालोऽस्ति, लाघवात्स एव तदुपाध्यवच्छिन्नः सन्क्षणमुहूर्त्ताहोरात्रमाससंवत्सरादि–व्यवहारं कुरुते, न पुनः क्षणनामा पृथकपदार्थोऽस्तीति। सांख्यैस्तु "दिक्कालावाकाशादिभ्यः" इति सूत्रान् महाकालो वा क्षणादि–महाकालान्तव्यवहारं कुरुत इति मन्यते। तदेतन्मतद्वयमप्यसम}ह्यसम्, स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासम्भवात्। तथा हि – उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नपरमाण्वादिक्रियाऽन्यद्वैतादृशं किर्ड़ह्यन्महाकाला–काशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते। तत्रोक्त–संयोगविशिष्टक्रियादिकं चेद्विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपि परैः स्थिरत्वाभ्युपगमान्न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति। यदि च तत्तेभ्योतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञामात्रम्। तदेव चास्माभिः सवेऽभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तं क्षणाख्यः काल इष्यते। न तु तन्महाकाल आकाशं वा, तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यवहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। स च विशिष्टादिर–स्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषाति–रिक्तत्वापत्तिः। तस्यैव च क्षणस्यावयवविशेषैर्मुहूर्त्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्त–व्यवहारो भवति, न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति प्रमाणाभावात्। इदानीमद्येत्यादि–

व्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः। कालनित्यताश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति। तस्मादावश्यकत्वात्क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालोऽस्ति, नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति सिद्रम्।

एवमन्येऽप्यस्मच्छास्त्रसिद्धान्ताः सांख्यादिप्रतिषिद्धाः सुबुद्धि- भिरुपपादनीया इति दिक्।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे कैवल्यादिनिरुपणं चतुर्थोऽशः।

अनुवाद

(इस प्रकार) मन के विभुत्व की स्थापना कर दी गयी। अब क्षण रूप काल की सिद्धि कर रहे हैं। उसमें न्याय–वैशेषिक दर्शनसम्प्रदाय द्वारा माना जाता है कि–आत्मा की तरह अखण्ड, नित्य तथा एक ही काल है, तथा वह लाघव होने से उसके उपाधि से अवच्छिन्न होते हुए क्षण, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, मास एवं वर्ष आदि व्यवहार करता है, इसलिए क्षण नामक पृथक् पदार्थ कुछ नहीं है। सांख्यदार्शनिकों से – "दिक् और काल आकाश से उत्पन्न होते हैं" – इस (सांख्य)सूत्र के अनुसार महाकाल ही क्षण से लेकर महाकाल तक व्यवहार करता है – यह माना जाता है। (परन्तु) इन दोनों ही मतों में सामञ्जस्य नहीं है, क्योंकि किसी भी स्थिर उपाधि से महाकाल और आकाश – इन दोनों से क्षण आदि व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता है। और फिर उत्तर देश के साथ जो संयोग है, उससे अवच्छिन्न परमाणु आदि की क्रिया अथवा अन्य कोई तत्सदृश किञ्चित् महाकाल और आकाश – इन दोनों के क्षणरूपता की उपाधि (उपाधि रूप होना) नैयायिक आदि से अभीष्ट है। उसमें कहे गये संयोग से विशिष्ट क्रिया आदि यदि विशेष्य, विशेषण तथा उसके सम्बन्धमात्र हो, तो उसकी स्थिरता के अभ्युपगम हो जाने से उनसे क्षण आदि का व्यवहार सम्भव नहीं हो सकेगा। और यदि उसको उससे अतिरिक्त मानेंगे तो उसके विशिष्टसंज्ञामात्र ही है। और वह हमसे (योग दार्शनिकों से) समस्त स्थिर पदार्थों से अतिरिक्त क्षण नामक काल स्वीकार किया जाता है। न तो वह महाकाल अथवा आकाश, क्योंकि उसके द्वारा ही क्षण के व्यवहार ही उपपत्ति होने पर उससे अवच्छिन्न अन्य का क्षण व्यवहार के हेतुत्व की कल्पना व्यर्थ है। और वह विशिष्ट आदि अस्थिर क्षण–प्रकृति

का ही अत्यन्त भङ्गुर परिणाम विशेष है – इसलिए प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्तत्व की आपत्ति नहीं होती है। और उस क्षण का ही अवयवविशेषों से मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि आदि से लेकर द्विपरार्ध तक काल का व्यवहार होता है, न कि अखण्ड महाकाल है, क्योंकि (इसमें) प्रमाण का अभाव है। आज (कल आदि) व्यवहारों की क्षणों के समूह से ही उपपत्ति हो जाती है। काल की नित्यता को प्रतिपादन करने वाली श्रुति तथा स्मृति (वाक्य) आदि तो प्रवाह की नित्यता परक है। इसलिए आवश्यक होने से काल क्षणात्मक ही है, न कि कोई अखण्ड महाकाल, न कि कोई आकाश काल व्यवहार का हेतु है – यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार हमारे (योगदार्शनिकों के) शास्त्रीय सिद्धान्तों को भी जो कि सांख्य आदि (अन्य) शास्त्रों में प्रतिषिद्ध है, उनको उत्तम बुद्धि वालों के द्वारा उपपादन कर लेना चाहिए।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में कैवल्यादि के निरुपण रूप चतुर्थ अंश समाप्त हुआ।

रजनी

योग दार्शनिक क्षण रूप काल की सिद्धि करते हैं। परन्तु न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य आदि दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं। इनमें से न्याय–वैशेषिक आदि दार्शनिक कहते हैं कि क्षण रूप काल की सत्ता के स्वीकार में आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह काल आत्मा की तरह अखण्ड, नित्य तथा एक है। इसकी उपाधि से अवच्छिन्न होकर मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि तथा वर्ष आदि का व्यवहार होता है। सांख्य दार्शनिक भी इसी प्रकार ही स्वीकार करते हैं। सांख्यसूत्र में कपिल ने कहा है कि :–

"दिक्कालावाकाशादिभ्यः।" (सां0सू0, 2/12)

अर्थात् दिक् और काल आकाश के प्रकृतिभूत है अर्थात् प्रकृति के विशेष गुण ही है। इससे दिक् और काल का विभुत्व सिद्ध होता है। जो अवच्छिन्न खण्ड दिशा और काल हैं वे उपाधियों के संयोग से आकाश से उत्पन्न होते हैं। यह श्रोत्र की कार्यता की भाँति उन दिशा और काल का कार्य होना यहाँ स्वीकृत है। परन्तु ये दोनों ही मत समीचीन प्रतीत नहीं होते हैं। क्योंकि किसी भी स्थिर उपाधि से महाकाल और आकाश – इन दोनों से क्षण आदि व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता है। और न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार उत्तर देश के साथ जो संयोग है,

उससे अवच्छिन्न परमाणु आदि की क्रिया अथवा अन्य कोई तत्सदृश किञ्चित् महाकाल और आकाश – इन दोनों के क्षणरूपता की उपाधिरूपता है। वहाँ पर कही गयी संयोगविशिष्ट क्रिया आदि यदि विशेष्य, विशेषण तथा उसके सम्बन्ध मात्र हो, तो उसकी स्थिरता का अभ्युपगम हो जाने से उनसे क्षण आदि का व्यवहार सम्भव नहीं हो सकेगा। और यदि उसको उससे अतिरिक्त मानेंगे तो उसके विशिष्ट संज्ञामात्र ही हैं। योगदार्शनिक भी समस्त स्थिरपदार्थों से अतिरिक्त क्षण नामक काल स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा रचित योगसारसंग्रह में कैवल्यादि के निरुपण में चतुर्थ अंश की रजनी हिन्दी विशद व्याख्या समाप्त हुयी।

हरिः ॐ

अदथ पातञ्जह्यलसूत्रपाठः प्रारभ्यते

समाधि पाद

1. अथ योगानुशासनम्।
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
3. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
4. वृत्तिसारूप्यमितरत्र।
5. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।
6. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।
7. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।
8. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।
9. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।
10. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।
11. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।
12. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
13. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।
14. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।
15. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
16. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
17. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।
18. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।
19. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।
20. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

21. तीव्रसम्वेगानामासन्नः।

22. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

23. ईश्वरप्रणिधानाच्च।

24. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

25. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

26. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

27. तस्य वाचकः प्रणवः।

28. तज्जपस्तदर्थभावनम्।

29. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

30. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध–भूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

31. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

32. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

33. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

34. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

35. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

36. विशोका वा ज्योतिष्मती।

37. वीतरागविषयं वा चित्तम्।

38. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।

39. यथाऽभिमतध्यानाद्वा।

40. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

41. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

42. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

43. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

44. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।

45. सूक्ष्मविष्यत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।

46. ता एव सबीजः समाधिः।

47. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

48. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

49. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया तिशेषार्थत्वात्।

50. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

51. तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

साधन पाद

1. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

2. समाधिभावानार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

3. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

4. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

5. अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

6. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

7. सुखानुशयी रागः।

8. दुःखानुशयी द्वेषः।

9. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढ़ोऽभिनिवेशः।

10. ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

11. ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

12. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

13. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

14. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

15. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

16. हेयं दुःखमनागतम्।

17. द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

18. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

19. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

20. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

21. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

22. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

23. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

24. तस्य हेतुरविद्या।

25. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

26. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

27. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

28. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

29. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

30. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

31. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

32. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

33. वितर्कबाधने प्रतिपक्षबाधनम्।

34. बितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

35. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

36. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

37. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

38. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

39. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

40. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

41. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

42. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।

43. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

44. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

45. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

46. स्थिरसुखमासनम्।

47. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

48. ततो द्वन्द्वानभिघातः।

49. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

50. बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

51. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

52. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

53. धारणासु च योग्यता मनसः।

54. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

55. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

विभूति पाद

1. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

2. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

3. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

4. त्रयमेकत्र संयमः।

5. तज्जयात्प्रज्ञालोकः।

6. तस्य भूमिषु विनियोगः।
7. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।
8. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।
9. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तन्वयो निरोधपरिणामः।
10. तस्य प्रशान्तबाहिता संस्कारात्।
11. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।
12. ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।
13. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।
14. शान्तोदिताऽव्यापदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।
15. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।
16. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।
17. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत–रुतज्ञानम्।
18. संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्।
19. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।
20. न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।
21. कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्।
22. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।
23. मैत्र्यादिषु बलानि।
24. बलेषु हस्तिबलादीनि।
25. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।
26. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।
27. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।

28. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

29. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

30. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।

31. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

32. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।

33. प्रातिभाद्वा सर्वम्।

34. हृदये चित्तसम्वित्।

35. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।

36. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते।

37. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

38. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसम्वेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

39. उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।

40. समानजयाज्ज्वलनम्।

41. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।

42. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।

43. बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

44. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

45. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

46. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।

47. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।

48. ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

49. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

50. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

51. स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

52. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।

53. जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।

54. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवकजं ज्ञानम्।

55. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।

कैवल्यपाद

1. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

2. जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

3. निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।

4. निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

5. प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।

6. तत्र ध्यानजमनाशयम्।

7. कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

8. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।

9. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

10. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।

11. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।

12. अतीतानागतं स्वरूपोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।

13. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।

14. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।

15. वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।

16. न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

17. तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।

18. सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात्।

19. न तत्स्वाभावं दश्श्यत्वात्।

20. एकसमये चोभयानवधारणम्।

21. चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च।

22. चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसम्वेदनम्।

23. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

24. तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

25. विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः।

26. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

27. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।

28. हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

29. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेधः समाधिः।

30. ततः क्लेशकर्मनिवश्त्तिः।

31. तदा सर्वावरणमलापेतस्य चित्तस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

32. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमपरिसमाप्तिर्गुणानाम्।

33. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।

34. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

हरिः ॐ

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अमरकोष, संस्कर्त्ता–म.म. पण्डित शिवदत्तदाभिधः, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली, 2003।

कारिकावली–मुक्तावली, प्रभा–मञ्जूषा–दिनकरी–रामरूद्री–गङ्गारामीति व्याख्यापञ्चक–समन्विता, सम्पा. श्री.सी. शङ्कररामशास्त्री, चौखाम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली, 19

किरणावली, उदयनाचार्यः, सम्पा. हिन्दी–अनुवादकश्चः–श्रीगौरीनाथशास्त्री, सं.सं. वि.वि., वाराणसी 1980

तर्कसङ्ग्रहः, अन्नम्भट्टः, न्यायबोधनी–पदकृत्य–दीपिका–किरणावली–व्याख्योपेतः, व्यासप्रकाशनम्, वाराणसी, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, किरणावलीसहिता, श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी–1,1972

प्रस्थान चतुष्टयी में साङ्ख्यदर्शन, डॉ. महेशचन्द्र शर्मा, सरोज प्रकाशन, मेरठ, 1998।

पातञ्जलयोगसूत्रम्, भोजदेवकृतराजमार्तण्डवृत्तिसमेतम्, सम्पा. श्री रामशङ्करभट्टाचार्यः, भारतीयविद्या प्रकाशनम्, वाराणसी–1, 1963

पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्यसम्बलितं, योगसिद्धिहिन्दीव्याख्या, डॉ. सुरेशचन्द्रश्रीवास्तवः, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी–1, 1993

पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरणम्, शङ्करभगवत्पादप्रणीतम्, Government Oriental Manuscripts Liabrary, Madras, 1952.

पातञ्जल योगदर्शन, हरिहरानन्द आरण्यक, सम्पा. रामशङ्कर भट्टाचार्य, मोलिलात वनारसी दास, वाराणसी।

वाक्यपदीय सम्बन्ध समुद्देश, डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, विश्वेश्वरानन्द विश्ववन्धु संस्कृत भारती शोध संस्थान, पञ्जाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम, होशियारपुर, 1977।

व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल योगसूत्रा का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ.कु. विमला कर्णाटक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध प्रकाशन, वाराणसी, 1974।

भर्तृहरि, प्रो. के.ए.सु. अय्यर, अनु. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1999।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, नारायण तीर्थ।

सांख्यकारिका, युक्तिफदीपिकाविभूषिता, हिन्दीव्याख्या तथा सम्पा. डॉ रामशङ्कर त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1999।

सांख्यतत्त्वकौमुदी, कृष्णासंस्कृतहिन्दी व्याख्यासहिता, श्री ज्वालाप्रसादगौडः, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी–1,1992।

सांख्यतत्वकौमुदी, श्रीवाचस्पतिमिश्रः, तत्वप्रकाशिका हिन्दीव्याख्यासहिता, डॉ. गजाननशास्त्री, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी–1, 1997।

सांख्यदर्शनम्, विज्ञानभिक्षुकृतभाष्यसमेतम्, सम्पा. डॉ. रमाशंङ्करभट्टाचार्यः, भारतीयविद्याप्रकाशनम्, वाराणसी, 1994।

सांख्यदर्शनम्, श्रीविज्ञानभिक्षुविरचितसांख्यप्रवचनभाष्यस्य "प्रदीप" हिन्दी–व्याख्योपेतम्, व्याख्याकारःश्रीगजाननशास्त्रीमुसलगाँवकरः, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी–1,2000।

सांख्यसारः, विज्ञानभिक्षुः, सम्पा. श्री रमाशंङ्करभट्टाचार्यः, भारतीय–विद्याप्रकाशनम्, वाराणसी–1,9978।

साङ्ख्योगदर्शनम्, पातञ्जलरहस्यतत्ववैशारदी–योगवार्त्तिक–भास्वती–व्याख्याचतुष्टयोपेतम्, सम्पा. गोस्वामिदामोदरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी 1,1998।

भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1–5, प्रो. एस.एन. दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकाड़मी, जयपुर, 1989।

सर्वदर्शनसंग्रहः, माधवाचार्य हिन्दीव्याख्या एवं सम्पा. उमाशङ्कर शर्मा ऋषि, चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी – 1,2001।

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग, डॉ. जे.सी. भारतीय, निर्मोहीबन्धु प्रकाशन, सी. 1065, गोदानिकुञ्ज, महानगर, लखनऊ–6, 1995।

पातञ्जल योगप्रदीप, गीताप्रेस, गोरखपुर, स. 2065 ।

योगसूत्रा वृत्ति, भावागणेश, सम्पा. महादेव शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1917 ।

योगाङ्क, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1935।

योगदर्शन में ईश्वर प्रणिधान की व्याख्या, अनुपम सेठ, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली–7, 1994 ।

हठयोग प्रदीपिका, स्वात्माराम योगीन्द्र, कल्याण, बम्बई, शक 1846 ।

हलायुध कोश, सम्पा. जयशङ्कर जोशी, उ.प्र. हिन्दी संस्थानम्, लखनऊ, 1993 ।

A Dictionary of Sanskrit Grammar, Lt. M.N.K.V. Abhyankar and J.M. Shukla, Oriental Institute, Baroda, 1986.

Bhatta Ramakantha's Commentary on the Kiranatantra, Ed. by – Dominic Goodall, Institute Francais De Pondichery, Pondichery.

Indian Philosophy, Vol-I, Jadunath Sinha, New Central Book Agency, C.M. Das lane, Calcutta, 1987.

Indian Philosophy The Path Finder and the System Builder (1700 B.C. to 100 A.D.), Nilima Chakravarthy, MLBD, 1992.

Samkhyasara of Vijnanabhikshu, Dr. Shiv Kumar, Eastern Book Linkers, Delhi, 1998.

The Commentaries of the Samkhya Karika - A Study, Esther A. Solomon, Gujurat University, Ahmedabad-9, 1974.

The Complete Commentary by Samkara on the Yoga-sutra, Eng. Trans. by Trevor Leggett, Keyan Paul International Ltd., P.O. 256, London, WCB 3SW, England, 1990.

The Integrity of the Yoga Darshan – A reconsideration of classical yoga, Ian Whicher, State University of New York Press, 1988.

The Parakhyatantra, A Scripture of the Saiva Siddhanta, Ed. By – Dominic Goodall, Institute Francais De Pondichery, Pondichery.

The Samkhya-Sutra of Pancasikha and The Samkhyatattavaloka, Jajneswar Ghosh, MLBD, Delhi, 1977.

The Science of Yoga, I.K. Taimni, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras-20, 1965.

The Yoga of the Malinivijayottaratantra, Ed. By – Somadeva Vasudeva, institute Francais De Pondichery, Pondichery.

Indian Philosophy – Its exposition in the light of Vijnanbhiksu's Bhasya and Yoga Varttika. A Modern approach, Narayan Kumar Chattopadhyaya, Sanskrit Pustak Bhandar, 38, Bidahan Sarani, Calcutta-6, 1979.

Yoga Maniprabha of Ramananda Saraswati, Nag Publications, Ed. Dr. Bala Krishnan.

Yogasara Samgraha of Vijnanabhiksu, Eng. trans. and Ed. by Dr. Ganga Natha Jah, Parimal Publication, Delhi, 1995.

Yoga Varttika of Vijnanabhiksu, Vol. 1-4, T.S. Rukmani, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 1983.